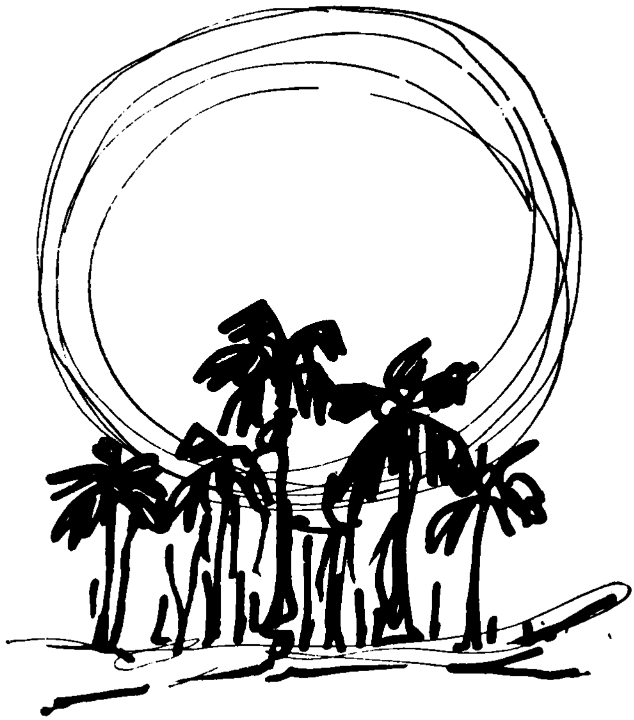
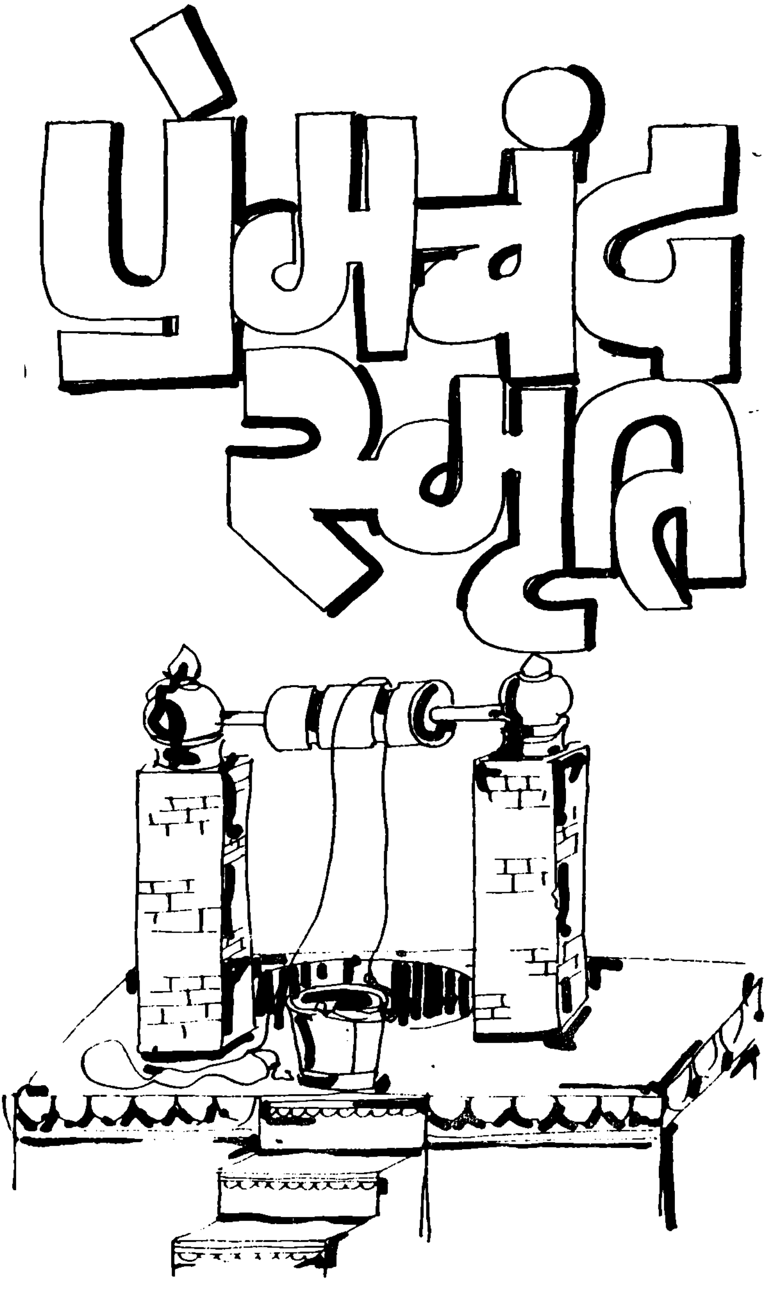




प्रकाशक □ हंस प्रकाशन, इलाहाबाद
मुद्रक □ भार्गव मुद्रण केन्द्र, इलाहाबाद
नवीन संस्करण □ मई, १९८२
मूल्य □ बत्तीस रुपये



अनुक्रम

●

শ্রীমতীর স্মৃতি

१ | अशफ़ाक़ हुसैन

हिन्दुस्तानी भाषा और साहित्य के इतिहास में प्रेमचन्द के लिए मुनासिब और मौजूं जगह मुकर्रर करना शायद अभी ठीक न होगा, क्योंकि अभी उसका मौका नहीं आया है। आज-कल के ज़माने पर उनका जो असर पड़ा है उसका इस वक़्त अन्दाज़ा करना तो शायद और भी ज़्यादा मुश्किल है। न तो मैं साहित्य के बारे में ही और न उसकी आलोचना के बारे में ही कोई ख़ास लियाकत रखता हूँ। तो भी मौके-मौके पर प्रेमचन्द जी के साथ जो मेरी मुलाकात होती रही है, उसका मेरे दिल पर जो असर पड़ा है, अगर उसका मैं यहाँ थोड़ा सा ज़िक्र कर दूँ तो मुमकिन है कि उसकी कुछ क़द्र हो सके या वह लोगों को दिलचस्प मालूम हो।

करीब करीब पूरे सात बरस हुए, एक बार यों ही सरसरी तौर पर प्रेमचन्द जी के साथ मेरी मुलाकात करायी गयी थी। वह मुलाकात सचमुच इतने सरसरी तौर पर हुई थी कि जिस समय मैंने सुना कि ये प्रेमचन्द जी हैं, तब मुझे इस बात का भी ख़याल न हुआ कि ये वही प्रेमचन्द जी हैं जिनकी लिखी हुई 'चौगाने-हस्ती' है। उससे करीब एक ही साल पहले मेरे साहित्य-सेवी दोस्तों में प्रेमचन्द जी की लिखी 'चौगाने हस्ती' नामक उर्दू पुस्तक के सम्बन्ध में बहुत काफ़ी और बहुत बड़ा बहस-मुबाहसा हो चुका था। मुझे प्रेमचन्द जी बहुत ही लज्जाशील मालूम हुए और उनमें कोई ख़ास ऐसी बात न मालूम हुई जो किसी का दिल अपनी तरफ़ ख़ींच सकती। उनका रंग जर्द था, बड़ी-बड़ी मूछें थीं, कमज़ोर आँखें थीं और करीब करीब बिल्कुल सूखा हुआ चेहरा था। अपने दुबले-पतले जिस्म पर वह खद्दर का कुरता और धोती पहने हुए थे। सिर पर खद्दर की टोपी और पैरों में चप्पल थी। बस इसके सिवा और कुछ भी नहीं। लेकिन ग़ौर से देखने पर मालूम होता था कि उनकी आँखों में झलकनेवाली कमज़ोरी सिर्फ़ ऊपरी और देखने की ही थी; और जब वे बातें करते थे, तब उन आँखों में एक ऐसी ख़ास चमक दिखायी देती थी जिससे जाहिर होता था कि वह बहुत समझदार हैं और अपने इरादे के और ख़या-

लात के बहुत पक्के हैं। उनकी ये सब खूबियाँ पहले-पहल देखने पर इसलिए ज़ाहिर नहीं होती थीं कि वह उनकी लज्जाशीलता के परदे में छिपी होती थीं। लेकिन फिर भी मुझे दरअसल यह न मालूम हो सका कि ये कौन शख़्स हैं, क्योंकि वह बहुत कम बातें करते थे और उनकी बातों से उनके बारे में कुछ भी पता नहीं चलता। एक तो वह बातें ही बहुत कम करते थे, और दूसरे जब वह बोलते थे, तब उनकी बातों से न तो कोई ख़ास लियाक़त ही ज़ाहिर होती थी और न उनमें कोई ख़ास दिलचस्पी ही थी। हाँ उनकी आँखों में ज़रूर कुछ ख़ास बात थी। और नहीं तो इसके अलावा उनकी शक्ल से किसी के दिल पर कोई ख़ास असर नहीं पैदा होता था।

लेकिन ख़ुशक़िस्मती से कुछ ऐसी हालतें पैदा हो गयीं जिनकी वजह से उस वक़्त हम लोगों में बहुत काफ़ी रब्त-जब्त पैदा हो गयी। अगर यह बात न होती तो मैं बहुत सी ऐसी यादगारों से महरूम रह जाता जिन्हें मैं अब सबसे ज़्यादा कीमती समझता हूँ। मुमकिन है कि किसी वजह से और लोगों को इसका बिल्कुल उलटा तजुरबा हुआ हो। लेकिन इतना ज़रूर जानता हूँ कि जब धीरे-धीरे मुझे यह जानने का अवसर मिला कि इस परदे के अन्दर क्या है, तब मैंने देखा कि ऊपर से देखने में प्रेमचन्द जी जो कुछ मालूम होते थे उससे वह बिल्कुल अलग शख़्स थे। असल में मामूली पत्थर के अन्दर एक ऐसा जवाहिर छिपा हुआ था जो बहुत कम देखने में आता है।

मैं पहले ही कह चुका हूँ कि वह कोई बहुत ज़्यादा बातें करनेवाले आदमी नहीं थे। लेकिन जब एक बार वह खुले दिल से बातें करते थे, तब वह सिर्फ़ बहुत ज़्यादा बातें ही नहीं करते थे, बल्कि बहुत बढ़िया बातें भी करते थे; और इससे भी बढ़कर बात यह है कि मालूम होता था कि उन्हें बातचीत करने में बहुत ज़्यादा मज़ा आता है। मुझे ख़ास तौर पर दो मौक़े याद हैं। एक बार वह दिल्ली के सन् १९३४ वाले हिन्दी साहित्य-सम्मेलन के जलसे से लौटकर आये थे और वहाँ का सब हाल सुना रहे थे। उन्होंने जो कुछ वर्णन किया था, वह इतना अच्छा था कि आज तक मैंने किसी जलसे का उतना अच्छा वर्णन कभी सुना ही नहीं। उनके उस ज़िक्र में हमदर्दी भी थी और जोश भी था। जलसे की सभी बातों का उन्होंने ज़िक्र किया था और साथ-ही-साथ उसमें सब बातों की आलोचना भी होती चलती थी। और सबसे बड़ी बात यह थी कि उनकी सभी बातों में एक बहुत बढ़िया और दिल में जगह करने वाला मज़ाक भी रहता था। ख़ासकर कवि सम्मेलन का उन्होंने जो हाल बतलाया था, उसमें तो बातों के अन्दर बहुत ही उम्दा मज़ाक भरा हुआ था। दूसरा मौक़ा वह था जब कि मेरे एक दोस्त ने उनकी ख़ातिर कुछ लोगों की दावत की थी और उन्हें अपने यहाँ खाने के लिए बुलाया था। मेरे उन दोस्त के घर के लोगों के ख़याल ज़माने की हालत देखते हुए काफ़ी आगे बढ़े हुए थे, जिसका उन पर अच्छा असर पड़ा था। लेकिन मालूम होता था कि उन पर सबसे ज़्यादा असर इस बात का पड़ा

था कि उनका मकान देखने में बहुत शानदार और बिल्कुल नये फ़ैशन का था। गम्भीर विषयों की बातें करना छोड़कर प्रेमचन्द जी बराबर बहुत-सी ऊपरी और फालतू बातों के बारे में ही बहुत कुछ कहते रहे। कहते थे कि मज़हब या धर्म को हम लोगों ने किस तरह मज़ाक बना रखा है, और इसके उदाहरण में वह यह भी बतलाते थे कि नाथद्वारे में और भिन्न-भिन्न दूसरे धर्मों के इसी प्रकार के मन्दिरों में ये-ये रस्में हैं, जिन्हें देखकर हँसी आती है; और इसी तरह की और भी बातें करते थे। लेकिन जब तक सब लोग खाना खाते रहे, तब तक अकेले प्रेमचन्द जी ही बातें करते रहे और सभी लोगों को बराबर खुश रखते और हँसाते रहे। मैं यह तो नहीं कह सकता कि मेहमानदारी का बदला वह इसी तरह चुकाना जानते थे, लेकिन फिर भी मैं बराबर बहुत ही तअज्जुब से उनकी तरफ़ देखता रहा। क्योंकि सोचता था कि क्या ये वही शख़्स हैं जो पहली बार मुलाक़ात होने पर दो वाक्य भी नहीं कह सकते थे और अब ये ऐसी-ऐसी अच्छी बातें कर रहे हैं कि मानो बातचीत करने की विद्या में पारङ्गत ही हैं। इससे पहले मैंने उन्हें केवल साहित्य, राजनीति और अर्थशास्त्र के गम्भीर विषयों पर ही बातें करते हुए सुना था और इसलिए आज उन्हें इस तरह की मजेदार बातें करते हुए देखकर मुझे बहुत ही ज्यादा ताज्जुब हो रहा था। मेरे लिए वह बिल्कुल एक नया तजुरबा था।

इस प्रकार मुझे प्रेमचन्द जी के जीवन का वह दूसरा अंग दिखायी दिया जिससे पता चलता था कि सचमुच वह बहुत ही ऊँचे ख़याल रखते हैं और बहुत-सी बातों के बहुत अच्छे जानकार हैं। मामूली तौर पर उनके बारे में लोग यही जानते हैं कि वह छोटी-छोटी कहानियाँ और उपन्यास लिखते थे, और शायद कुछ लोग यह भी जानते होंगे कि राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ वह यथेष्ट परन्तु अस्पष्ट सहानुभूति रखते थे। लेकिन ज्यादा जान-पहचान और रब्त-जब्त होने पर पता चलता था कि वह राजनीति और अर्थशास्त्र का भी बहुत अच्छा और राग-विराग आदि से रहित ज्ञान रखते थे। मामूली तौर पर उनकी कहानियाँ और उपन्यास पढ़ने वाले उनकी इन बातों की जानकारी के सम्बन्ध में जो कुछ समझते थे, उससे कहीं अधिक और विस्तृत अध्ययन उन्होंने इन सब विषयों का किया था।

प्रेमचन्द जी साम्यवादी तो थे, परन्तु उस तरह के कट्टर और उग्र साम्यवादी नहीं थे जो सारी वर्त्तमान सामाजिक व्यवस्था का एक सिरे से नाश करके उसकी जगह [illegible] ही चरम सीमा का साम्यवाद स्थापित करना चाहते हैं। हाँ वह भावतः साम्यवादी थे और साम्यवाद की बहुत-सी बातों को अच्छा समझते थे। 'दीन-दुखियों और [illegible] के साथ उनको हमेशा बहुत काफ़ी हमदर्दी रहती थी; और साथ ही इसलिए [illegible] उन्हें बहुत ही समझदार साम्यवादी कह सकते हैं कि वह यह नहीं मानते थे कि साम्यवाद में जितनी बातें हैं, वह सब सिर्फ अच्छी ही अच्छी हैं और उसमें कुछ भी [illegible] का दोष नहीं है; और न यही समझते थे कि साम्यवाद का प्रचार होते ही समाज

के लिए बहिश्त का दरवाज़ा खुल जायगा। लेकिन हाँ वह इतना ज़रूर समझते थे कि आज-कल समाज जिस बहुत बुरी हालत को पहुँच गया है, उसे देखते हुए अगर साम्य-वाद का कोई बिगड़ा हुआ रूप भी चल पड़े तो उससे भी लोगों का बहुत कुछ फ़ायदा हो जायगा। और साथ ही वह यह भी समझते थे कि साम्यवाद का प्रचार बिना हुए रह ही नहीं सकता — उसका प्रचार लाज़िमी है। उनका ख़याल था कि हमारे मुल्क के ज़मींदार और पूंजीदार अपनी ताक़त के झूठे ख़याल और बहुत ज़्यादा लालच की वजह से बिल्कुल अन्धे हो रहे हैं और इसीलिए किसी न किसी तरह का साम्यवाद ज़रूर ही यहाँ बहुत ज़ोर पकड़ेगा। ख़ुद साम्यवाद में तो इतनी बड़ी कोई ख़ूबी नहीं है कि वह लोगों के दिल पर उतना ज़्यादा असर कर सके, लेकिन हमारे मुल्क की हालत इतनी ज़्यादा ख़राब है कि यहाँ के लोगों के दिलों पर उसका ज़रूर असर पड़ेगा, और अगर वह यहाँ चला तो ज़ोर भी काफ़ी पकड़ेगा। साथ ही उनका यह भी ख़याल था कि जिस समय यहाँ साम्यवादी क्रान्ति होगी, उस समय फ़ज़ूल ही बहुत ज़्यादा ख़ून-ख़राबी होगी और लोगों के लिए वह बहुत मँहगी पड़ेगी। यों तो प्रेमचन्द जी हमेशा बहुत ही ख़ुश रहा करते थे और कभी रंजीदा होना जानते ही नहीं थे। लेकिन सिर्फ़ एक मौक़ा ऐसा होता था जब कि उनका दिल बहुत ही दुःखी होता था। जब वह अपने मुल्क की माली हालत का ख़याल करते थे और यह सोचते थे कि इसका अन्त क्या और कैसा होगा, तब उनकी सारी ख़ुशी जाती रहती थी और वह बहुत ज़्यादा रंजीदा होते थे। इसके सिवा और कभी किसी मौके पर मैंने उन्हें रंजीदा या ग़मगीन नहीं देखा। लेकिन उस हालत में भी उन्हें उम्मीद की एक झलक दिखायी देती थी — आशा की एक किरण उनकी आँखों के सामने रहती थी। वह समझते थे कि क्रान्ति तो होगी, और ज़रूर होगी, लेकिन कांग्रेस अपना एक ख़ास काम यह समझ लेगी कि समाज की आर्थिक अवस्था में पूरा-पूरा सुधार करना चाहिए और साम्यवाद की एक समझदारी की योजना अपने सामने रखकर उसके अनुसार काम करेगी, तो सारा काम बहुत आसानी से हो जायगा। उन्होंने जो आशा आज से छः बरस पहले प्रकट की थी वह आज पूरी होती हुई दिखायी देती है। भिन्न-भिन्न प्रान्तों में इस समय जो अस्थायी मन्त्रिमंडल स्थापित हुए हैं, उन्होंने अपने जो कार्यक्रम और जो योजनाएँ बतलाई हैं, अथवा कम से कम जो कुछ करने का वादा किया है, उसे देखते हुए हम कह सकते हैं कि देश की आर्थिक अवस्था के सुधार की बहुत कुछ नींव पड़ सकेगी।

लेकिन सबसे बढ़कर बात यह है कि प्रेमचन्द जी देश-भक्त थे। वह सामाजिक और धार्मिक झगड़े-बखेड़ों और विभागों आदि से सदा बिल्कुल अलग रहते थे और आदि से अन्त तक भारतवासी ही भारतवासी थे। वह अपने आपको किसी एक धर्म, समाज या फ़िरक़े का आदमी नहीं समझते थे, बल्कि सिर्फ़ एक हिन्दुस्तानी समझते थे। कभी कभी कुछ लोग यह कहा करते थे कि प्रेमचन्द जी हिन्दुओं के पक्षपाती थे। लेकिन उनके ऐसे आलोचकों की इस तरह की बातों से यही पता चलता है कि उन

आलोचकों के मन पर धार्मिक और सामाजिक झगड़ों के ज़हर ने कितना ज़्यादा असर डाला है। उनके एक आलोचक तो इतने बड़े नासमझ थे कि उन्होंने प्रेमचन्द जी के धार्मिक पक्षपात का सबूत देने के लिए 'चौगाने-हस्ती' के ताहिरअली के चरित्र की कुछ बातें उद्धृत कर दी थीं। उनका कहना था कि प्रेमचन्द जी को कोई हिन्दू पात्र नहीं मिल सकता था जिस पर वह ग़बन का इलज़ाम लगाते? लेकिन मैं तो समझता हूँ कि यह सवाल ही अपना सबसे अच्छा जवाब है— जवाब ख़ुद सवाल में ही निकल आता है। यह तो एक मामूली सी बात है कि उनके इस तरह के आलोचकों ने ताहिरअली का सीधा-सादा चरित्र ही पूरी तरह से नहीं समझा था और वह यह बात भूल गये थे कि उनके 'गोशए आफ़ियत' नामक उपन्यास में सबसे अधिक सुन्दर चरित्र क़ादिर बाबा का ही अंकित किया गया है। लेकिन अगर इन सब बातों को ताक़ पर रख दिया जाय, तो भी इस बात में कोई शक नहीं रह जाता कि जब प्रेमचन्द जी अपनी किसी कहानी या उपन्यास में अपने किसी पात्र का चरित्र अंकित करने लगते थे तब वह इस बात का कभी ज़रा भी ख़याल नहीं करते थे कि वह पात्र हिन्दू है या मुसलमान है या कनफ़ूची के धर्म को माननेवाला है। उनमें इस तरह के धार्मिक पक्षपात का कोई भाव बिल्कुल था ही नहीं। धार्मिक झगड़ों के सम्बन्ध में उनके ख़याल बहुत ही समझदारी के थे और बहुत ही अच्छे थे। वह इस प्रकार के प्रश्नों की उपेक्षा करते थे। और मुनासिब यही था कि इस तरह के झगड़े की बातों में उनका नाम ही न लिया जाय।

इस मौक़े पर मुझे एक और बात का ज़िक्र कर देना भी ज़रूरी मालूम होता है। वह हिन्दी साहित्य-परिषद् (सम्मेलन ?) में शामिल हुए थे और इसीलिए कुछ मुसलमानों ने उनकी बहुत कुछ कड़ी आलोचना की थी। अलीगढ़ से 'सुहैल' नाम का एक उर्दू अख़बार निकलता है। उसमें छपने के लिए प्रेमचन्द जी ने अपनी दो रचनाएँ भेजी थीं, जिनमें से एक तो हिन्दी में थी और दूसरी उर्दू में। इसके लिए एक साहब ने प्रेमचन्द जी के बारे में बहुत-सी उल्टी-सीधी बातें लिख डाली थीं। उनकी हिन्दी वाली रचना में तो संस्कृत के कई शब्द थे और उर्दू वाली रचना में उससे भी अधिक फ़ारसी के शब्द थे। उसकी आलोचना जिस तरह के लोगों को करनी चाहिए थी, उसी तरह के लोगों ने की थी और कहा था कि प्रेमचन्द जी दो-रुखी चालें चलते हैं, दोनों तरफ़ मिले रहना चाहते हैं और दोनों तरफ़ से अच्छे बने रहना चाहते हैं। उनकी इस तरह की आलोचना सुनकर मुझे किस क़दर रंज हुआ था। इसका जवाब बिल्कुल सीधा-सादा और साफ़ है। प्रेमचन्द जी ने अपनी वह दोनों रचनाएँ दो अलग-अलग तरह के लोगों के लिए लिखी थीं और इसीलिए उन्होंने अलग-अलग प्रकार की भाषा का प्रयोग किया था। मैं यह मानता हूँ कि अगर वह चाहते तो दोनों ही मौक़ों पर सीधी-सादी भाषा लिख सकते थे। लेकिन प्रेमचन्द जी यद्यपि कभी अपने मार्ग से विचलित नहीं हुए — उन्होंने कभी अपना अख़्तियार किया हुआ रास्ता नहीं छोड़ा, लेकिन फिर भी वह कभी ऐसे तरीक़े काम में नहीं लाते थे जिससे किसी का दिल दुखे।

यह उनका स्वभाव था — उनकी आदत थी। अगर सच पूछिए तो वह दिल से यह चाहते थे कि एक ऐसी हिन्दुस्तानी भाषा बने जिसे सब लोग आम तौर पर समझ सकें, और यह बात उनके दिल को जितनी लगी हुई थी उतनी शायद ही कोई और बात लगी हो। उन्होंने चार बरस पहले इस बारे में मुझसे बहुत-सी बातें की थीं। इस बारे में देश के बहुत से लोग अपने मन में कुछ-न-कुछ सोच समझ रहे हैं और उन्हीं लोगों की तरह मैं भी इस मामले पर ग़ौर करता रहा हूँ, और इसीलिए मैंने प्रेमचन्द जी से कहा था कि इस सम्बन्ध में सबसे पहला काम यह होना चाहिए कि एक ऐसी सभा क़ायम की जाय जो एक ऐसी भाषा चलाने की कोशिश करे जिसे सब लोग आम तौर पर समझ सकें। उन्होंने काफ़ी जोश के साथ मेरे इस ख़याल के मुताबिक काम करना मंजूर कर लिया था और हम लोगों ने इस बारे में बहुत काफ़ी बहस की थी। उनका क़ायदा था कि वह हर मामले में बहुत ही ठंढे दिल से और सब तरह का पक्षपात छोड़कर विचार करते थे और इसी तरह उन्होंने इस बारे में भी विचार किया था, और इसीलिए हम लोगों ने आपस में यह तै किया था कि इस तजवीज के मुताबिक उसी हालत में काम शुरू किया जाना चाहिए जिस हालत में देश के बहुत से लोग इसे मंजूर कर लें, और ख़ासकर वह लोग मंजूर कर लें जिन्हें आगे चल कर इस बारे में काम करना है। जब वह बम्बई पहुँचे तब वह श्री कन्हैयालाल मुंशी तथा उन्हीं की तरह के कई ऐसे आदमियों से मिले जो पहले से इस सवाल पर ग़ौर कर रहे थे। यह बात दूसरी है कि वह लोग कुछ और ही तरीकों से यह सवाल हल करना चाहते थे। उन्होंने मुझे लिखा कि तुम अपनी तजवीज़ का एक मसौदा बना कर भेज दो। लेकिन उन्होंने देखा कि उस वक़्त लोगों के दिलों पर हिन्दी साहित्य-परिषद् का सिक्का अच्छी तरह जमा हुआ था; और हाल में अगर उसी के मुक़ाबले में एक नयी तजवीज़ लोगों के सामने पेश की जाती तो उससे शायद और तो कोई मतलब न निकलता हाँ यही नतीजा होता कि लोग दो हिस्सों में बट जाते। इसलिए उन्होंने यही तै किया था कि हम हिन्दी साहित्य-परिषद् के साथ ही मिलकर काम करेंगे और वहीं से अपना यह उद्देश्य भी सिद्ध करने का प्रयत्न करेंगे। परमात्मा ने अब उन्हें हम लोगों में से हटा ही लिया है, इसलिए अब तो सिर्फ़ अन्दाज़ से ही यह कहा जा सकता है कि इस बारे में उन्हें कहाँ तक सफलता होती और कहाँ तक न होती।

प्रेमचन्द जी के मरने से मुझे बहुत रंज हुआ और मैं समझता हूँ कि मेरा एक ज़ाती नुक़सान हुआ। लेकिन अपने उस ज़ाती नुक़सान की वजह से मुझे जो कुछ रंज हुआ था वह उस बहुत बड़े रंज के सामने बिल्कुल दब गया जो इस बात का ख़याल करके होता है कि उनके न रहने से हमारे राष्ट्रीय जीवन में एक बहुत बड़ी कमी हो गयी है — एक बहुत बड़ी जगह ख़ाली हो गयी है, अब इतिहास ही प्रेमचन्द जी के बारे में जैसा उचित समझेगा, वैसा निर्णय करेगा। लेकिन खुद मुझे तो इस बात में ज़रा भी शक नहीं है कि प्रेमचन्द जी के न रह जाने की वजह से सारे हिन्दुस्तान का बहुत

बड़ा नुक़सान हुआ है। उनमें ऐसी खूबियाँ थीं जो बहुत ही कम आदमियों में होती हैं। साथ ही साथ उनमें वह सब गुण भी थे जो एक सच्चे कलाकार में उच्च कोटि का रचनात्मक कार्य करने के लिए होते हैं ; और ऊँचे दरजे के देश-हितैषी में जो नितान्त निस्वार्थ भक्ति और निष्ठा होती है, वह भी उनमें पूरी तरह से मौजूद थी।

•

ज़ाकिर हुसैन

२ | अहमद अली

छः बरस पहले की बात है। सन् १९३१ में मैंने अपनी कालिज की पढ़ाई ख़तम की थी और यूनिवर्सिटी में पढ़ना शुरू किया था। मैं एक ऐसे सज्जन को जानता था जिन्हें हम लोग मास्टर साहब कहते थे। वे किसी स्कूल में पढ़ाते थे। वे पहले मेरे कुछ दोस्तों को उनके घर भी पढ़ाया करते थे और अब भी अक्सर उनके यहाँ आया जाया करते थे। वहीं मेरी और उनकी मुलाक़ात हुई थी। वे पूरे दार्शनिक थे और बहस-मुबाहसा करने का उन्हें बहुत शौक़ था। वे मेरे यहाँ भी अक्सर आते थे। एक बार ऐसा हुआ कि एक मुद्दत तक वे नहीं आये। बहुत दिनों के बाद जब वे मुझसे मिलने के लिए आये, तब मैंने उनसे पूछा कि आप इतने दिनों कहाँ थे और क्यों नहीं आते थे। उन्होंने कहा कि मेरे एक दोस्त आ गये थे जो मेरे ही यहाँ ठहरे थे। उनके वह दोस्त मुन्शी प्रेमचन्द जी थे। मुझे इस बात का अफ़सोस हुआ कि मुन्शी जी यहाँ आकर चले भी गये और मुझे पता ही न लगा।

मैं मुन्शी जी को इसलिए जानता था कि मैंने 'प्रेम पचीसी', 'प्रेम बत्तीसी' और 'चौगाने हस्ती' नाम की उनकी किताबें पढ़ी थीं। मैं यह मानता हूँ कि मैंने उनकी सभी कहानियाँ नहीं पढ़ी थीं और न मैं उनका लम्बा उपन्यास ही ख़तम कर पाया था। लेकिन फिर भी जो कुछ मैंने पढ़ा था, उसका मुझ पर काफ़ी असर पड़ा था। हमारी ज़िन्दगी में जो बहुत सी भली और बुरी बातें हुआ करती हैं, उन सब का पता मुझे उनकी किताबों से लगा था। उनमें एक बहुत बड़ी ख़ूबी यह थी कि वे कहानी ऐसे अच्छे ढंग से लिखते थे कि दिल पर उसका पूरा-पूरा असर हो जाता था। कहानियों में वे अपने मुल्क के ग़रीबों और सताये हुए लोगों की जिन तकलीफ़ों का बयान करते थे, वह बिना दिल पर असर किये रहता ही न था। जब मेरी उम्र बहुत ही कम थी, तब मैंने मुन्शी जी की किताबें पढ़ी थीं और मैं यही समझता था कि आज कल उर्दू में जो कुछ उपन्यास हैं, वे सब सिर्फ़ प्रेमचन्द जी के ही हैं।

इसीलिए जब मुझे यह मालूम हुआ कि मास्टर साहब ने मुझसे मुन्शी जी के

यहाँ आने का पहले ज़िक्र नहीं किया, तब स्वभावतः मेरे मन में दुःख हुआ। लेकिन फिर भी उन्होंने यह वादा किया कि अगली बार जब मुन्शी जी यहाँ आवेंगे, तब मैं उनके साथ तुम्हारी मुलाक़ात कराऊँगा। लेकिन आख़िर में पारसाल जाकर मेरी और उनकी मुलाकात हुई। लेकिन हाँ, उससे पहले मास्टर साहब मुझे मुन्शी जी के बारे में अक्सर बहुत-सी बातें बतलाया करते थे। उनकी बातों से मालूम होता था कि मुन्शी जी को देहाती जीवन के साथ बहुत प्रेम है। ये अक्सर देहातों में चले जाते हैं और वहाँ काफ़ी अरसे तक ठहरते हैं। वे वहाँ सब लोगों से मिलते हैं, उनका हाल-चाल जानते हैं, उनकी अवस्थाओं का अध्ययन करते हैं और उनके कष्टों और विपत्तियों आदि के सम्बन्ध में बहुत ही सुन्दर-सुन्दर कहानियाँ लिखते हैं।

लेकिन इसमें कोई ताज्जुब की बात नहीं थी। जब तक मामूली आदमियों के बारे में पूरी-पूरी जानकारी न हासिल कर ली जाय तब तक उनके बारे में इतनी ठीक और सच्ची बातें इतनी ख़ूबसूरती के साथ लिखी ही कैसे जा सकती हैं? इसमें कुछ भी शक नहीं कि कभी-कभी उनकी कथावस्तु कुछ शिथिल हो जाती थी — कहानी गढ़ने में उनकी क़लम चूक जाया करती थी; वे आदर्श के फेर में पड़ जाते थे और नतीजे पर बहुत ज़ोर देते थे। लेकिन फिर भी उनके पात्र बिल्कुल निराले ही दिखायी देते हैं और उनकी सादगी हमारा दिल अपनी तरफ़ खींच लेती है। उनकी 'कफ़न' नाम की कहानी बहुत बड़ी और ऊँचे दरजे की कहानियों में से एक है और उर्दू भाषा में उस जोड़ की कहानियाँ बहुत ही कम हैं। उसमें जो चरित्र-चित्रण हुआ है, वह सबसे अच्छा है — उसमें उन्होंने कमाल कर दिखलाया है। और इस तरह की कहानी तब तक नहीं लिखी जा सकती, जब तक चरित्रों का बहुत अच्छी तरह अध्ययन न किया जाय। वह कहानी क़रीब-क़रीब सभी दृष्टियों से बिल्कुल ठीक और पूरी उतरी है। क़रीब एक साल पहले जब मैंने उसे पढ़ा था, तब मुझे ऐसा मालूम हुआ था कि मानों उसमें करामात कर दिखलायी गई है और मुझे उस प्रतिभा ने चकित कर दिया था जो पात्रों के चरित्र ऐसे अच्छे ढंग से अंकित कर सकती थी कि मालूम होता था कि वे सब पात्र जीते-जागते हमारे सामने आकर मौजूद हो गये हैं। फटे-पुराने चीथड़े पहने हुए दो बहुत ही ग़रीब आदमी हैं जो संयोग से बहुत ही बुरी दशा में पहुँच गये हैं। खाने-पीने का कुछ भी ठिकाना नहीं है। ग़रीबी पूरी तरह से छाई हुई। पास ही सौरी में औरत मर रही है। लेकिन उसकी तरफ उनका कोई खयाल नहीं है। ऊलाव के पास बैठे हुए हैं और इसलिए एक-दूसरे को कड़ी निगाह से देख रहे हैं कि कहीं दूसरा मुझसे एक आलू ज़्यादा तो नहीं खा जाता है। और इसीलिए उनमें से कोई उठकर उस औरत को देखने के लिए अन्दर नहीं जा रहा है जो झोंपड़ी में मर रही है। यह सारा चित्र मानो सचमुच ही हमारी आँखों के सामने आ जाता है। फिर वही दोनों आफ़त के मारे हुए आदमी — जो दरअसल आदमी नहीं हैं बल्कि सिर्फ़ प्राणी या जानदार हैं और जिन्हें इतना भी ज्ञान नहीं है कि हम आदमी हैं — जो बिल्कुल पद-दलित और दुर्दशा-ग्रस्त हैं, जो ऐसे प्राणी हैं कि आज तक कभी मनुष्य

के पद पर पहुँच ही नहीं सके हैं, लेकिन फिर भी जो उसी पृथ्वी की तरह बिल्कुल सीधे-सादे और निष्कपट हैं जिसने उन्हें जन्म दिया था और जिसके कन्द-मूल पर वे निर्वाह करते थे, उस औरत के कॉड़ी-कफ़न के लिए माँग-माँगकर पैसे इकट्ठे करते हैं। वे जहाँ जाते हैं, वहाँ झिड़कियाँ सुनते हैं और गालियाँ खाते हैं; लेकिन फिर भी जैसे-तैसे कुछ रुपये जमा कर ही लाते हैं। फिर वे रुपये अपनी जेब में रखकर वे श्मशान की ओर नहीं जाते, बल्कि कलवरिया में पहुँचते हैं। वहाँ वे उस मरी हुई औरत का गुण-गान करते हैं, उसकी आत्मा की सद्गति के लिए ईश्वर से प्रार्थना करते हैं, खूब मौज से खाते और शराब पीते हैं और आखिर में उसी शराब के नशे की हालत में दोनों एक दूसरे के साथ गुत्थम-गुत्था हो कर एक ढेर के रूप में ज़मीन पर गिर पड़ते हैं!

हमारे जीवन में जो अनेक दुःखपूर्ण बातें होती हैं और साथ ही जो अनेक मज़ेदार परन्तु कटु बातें होती हैं, उन्हीं के चित्र वे दोनों हमारे सामने उपस्थित करते हैं। वे यह बतलाते हैं कि परले सिरे के ग़रीबी की वजह से हमारी आत्माएँ मर गयी हैं और हमारे जीवन निर्जीव हो गये हैं। वे परम दुर्दशा-ग्रस्त मानवता के नमूने हैं — उन लाखों, करोड़ों आदमियों के नमूने हैं जो हमारा हिन्दोस्तान हैं — जिनसे हमारा देश भरा हुआ है। और प्रेमचन्द जी के क़लम मैं वह ताक़त थी जो इस तरह के आदमियों में भी जान डाल देती थी।

❀ ❀ ❀

कई बरस बीत गये। प्रेमचन्द जी की किताबों का तो मुझ पर पहले ही असर पड़ चुका था। पर जब मैंने मास्टर साहब से प्रेमचन्द जी के बारे में बहुत-सी बातें सुनीं, मुझे उनकी ज़िन्दगी के कुछ हाल मालूम हुए और यह भी मालूम हुआ कि वे किस तरह काम करते हैं, तब मुझ पर खुद प्रेमचन्द जी का भी उसी तरह असर पड़ा जिस तरह उनकी किताबों का पड़ा था। मैंने प्रेमचन्द जी के बारे में जो कुछ सुना था उससे मुझे उनके व्यक्तित्व के सम्बन्ध में भी कुछ-कुछ धारणा हो गयी। मैं अपनी आँखों के सामने प्रेमचन्द जी की तसवीर खींचने लगा। मैं देखता था कि वे सफ़ेद खादी के कपड़े पहने हुए हैं, उनकी बड़ी बड़ी मूँछें हैं, हाथ में एक गोल कटोरा लिये हुए हैं (मुझे किसी तरह यह ख़याल बँध गया था कि मास्टर साहब ने उनके बारे में मुझसे इसी तरह का ज़िक्र किया था) और वे एक गाँव में पेड़ के नीचे बैठे हैं। यह एक बहुत ही विलक्षण बात है कि हम जिस आदमी को बहुत अच्छा समझते हैं और उसके गुणों की प्रशंसा करते हैं, उसके बारे में हम यह भी समझ लिया करते हैं कि उसका क़द बहुत बड़ा है। और इसीलिए मैंने भी यह समझ लिया था कि प्रेमचन्द जी खूब लम्बे-चौड़े और हट्टे-कट्टे आदमी होंगे और उनका बदन खूब गठीला होगा। मैंने अपने मन में प्रेमचन्द जी की जो तसवीर बनाई थी, वह शायद अपनी स्मरण-शक्ति के एक कौतुक के कारण ही बनाई थी, बल्कि यों कहना चाहिए कि मैं उन कलाकार की मन ही मन जो प्रशंसा करता था उसी के कारण मेरे मन में उनका यह कल्पित चित्र बना था। लेकिन जब साल भर

पहले मैं उनसे मिला था, तब मैंने देखा कि मैंने अपने दिल में उनकी जो तसवीर बनाई थी उससे असल में वे बिल्कुल अलग तरह के आदमी थे।

उन दिनों मैं इलाहाबाद यूनिवर्सिटी में पढ़ाया करता था। मेरा ख़याल है कि उस दिन सन् १९३६ की १२ फ़रवरी थी जब कि मैं हिन्दुस्तानी एकेडेमी के सालाना जलसे में शरीक हुआ था। पुराने कवियों से सम्बन्ध रखनेवाले बहुत लम्बे-चौड़े निबन्ध सुनते-सुनते हम लोग उकता गये थे और हममें से कुछ लोग अपनी टाँगें सीधी करने के लिए और थोड़ी सी ताज़ी हवा खाने के लिए उस पंडिताऊ वातावरण से निकलकर बाहर बरामदे में आ गये थे। मुझे याद आता है कि उस वक़्त मेरे दोस्त मुन्शी रघुपति सहाय 'फ़िराक़' और मुन्शी दयानारायण निगम भी वहाँ मौजूद थे। उस वक़्त मुन्शी दयानारायण निगम के साथ मेरी पहले पहल मुलाक़ात हुई थी और हम लोग 'अंगारे' नाम की अपनी किताब के बारे में बातें कर रहे थे। शाम हो चली थी और म्योर सेन्ट्रल कॉलेज के इमली के दरख़्तों में क़रीब-क़रीब आधा सूरज उतर आया था। उसकी पीली पड़ी हुई किरणें हम लोगों के पैरों पर नाच रही थीं और बढ़िया ठंढी हवा चल रही थी। उस वक़्त अचानक बरामदे की भीड़ से एक ऐसे दुबले पतले सज्जन आते हुए दिखायी दिये जिनका क़द कुछ ज़्यादा लम्बा नहीं था। लेकिन फिर भी वे जितने लम्बे थे, उसके मुक़ाबिले में अपने दुबलेपन के कारण वे कुछ ज़्यादा लम्बे मालूम होते थे। उनके चेहरे से प्रसन्नता झलकती थी और आँखें करुणा-पूर्ण थीं और उनमें एक ऐसी कोमलता दिखायी देती थी जो जीवन की समस्याओं पर गम्भीर विचार करने और अनेक प्रकार के कष्ट सहने से उत्पन्न होती है। वे एक शेरवानी और चुस्त पाजामा पहिने हुए थे और उनकी गान्धी टोपी में-से दोनों तरफ़ और पीछे गरदन पर निकले हुए कुछ लम्बे बाल दिखायी देते थे। उनकी घनी और बड़ी-बड़ी मूछों में काले बालों की बनिस्बत सफ़ेद बाल ही ज़्यादा थे और उनका तौर-तरीक़ा बहुत ही भले आदमियों का सा था। मेरे दोस्त रघुपति सहाय जी ने उनसे मेरा परिचय कराया। मुझे मालूम हुआ कि यही मुन्शी प्रेमचन्द जी हैं। वे ख़ूब मज़े में और खुल कर बातें करते थे और सब लोग ख़ूब खुले दिल से ख़ुश हो होकर उनकी बातें सुनते थे। उनके सीधे-सादे तौर तरीक़ों का मुझ पर बहुत अच्छा असर पड़ा था। वे बहुत मज़ाक़-पसन्द आदमी थे और मौक़े पर फ़ौरन ही एक से एक बढ़कर मज़ेदार बात कहते थे। हम लोग इसी तरह खड़े-खड़े बातें करते थे और सिगरेट पीते थे। ढलते हुए सूरज की पीली किरणें हम लोगों के पैरों पर खेल रही थीं। उस वक़्त मुझे ख़्वाब में भी इस बात का ख़याल नहीं होता था कि प्रेमचन्द जी के जीवन का सूर्य भी अब बहुत जल्दी अस्त होना चाहता है! बाहर बहुत बढ़िया हवा चल रही थी और पेड़ों में नाचती-गा रही थी।

दो दिन बाद वह चौदहवीं फरवरी आई जो इतिहास में लोगों को बहुत दिनों तक याद रहेगी। आगे चलकर जब कुछ बरसों के बाद हमारे साहित्य का इतिहास लिखा जायगा तब वह दिन एक विशेष महत्व का माना जायगा। उस दिन हम सब लोग

अपने देश में प्रगतिशील लेखकों के आन्दोलन (Progressive Writers' Movement) का संगठन करने के लिए फिर सज्जाद ज़हीर साहब के मकान पर इकट्ठे हुए थे। वहाँ मुन्शी प्रेमचन्द, मौलाना अब्दुल हक़ और मुं० दयानारायण निगम सरीखे ऐसे बड़े-बड़े लोग मौजूद थे जिन्होंने साहित्य की उन्नति के लिए बहुत बड़े-बड़े काम किये थे और हममें से नई पीढ़ी वाले कुछ ऐसे लोग भी थे जिनके कन्धों पर नये और अधिक दृढ़ साहित्यिक आन्दोलन चलाने का भार आ पड़ा था; और ज्यों-ज्यों दिन बीतते जायँगे त्यों-त्यों जिनके कन्धों पर का यह भार बराबर बढ़ता जायगा। हम सब लोगों ने एक-मत हों कर 'प्रोग्रेसिव राइटर्स एसोसिएशन' या 'प्रगतिशील लेखक संघ' स्थापित करना निश्चित किया। मुंशी दयानारायण निगम को इस सम्बन्ध में कुछ निराशा और सन्देह-सा हो रहा था; लेकिन प्रेमचन्द जी ने उस समय एक बहुत मार्के की बात यह कही कि प्रगतिशील लेखकों के आन्दोलन के लिए हमारा देश तैयार हो गया है। और हम लोग एक बहुत ही उपयुक्त और शुभ अवसर पर इस एसोसिएशन का आरम्भ कर रहे हैं। एक साल के अन्दर ही हमारे इस आन्दोलन को जो खासी कामयाबी हासिल हुई है, उससे बिला शक यह बात बहुत अच्छी तरह साबित हो जाती है कि मुं० प्रेमचन्द जी ने जो कुछ कहा था वह बिल्कुल सच और ठीक था। और फिर प्रेमचन्द जो बहुत ही अच्छे और समझदार आलोचक थे। अब वह इस दुनिया में नहीं रह गये हैं और इस-लिए खुद अपने बारे में मैं यह कह सकता हूँ कि मेरी कहानियों वाली आखिरी किताब 'शोले' के बारे में उन्होंने जो राय दी थी, उसका मुझे विशेष अभिमान है।

मरने से कुछ ही दिन पहले प्रेमचन्द जी में एक नया और बहुत बड़ा मानसिक परिवर्तन हो रहा था। उनकी सारी मानसिक क्रियाओं की प्रवृति देश के परम दरिद्र निवासियों की ओर हो रही थी। वे ज्यादातर ग़रीबों की दुर्दशा का ही चित्र अपने उप-न्यास आदि में दिखलाने लगे थे। उन्होंने एक नयी नीति के अनुसार फिर से 'हंस' चलाना आरम्भ किया था। और वे उसके द्वारा अपने देश के उन्नतिशील साहित्य की सेवा करना चाहते थे। उनकी मृत्यु के कारण हम लोगों की बहुत बड़ी हानि हुई है और ऐसी हानि हुई है जो जल्दी पूरी ही नहीं हो सकती। जिन दिनों वे बीमार थे, उन दिनों हम सभी लोगों को उनकी तन्दुरुस्ती की बहुत ज्यादा फ़िक्र हो रही थी। उनके बचने की कोई विशेष आशा न होने पर भी हम लोग बराबर यही आशा करते थे कि वे अच्छे हो जायँगे। लेकिन दैव हम लोगों के विपरीत था और इस समय हमें उनके उठ जाने के कारण ग़म मनाना पड़ता है। उनकी मृत्यु बहुत ही असमय में हुई और अगर वे और कुछ दिनों तक ज़िन्दा रहते, तो उनके नेतृत्व में उन्नतिशील लेखकों का आन्दोलन तो ज़ोर पकड़ता ही, क्योंकि वे हम लोगों के सबसे पहले सभापति थे और इस महत्व-पूर्ण पद के लिए हमें उनसे अच्छा आदमी नहीं मिल सकता था और हम समझते हैं कि अभी कुछ वर्षों तक हमें वैसा योग्य आदमी नहीं मिलेगा। पर साथ ही अगर वे और कुछ दिनों तक ज़िन्दा रहते तो हमें 'कफ़न' के ढंग की कुछ और कहानियाँ आदि भी

मिलतीं जिससे हमारा साहित्य और भी अधिक सम्पन्न होता। कारण यह है कि अब वे पहले से भी कहीं अधिक उत्तम और उच्च कोटि का साहित्य प्रस्तुत करने के योग्य हो गये थे। अब उन्होंने अपने देश के ग़रीब किसानों और मज़दूरों का पक्ष लेना आरम्भ किया था और वे उसी प्रकार उन ग़रीबों के प्रतिनिधि और उनके कष्ट सुनानेवाले बन जाते जिस प्रकार रूस में मैक्सिम गोर्की हैं। लेकिन फिर भी हम लोगों को इस बात का दृढ़ विश्वास है कि उनका उदाहरण सदा हम लोगों के सामने रहेगा और उनकी स्मृति हम लोगों को अपनी भिन्न-भिन्न भाषाओं में और भी अधिक उन्नतिशील साहित्य तैयार करने की प्रेरणा करेगी और अब हम लोग ऐसा साहित्य तैयार करने की कोशिश करेंगे जो देश में फैली हुई ग़रीबी और दुर्दशा से सब लोगों को परिचित करावेगा। यह साहित्य हिन्दुस्तान के लाखों करोड़ों भूखों और नंगों की हालत पर ग़ौर करेगा और दुर्दशा-ग्रस्त मानव जाति के उद्धार के लिए लड़ेगा।

•

३ | अवध उपाध्याय

216 Rue St. Jacques,
Paris V.
26-2-37.

प्रिय मित्र अन्नपूर्णा,

तुम्हारे पत्र से प्रेमचन्द जी की मृत्यु का पता चला। इस दुःखद समाचार ने मेरे हृदय को मथ डाला, मैं रो उठा क्योंकि मेरे हृदय में एक कसक रह गई। मैंने प्रेमचन्द के सब ग्रंथों का अध्ययन किया था और मैं भलीभाँति उनके गुणों से परिचित था। वास्तव में हिन्दी भाषा का एक स्तम्भ टूट गया, हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ कहानीलेखक उठ गया, आज हमारे उपन्यास-सम्राट् का देहावसान हो गया। परन्तु उनकी अमर कीर्ति की ध्वजा सर्वथा फहराती रहेगी। मैं आज निःसंकोच भाव से कह रहा हूँ कि अपनी लेखनी के द्वारा आज तक हिन्दी का कोई भी दूसरा लेखक प्रेमचन्द की तरह प्रसिद्ध नहीं हो सका। भाषा प्रेमचन्द की दासी-सी बन गई थी। उसे वे जैसे चाहते थे, नचाते थे। मानव-हृदय का ज्ञान भी उन्हें बहुत था। मेरा पूर्ण विश्वास है कि उनकी कृतियों में अमर साहित्य की सामग्री है। मेरी राय में प्रेमचन्द का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास 'सेवा-सदन' और सर्वश्रेष्ठ गल्प-संग्रह 'नवनिधि' हिन्दी भाषा में सदा

श्री अवध उपाध्याय उन दिनों यूरोप में गणित का अध्ययन कर रहे थे। श्री प्रेमचन्द जी की मृत्यु का समाचार आपको पेरिस में मिला। वहीं से आपने अपने 'लँगोटिया यार' श्री अन्नपूर्णानन्द वर्मा को एक पत्र लिखा था जो प्रकाशित किया जाता है। श्री अवध उपाध्याय को हिन्दी संसार प्रेमचन्द का कठोर टीकाकार ही समझता आया है। इस पत्र से उनके प्रकृत भाव प्रकट होंगे। हमें आशा है कि प्रेमचन्द जी के सम्बन्ध में उपाध्याय जी जो कार्य उनके पार्थिव जीवन में न कर पाये उसे अब करेंगे, क्योंकि प्रेमचन्द साहित्यिक रूप में अब भी जीवित हैं और तब तक रहेंगे जब तक हिन्दी हमारी भाषा रहेगी।—हमें यह पत्र श्री अन्नपूर्णानन्द जी की कृपा से प्राप्त हुआ है।

अमर रहेंगे। मुझे हार्दिक दुःख है कि मैं प्रेमचन्द जी के गुणों का वर्णन उनके जीवन-काल ही में नहीं कर सका। इस समय भी मैं गणित के अध्ययन में व्यस्त रहने के कारण, उनके गुणों का वर्णन नहीं कर सकता। दूसरी बात यह है कि उनके गुणों के वर्णन के लिए पुस्तक लिखने की आवश्यकता है। मैं इस छोटे से पत्र में क्या-क्या लिखूं ? परन्तु भाई ! मैं तुम्हें विश्वास दिलाता हूँ, मैं उस समय भी उनके गुणों के बारे में भी लिखना चाहता था। तुम जानते हो, जो कुछ मैंने प्रेमचन्द जी के बारे में लिखा था, वह सब कुछ शुद्धभाव से, द्वेषवश नहीं। यह सम्भव है कि मैंने ग़लती की हो, यह भी सम्भव है कि मेरी राय से बहुत लोग सहमत न हों परन्तु मैंने अपनी धारणा साफ़-साफ़ और शुद्ध हृदय से लिखी थी। बात यह है कि प्रेमचन्द के सब ग्रन्थों के अध्ययन के बाद मेरी समझ में यह बात आयी कि 'सेवा-सदन' ही उनका सर्वश्रेष्ठ उपन्यास है। मैं चाहता था कि प्रेमचन्द जी उसी सेवासदन के मार्ग का अवलंबन करें, 'रंगभूमि' और 'काया कल्प' का नहीं। मैंने उनसे भी इस सम्बन्ध में बातें कीं परन्तु उन्हें विश्वास नहीं दिला सका। तदनन्तर मैंने खुले तौर से उनके विरुद्ध लिखकर उनका ध्यान आकर्षित करना चाहा। मैं चाहता था कि प्रेमचन्द जी के विरुद्ध लिखूं और वे उसका खुलकर उत्तर दें। मैं चाहता था कि हिन्दी भाषा में स्वतन्त्र समालोचना की धारा बहे। परन्तु अन्त में प्रेमचन्द जी के गुणों का भी वर्णन करना चाहता था। गुण और दोष मैं दोनों दिखलाना चाहता था। तुम जानते हो, हिन्दी में वह मेरा पहला लेख था। मैं तो वास्तव में पहले उनके गुणों का ही वर्णन करना चाहता था और बाद में दोषों का। परन्तु मेरे एक मित्र ने पहले दोषों का वर्णन करने के लिए उपदेश दिया और मैंने उसे स्वीकार कर लिया। इसी बीच में प्रेमचन्द जी बुरा मान गये और हिन्दी के कुछ लोगों ने वास्तव में यह सोचना प्रारम्भ कर दिया कि मैं द्वेषवश लिख रहा हूँ। इसी बीच प्रेमचन्द जी और सहगल जी मेरे पास आये और समालोचना बन्द कर देने का विचार प्रकट किया। बस मैंने समालोचना बन्द कर दी और मेरे सब विचार हिन्दी भाषा के सामने न आ सके। परन्तु मैं तुम्हें विश्वास दिलाता हूँ कि प्रेमचन्द जी हिन्दी के एक बड़े लेखक थे और मैं उनके गुणों को भी भली-भाँति जानता हूँ। फिर कभी विस्तार-पूर्वक इन सब गुणों का वर्णन करूँगा।

तुम मेरे लँगोटिए यार हो। इसलिए तुम्हारे पास लिख रहा हूँ और आशा करता हूँ कि मेरी यह बात अवश्य मानोगे। वास्तव में मैं नहीं जानता कि हिन्दी संसार प्रेमचन्द जी के स्मारक के लिए क्या कर रहा है। परन्तु मेरा विश्वास है कि वह स्मारक के लिए अवश्य प्रयत्न करेगा। अन्नपूर्णा ! स्मारक ठीक है, तुम भी इसमें सहयोग देना। परन्तु मैं तुमसे दोनों हाथ जोड़ कर प्रार्थना करता हूँ कि तुम एक अलग समिति स्थापित करो जो उनके कुटुम्ब को सहायता दे। यदि तुम्हारे प्रयत्न से उनके कुटुम्ब की देख-रेख हो सकी तो मैं तुम्हारा आजन्म अभारी रहूँगा। प्रायः यह देखा जाता है कि घर के प्रधान की मृत्यु के बाद उसके कुटुम्ब की सहायता करने वाले तो कम रह जाते हैं परन्तु

उनके लूटने वाले अधिक हो जाते हैं। मेरी प्रार्थना है कि इस आपत्ति से उनके कुटुम्ब की रक्षा करना, अवश्य रक्षा करना। एक प्रार्थना तुमसे और है। मेरी ओर से उस देवी—प्रेमचन्द की धर्मपत्नी— के यहाँ जाना और कहना कि मैं सदा उनके साथ हूँ। यदि वे कोई आज्ञा दें तो मैं सदा उनकी आज्ञा का पालन करूँगा और यदि मुझसे बन पड़ा तो उनकी सहायता करूँगा।

तुम नहीं जानते कि उस देवी से मेरा व्यक्तिगत परिचय है, उनके बनाये हुए भोजन मैंने कई बार खाये हैं। कई बार मैंने उन्हें तथा प्रेमचन्द जी को अपने घर निमन्त्रित किया और उन्होंने मुझे। मेरा उनका सम्बन्ध बड़ा घनिष्ट रहा। इसीलिए तुमसे प्रार्थना कर रहा हूँ कि तुम उनके यहाँ मेरी ओर से अवश्य जाना और उन्हें विश्वास दिलाना कि मैं उनके साथ हूँ।

अभिन्न हृदय मित्र—
अवध उपाध्याय

४ | भदन्त आनन्द कौसल्यायन

विद्यार्थी जीवन में मुझे इस बात का अभिमान था कि मैं न कभी कोई उपन्यास पढ़ता हूँ न नाटक। अच्छे लड़कों को उपन्यास, नाटक न पढ़ना चाहिए। एक मित्र ने बड़ी कोशिश से मेरे गले यह बात उतारी कि सभी नाटक, उपन्यास हेय नहीं हैं। उन्होंने कहा कि तुम प्रेमाश्रम और सेवा-सदन पढ़ कर देखो तो तुम्हारी सम्मति वदल जायगी। मैंने उन्हें पढ़ना शुरू किया; मुझे अच्छे लगे। लेकिन चूंकि मैं इतनी जल्दी हारने, कम से कम, हार मानने के लिए तैयार न था, मैंने बिना समाप्त किये ही उन्हें रख दिया।

अब मैं इस बात पर अभिमान करने लगा कि मैं प्रेमाश्रम और सेवा-सदन जैसे उपन्यासों को बिना समाप्त किये छोड़ सका। पर जिसे मैं अपनी जीत घोषित करता था वह थी मेरी हार। प्रेमाश्रम और सेवा-सदन का जादू मुझ पर असर कर गया था।

कुछ ही दिन बीतने पाये थे; न जाने कब और कैसे मैंने मन को समझा लिया। एक दिन मेरे हाथ चुपके से फिर प्रेमाश्रम और सेवा-सदन उठा लाये और मुझको होश तब आयी जब मैंने दोनों को समाप्त कर दिया। 'कर्मभूमि' 'कर्बला', 'वरदान'—अब जो मिलता वह पढ़ता, और कहा करता कि जो बातें धर्मग्रन्थों में नहीं हैं वह प्रेमचन्द के उपन्यासों में हैं। धर्मग्रन्थ उपदेश देकर तबियत को चिढ़ाते हैं, प्रेमचन्द उपदेश न देकर उपदेश दे जाते हैं।

किसी समय उपन्यास-नाटक से नाक भौं सिकोड़नेवाला विद्यार्थी अब प्रेमचन्द की भाषा और उनके भावों की प्रशंसा करते न अघाता था। वह उनके किसी भी ग्रन्थ को लेकर बैठता, काग़ज क़लम उसके हाथ में रहती — न जाने कहाँ कौन अनमोल रत्न मिल जाय? रत्नों की उन चुस्त वाक्यावलियों में क्या कमी थी?

❀ ❀ ❀

सन् १९२८ से '३५ तक के साल मेरे जीवन के जलावतनी के साल रहे हैं।

इधर सिंहल, बर्मा, श्याम और यूरोप के एक-दो देशों में ऐसा भटकता रहा कि कभी-कभी किसी मासिक पत्र में प्रेमचन्द जी की कोई रचना पढ़ लेने के अतिरिक्त सिलसिले से कुछ न पढ़ सका। सन् १९३५ में जब कुछ स्थिरता के साथ सारनाथ में रहने लगा तब सुना कि हमारे महाबोधि विद्यालय में एक विद्यार्थी है जो प्रेमचन्द जी का सम्बन्धी है और जो उनका पत्र लेकर विद्यालय में भर्ती होने आया था। प्रेमचन्द जी का कोई अपना हमारे विद्यालय में पढ़ता है, सुन बड़ी प्रसन्नता हुई। मैंने चि० कृष्णचन्द को बुलवा भेजा और उससे पता लगा कि सारनाथ से कुल डेढ़ दो कोस की दूरी पर लमही में प्रेमचन्द जी रहते हैं और आजकल घर पर ही हैं। मैंने धर्मदूत❀ के दो-तीन अंकों के साथ चि० कृष्णचन्द के हाथ पत्र भेजा। अगले दिन उत्तर मिला —

२५-८-३५

'प्रिय कौसल्यायन जी, वन्दे !

तीनों अंक मिले। अनेक धन्यवाद। मैं दिन भर घर पर रहता हूँ। इस मास के अंत तक बाहर जाने वाला हूँ। मकान ले रखा है आप आने का कष्ट करें तो बड़ी कृपा हो ।

भवदीय

प्रेमचन्द ।'

पत्र पाकर हृदय में बड़ी गुदगुदी उठी। इतनी आसानी से इतने बड़े कलाकार के दर्शन करने को मिलेंगे। वह कैसे होंगे ? किसी के लेख में पढ़ा था कि खद्दर का कुर्ता पहिने दिन भर काग़ज पर क़लम दौड़ाया करते हैं। उनका अमूल्य समय मैं लूंगा, क्यों लूंगा ? तो न जाऊँ ? लेकिन बिना जाये कैसे रह सकूंगा ? यदि आज इस इच्छा को दबा लिया, तो यह कल फिर तंग करेगी। ऐसी हालत में अच्छा है कि आज इसे पूरा कर ही लिया जाय । लेकिन कुछ-न-कुछ बात जो करनी होगी। इच्छा तो केवल यह थी कि एक-आध घंटा मुझे चुपचाप उनके पास बैठे रहने भर की छुट्टी मिल जाय; लेकिन चुपचाप कौन किसे बैठने देता है—इस सभ्यता के युग में ?

सोचा, तो कुछ प्रश्न ले चलूं। लेकिन प्रश्न करने के लिए भी तो अक़ल चाहिए, ज्ञान चाहिए और इंजानिब हैं 'साहित्य-संगीत-कला-विहीनः'। इस तरह के नाना विचार उठते रहे और स्कूल की छुट्टी हो गई। चि० कृष्णचन्द ने पूछा— चलेंगे ?' मैंने कहा 'हाँ' और साथ हो लिया ।

❀ ❀ ❀

खेतों की मेड़ों पर बड़ी सावधानी से चलते हुए, कहीं-कहीं बरसाती पानी के छोटे-छोटे गढ़ों को फाँदते-लाँघते मग़रिब में डूबते सुनहरी सूर्य की किरणों का

❀ सारनाथ से 'धर्मदूत' नामक एक छोटा-सा पत्र निकलता है।

आनंद लूटते उस समय घर पहुँचा जब सूर्य अस्त हो रहा था, हो चुका था। कृष्णचन्द ने जाकर खबर दी। अन्दर से कुण्डी खटकी और सामने की बैठक का दरवाज़ा ऐसे खुला जैसे कोई परदा हटा हो। उसके पीछे से एक हँसती हुई मूर्ति ने ऐसे अपनेपन से मेरा स्वागत किया कि मुझे अपनी बेवकूफी पर हँसी आने लगी—ऐसी घरेलू तबियत के आदमी से मिलने के लिये इतनी उधेड़बुन! उन्होंने बात छेड़ी—शायद राहुल जी का हाल पूछा, मैंने उत्तर दिया। सिंहल साहित्य की बात चली और फिर तो प्याज़ के छिलकों की तरह एक बात में दूसरी बात ऐसे निकलती गई कि कितना ही समय व्यतीत हो गया और पता ही नहीं लगा। एक बार ईश्वर की चर्चा भी चली। उन्होंने कहा 'जो ईश्वर को नहीं मानते हैं, वह भी किसी स्वजन के मरने पर रोते हैं; जो मानते हैं उनसे भी बिना रोये नहीं रहा जाता। ऐसी हालत में ईश्वर के मानने का फ़ायदा ?' मुझे पता लगा कि हमारा कलाकार निरंतर विकसित हो रहा है। उस दिन लौटते समय अँधेरे और बरसात के कारण रास्ते में कुछ कष्ट हुआ, काफी कष्ट हुआ, लेकिन उससे तो तीर्थयात्रा का पुण्य भी बढ़ा।

❀ ❀ ❀

सिंहल-प्रवास के कारण मुझे वहाँ की भाषा और साहित्य का कुछ ऊपरी ज्ञान हो गया है। जिस समय भारतीय साहित्य-परिषद् के मुख-पत्र के रूप में 'हंस' निकलना आरम्भ हुआ, मुझे ख्याल आया कि सिंहल साहित्य का भी उसमें कुछ स्थान रहना चाहिए। एकाध सिंहल कविताओं के अनुवाद 'हंस' में छपे। एक दिन मैंने श्री नन्ददुलारे वाजपेयी का एक विचार-पूर्ण लेख पढ़ा, जिसका शीर्षक था 'बुद्धिवाद' मुझे अच्छा लगा। उसमें बुद्ध-विचार के बारे में कुछ विचार थे। उनके विचारों के सम्बन्ध में एक छोटा-सा नोट लिखकर उस चर्चा को आगे बढ़ाने का अपना लोभ संवरण न कर सका। 'बुद्ध का बुद्धिवाद' शीर्षक से मैंने काँपते हाथों कुछ पंक्तियाँ लिखीं—किसी के विचारों की आलोचना करना और उसको भरसक कटु न होने देना कठिन अभ्यास-साध्य कार्य है। और उन्हें सम्पादक 'हंस' के पास भेज दिया। मैं उन दिनों सिंहल में था। लौटती डाक से प्रेमचन्दजी ने उत्साह बढ़ाया—

१४-२-३६

'प्रिय आनंद जी,

आपका नोट मिला। धन्यवाद। इसकी ज़रूरत थी, छापूँगा। हाँ, सिंहल साहित्य के विषय में अगर कोई लेख भेज सकें तो बड़ा अच्छा हो। इसे तो हम कुछ जानते ही नहीं। उसका कुछ आलोचनात्मक इतिहास ही हो तो कोई हर्ज नहीं। अगर इंगलैण्ड जायें तो वहाँ से 'बौद्ध साहित्य' पर एक अच्छा-सा लेख लिखें, केवल उसके धर्म-साहित्य पर नहीं,

बल्कि बौद्धकालीन साहित्य पर। ऐसे लेख की बड़ी जरूरत है।
आशा है आप प्रसन्न हैं।

आपका,
प्रेमचन्द।'

मैंने हिन्दी पत्रों में अधिक लेख नहीं लिखे; इसलिए अपने सम्पादक-प्रवरों से कोई विशेष पत्र-व्यवहार भी नहीं रहा। लेकिन जिन-जिन सम्पादकों ने कभी-कभी कुछ लिख कर मुझे उत्साहित किया है उनमें कभी किसी ने इतनी नपी तुली उत्साहवर्धक पंक्ति नहीं लिखी — 'आपका नोट मिला। धन्यवाद। इसकी जरूरत थी। छापूंगा।'

❀ ❀ ❀

दूसरी बार इंगलैण्ड जाने का विचार छोड़ कर मैं सिंहल से वापस सारनाथ चला आया। एक दिन मुझे भारतीय साहित्य-परिषद् के मंत्री की चिट्ठी मिली जिसका मतलब था कि यदि कोई आपत्ति न हो तो वह मुझे भा० सा० परिषद् का सभासद बना लेना चाहते हैं। हिन्दी-भाषा-भाषियों में सिंहल साहित्य से कुछ परिचय रखनेवाला — यही अपने राम की विशेषता समझी गई होगी। मैंने धन्यवादपूर्वक प्रतिज्ञा-पत्र भर कर लौटा दिया। किसी भी संस्था का सभासद बनते समय एक भिक्षु के लिये जो बात विचार लेने की होती है, वह चन्दे की है। सो इसमें न था। भा० सा० परिषद् के उद्देश्यों से मेरी सहानुभूति थी और है, तथा मैं श्रद्धापूर्वक कुछ सेवा करना चाहता था और चाहता हूँ। सभासद बनने के बाद मेरे पास भा० सा० परिषद् के मंत्री के हस्ताक्षर से कभी-कभी पत्र आने आरम्भ हुए — लेकिन सभी अंग्रेज़ी में। सम्भव है कभी कोई हिन्दी में आया हो, लेकिन दिमाग़ पर ज़ोर डालने पर भी तो याद नहीं आ रहा है। मैं स्वयं अंग्रेज़ी में पत्र लिखता हूँ; कभी-कभी भारत में भी और वैसे भारत के बाहर। जो दो चार भाषाएँ जानता हूँ, उन सब में समय-समय पर पत्र लिखते रहना चाहता हूँ — कम से कम इसी ख्याल से कि अभ्यास बना रहे। लेकिन भा० सा० परिषद के मंत्री तो बिल्कुल दूसरी चीज़ हैं। वह अपने व्यक्तिगत पत्र चाहे जिस भाषा में लिखें लेकिन भारतीय-साहित्य परिषद् के मंत्री के पत्र को उसे हिन्दी में और केवल हिन्दी में ही लिखने वा लिखवाने चाहिये। हिन्दी में न लिख कर यदि किसी अन्य भारतीय भाषा में लिखे तो भी मुझे आपत्ति नहीं, लेकिन भा० सा० परिषद् का मंत्री और पत्र लिखे एक अभारतीय भाषा में और ऐसी अभारतीय भाषा में, जिसकी मानसिक गुलामी से देश को मुक्त करना हमारी राष्ट्रीय समस्या है। कुछ इसी प्रकार के विचारों से क्षुब्ध होकर मैंने प्रेमचन्द जी को एक पत्र लिखा। उत्तर मिला —

'प्रिय आनंद जी,

क्या आप समझते हैं, अंग्रेजों की गुलामी से भारतीय परिषद् मुक्त है? जब कांग्रेस की सारी लिखा-पढ़ी अंग्रेज़ी में होती है, तो भारतीय परिषद् तो उसी का

बच्चा है। मन्त्री जो हिन्दी नहीं जानते, मगर हिन्दी के भक्त अवश्य हैं। अगर आप ऐसे भक्तों को दबायेंगे तो वह भाग खड़े होंगे।

'हंस' सितम्बर से सस्ता साहित्य, देहली से प्रकाशित होगा। मैंने उसके सम्पादन मे इस्तोफ़ा दे दिया है। मैं इधर एक महीने से बीमार हूँ।

अगर अच्छा हो गया तो यहाँ से अपना एक नया पत्र प्रागतिक लेखक-संघ की विचारधारा के अनुसार निकालूंगा। ....

मुझे आशा है, इस नई योजना में मैं आपकी मदद पर भरोसा कर सकूँगा।

प्रेमचन्द।'

इस पत्र को उद्धत कर चुकने पर मन में इतने भाव उठ रहे हैं कि आगे कुछ लिखा नहीं जाता। उस दिन बीमारी की अवस्था में मैं कविवर मैथिलीशरण जी के साथ जो उनके दर्शन कर आया, बस वही अंतिम दर्शन रहे। 'अगर अच्छे हो जाते—' तो उनकी अंत के दिनों की इच्छा थी 'एक नया-पत्र प्रागतिक लेखक-संघ की विचार-धारा के अनुसार निकालने की।' मुझे यह देखकर संतोष और हर्ष हो रहा है कि माता शिवरानी देवी 'हंस' को चलाये जा रही हैं। उसका यद्यपि नाम पुराना ही है, लेकिन है वह प्रेमचन्द जी का 'नया पत्र।'

मुझसे उसकी जो 'मदद' बन सकेगी, वह मेरा सौभाग्य होगा।

●

५ | इलाचन्द्र जोशी

जब प्रेमचन्द जी ने पहले-पहल हिन्दो में लिखना प्रारम्भ किया था तब मैं एक स्कूली लड़का था पर तत्कालीन हिन्दी साहित्य की सभी सामायिक बातों के सम्बन्ध में ख़ासी जानकारी रखता था। उन दिनों प्रेमचन्द जी की कहानियाँ अक्सर 'सरस्वती' में निकला करती थीं। उस युग में हिंन्दी में कहानियों की जो मिट्टी खराब की जा रही थी उसे देखते हुए मेरे आश्चर्य और हर्ष का ठिकाना न रहा। जब मैंने देखा कि अकस्मात् एक ऐसे लेखक का आविर्भाव हुआ है जिसके भाव, भाषा और शैली में निरालापन और चमत्कार के अतिरिक्त एक ऐसी विशेषता वर्तमान है जो अपनी सहृदयता से बरबस पाठक के हृदय को मोह लेती है, तब से मैं जिस किसी भी पत्र में प्रेमचन्द जी की कहानी छपी हुई पाता उस पर भुक्खड़ की तरह झपट पड़ता।

शीघ्र ही प्रेमचन्द जी की कहानियों के दो संग्रह निकले — 'नवनिधि' और 'सप्तसरोज'। जहाँ तक मुझे याद है, 'नवनिधि' की कहानियाँ अधिकांशतः ऐतिहासिक थीं। तथापि उनका विषय-निरूपण ऐसा सुन्दर था कि लेखक का रचना-कौशल देखकर वास्तव में चकित रह जाना पड़ता था और उनमें भावों की खूबियाँ ऐसे अच्छे ढंग से व्यक्त की गई थीं कि कोई भी पढ़कर मुग्ध हुए बिना न रह सकता था। मैंने इस पुस्तक को अपनी स्कूली अवस्था में कम-से-कम बारह बार पढ़ा होगा। इसके बाद 'सप्तसरोज' नामक संग्रह मेरे देखने में आया। इस संग्रह ने हिन्दी के कहानी-साहित्य में एक पूर्णतः अभिनूतन युग की सूचना दी। इसमें आधुनिक विश्व-साहित्य की कहानी-कला के 'टेकनिक' के पूर्ण प्रदर्शन के अतिरिक्त अन्तस्तल में प्रवेश करनेवाली मार्मिक गहनता तथा सरल स्पष्ट वास्तविकता के 'बैकग्राउण्ड' में प्रतिफलित होने वाली स्निग्ध सुन्दर सहृदयता की अपूर्व मनोहर अभिव्यञ्जना हृदय में एक मधुर वेदना की गुदगुदी-सी पैदा करती थी। प्रायः बीस वर्ष पहले मैंने 'सप्तसरोज' की कहानियाँ पढ़ी थीं और एक ही बार उन्हें पढ़ने का अवसर प्राप्त हुआ था ; तथापि अभी तक उसकी कुछ कहानियाँ मेरे स्मृति-पटल में अत्यन्त उज्ज्वल

तथा सुस्पष्ट रूप से अंकित हैं। 'सौत', 'बड़े घर की बेटी', 'पंच परमेश्वर' आदि कहानियाँ साहित्य-संसार में सदा अमर होकर रहेंगी। ऐसी सुन्दर छोटी कहानियाँ हिन्दी में न उस युग के पहले कभी लिखी गई थीं, न उसके बाद ही कोई ऐसी कहानी मुझे पढ़ने को मिली जिनमें 'टेकनिक' और सहृदयता का ऐसा अच्छा सामंजस्य पाया जाता हो।

इसके बाद 'सेवा-सदन' प्रकाशित हुआ। हिन्दी के उपन्यास-साहित्य में यह निर्विवाद रूप में युगान्तरकारी रचना थी। इसमें पात्रों के सुन्दर मनोवैज्ञानिक चरित्र-चित्रण के अतिरिक्त एक नवीन आदर्श की अवतारणा कलाकार की आन्तरिक समवेदना के साथ अभिव्यक्त की गई थी। इस उपन्यास ने मेरे मन में एक नई अनुभूति और अनोखी प्रेरणा उत्पन्न कर दी।

'सेवा-सदन' प्रकाशित होने के शायद तीन-चार वर्ष बाद 'प्रेमाश्रम' प्रकाशित हुआ। इसी बीच साहित्य और कला के सम्बन्ध में मेरे विचारों में बहुत कुछ परिवर्तन और विवर्तन हो गया था। प्राच्य तथा पाश्चात्य कला के प्राचीन तथा नवीन भावों के अध्ययन और मनन के बाद मेरे विचारों की धारा एक विचित्र उलटी-सीधी गति से तरङ्गित हो रही थी। अतएव मेरी ऐसी मानसिक अवस्था में जब प्रेमचन्द जी का 'प्रेमाश्रम' दीर्घ छः सौ पृष्ठव्यापी विस्तृत तथा विशालकाय आकार में प्रकाशित होकर सामने आया तो मैं अपने 'फ़ेवरिट' लेखक की इस नई कृति को अत्यन्त उत्सुकता से पढ़ने लगा। पर मुझे खेद हुआ जब मैंने उक्त रचना अपने मन की आशाओं के अनुरूप न पाई। इस रचना से मुझे लेखक की प्रतिभा के विराट् रूप से परिचय अवश्य हुआ, पर उसमें कला का निर्वाह मैंने अपने मन के अनुरूप न पाया। उन दिनों मेरी रगों में कच्ची उम्र का नया खून जोश मार रहा था। 'प्रेमाश्रम' के सम्बन्ध में तत्कालीन साहित्यालोचकों से मेरा मतभेद होने पर मैं रह न सका और अत्यन्त प्रबल आक्रोश के साथ परिपूर्ण शक्ति से मैं उन पर बरस पड़ा। इस पर आलोचना — प्रत्यालोचना का जो लम्बा चक्कर चला, उससे तत्कालीन साहित्य के ऐतिहासिक गगन में जो क्रान्तिकारी बवण्डर मचा था, उससे उस युग के पाठक भलीभाँति परिचित हैं। आज मैं अपनी उग्र असहनशीलता के कारण लज्जित हूँ। पर यदि विचारपूर्वक उदार दृष्टि से देखा जाय, तो हमारे साहित्य के उस नवीन क्रान्तिकारी युग में मेरे भीतर कला-सम्बन्धी प्राच्य तथा पाश्चात्य भावों के विचित्र सम्मिश्रण से रासायनिक क्रिया-प्रतिक्रिया ने जो तहलका मचा रखा था उसके फलस्वरूप मेरे विचारों में उग्रता तथा असहनशीलता आनी अनिवार्य थी।

प्रेमचन्द जी की कला के सम्बन्ध में यह कड़वी धारणा मेरे मन में कुछ समय तक रही। पर मैं उनकी प्रतिभा के वृहद् रूप पर बराबर ज़ोर देता चला आया — मैंने उसे कभी अस्वीकार नहीं किया। १९२७ में जब प्रेमचन्द जी 'माधुरी' का सम्पादन कर रहे थे तो उनसे मैं लखनऊ में प्रथम बार मिला। उनके दर्शन मात्र से ही मैं सहम-

सा गया। उनका चमकता हुआ विस्तृत ललाट, अन्तर्भेदिनी तथा सुगंभीर और शान्त आँखें, मोटी भौहें और बड़ी-बड़ी मूछें मिलकर एक ऐसे विचित्र व्यक्तित्व को व्यक्त करती थीं जो पूर्णतः भारतीय होने पर भी अपने भावलोक के एकाकीपन में एक निराली वैदेशिक विशेषता रखता था। जहाँ तक मुझे याद है, रवीन्द्रनाथ ने ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के सम्बन्ध में कहा था कि यद्यपि वह अपने बाल्य-जीवन में पूरे बंगाली थे और बंगालियों के प्रति उनके मन में पूर्ण सहानुभूति थी तथापि अपने अन्तर्जीवन में वह एकदम अ-बङ्गाली थे और अपने सतेज व्यक्तित्व तथा उदार सदाशय स्वभाव के कारण वे स्वजातियों से पूर्णतः भिन्न जान पड़ते थे। प्रेमचन्द जी को देखते ही मेरे मन में वही धारणा जम गई। मैंने युक्तप्रान्त में अपने परिचित प्रतिष्ठित मित्रों से उनमें एक विशिष्ट विभिन्नता पाई। ज़ार के युग में नाना कड़वे अनुभवों से निष्पेषित, प्रताड़ित तथा प्रपीड़ित रूस के प्रतिभाशाली मनीषियों के अतल व्यापी अव्यक्त विक्षोभ की सघन गहनता उनके व्यक्तित्व में लक्षित होती थी। यदि ग़ौर किया जाय तो प्रेमचन्द जी तथा मैक्सिम गोर्की की बाह्याकृतियों में एक आश्चर्यजनक साम्य दिखाई पड़ता है। दोनों के फ़ोटो उठाकर दोनों का व्यक्तित्व मिलाकर देखिये। आप हैरत में पड़ जायँगे कि दोनों देशों की भौगोलिक परिस्थित, सभ्यता तथा संस्कृति में मूलतः भिन्नता होने पर भी दोनों देशों के आधुनिक साहित्य के दो विशिष्ट प्रतिनिधियों की मुखाकृतियों में प्रकट होनेवाले व्यक्तित्व में इतनी अधिक समानता पाई जाती है।

केवल बाह्य समता ही नहीं, गोर्की और प्रेमचन्द जी के भीतरी व्यक्तित्व में भी कुछ कम समता नहीं पाई जाती। जिस प्रकार गोर्की ने दलित मानवता के सुख-दुःखों का वास्तविक अनुभव प्राप्त करके अपनी उस सच्ची सहृदयतापूर्ण तथा समवेदनामूलक अनुभूति को अपनी क्रियात्मक रचनाओं में अत्यन्त सुन्दर रूप से कलात्मक परिपूर्णता के साथ अभिव्यक्त किया, उसी प्रकार प्रेमचन्द जी ने भी भारत की पिष्ट निपीड़ित निःशोषित तथा उपेक्षित ग्रामीण जनता की आत्मा से अपनी अन्तरात्मा का पूर्ण संयोग संगठित करके उनका यथार्थ चरित्र चित्रित करके अपनी कलामयी अनुभूति का परिचय दिया है।

यद्यपि सामयिक पत्रों में प्रेमचन्द जी की कला-सम्बन्धी धारणा से मेरा मतभेद कुछ कड़वे रूप में व्यक्त हो चुका था, पर जब मैं उनसे मिला तो उन्होंने अपनी बातों में किसी सामान्य संकेत से भी यह बात प्रकट न होने दी कि मेरे विचारों से मतभेद होने के कारण मेरे प्रति उनके मन में किसी प्रकार का द्वेषभाव उत्पन्न हुआ है। प्रारम्भ में उन्होंने कुछ संकोच के साथ बातें अवश्य कीं, पर कुछ ही देर बाद वह ऐसे खुले कि दोनों को ऐसा अनुभव होने लगा जैसे हम लोगों की बड़ी पुरानी मैत्री हो। यह बात प्रेमचन्द जी के हृदय की असाधारण उदारता के कारण ही सम्भव हुई थी। उस दिन से मेरा हृदय प्रेमचन्द जी के प्रति श्रद्धा और सम्भ्रम के भाव से झुक गया। हिन्दी के बहुसंख्यक साहित्यकों मे विचार-विभिन्नता के कारण जो पारस्परिक असहनशीलता व्यक्तिगत

रागद्वेष के रूप में अत्यन्त संकीर्णतापूर्वक व्यक्त होती रहती है, उसका लेश भी मैंने प्रेमचन्द जी में नहीं पाया। उनके साथ घण्टे भर की बातचीत से मैं समझ गया कि हम दोनों की कलात्मक अभिव्यक्ति की अन्तर्धाराएँ दो विभिन्न दिशाओं की ओर प्रवाहित हुई हैं। प्रेमचन्द जी वास्तविक और व्यक्त जीवन की कठोरता के भीतर आदर्शवाद के मूल प्राण की खोज करके उसे जनता के सम्मुख रखना चाहते हैं, और मैं अव्यक्त की अज्ञात माया की मोहिनी के फेर में पड़कर, वास्तविक जोवन के अन्तराल में छिपी छायात्मिका प्रकृति के रहस्य की ओर निरुद्देश्य दौड़ा चला जा रहा हूँ। तथापि इस कारण से हम दोनों की मूलात्माओं के सम्पूर्ण सहयोग तथा समवेदनात्मक अनुभूति के मार्ग में किसी प्रकार की बाधा पड़ने का कोई कारण मुझे नहीं दिखाई दिया।

इसके बाद प्रेमचन्द जी से मैं केवल एक बार थोड़े समय के लिए मिल पाया था। पर उनके प्रति श्रद्धा का जो भाव मेरे मन में एक बार जम गया था वह स्थिर रहा और सदा अमिट होकर रहेगा।

जनता प्रेमचन्द जी को केवल एक ऊँचे दर्जे के कलाकार के रूप में जानती है, पर कला के अतिरिक्त उनमें मनुष्यत्व कितना अधिक था, इस बात से बहुत कम लोग परिचित हैं। अपनी रचनाओं में उन्होंने जिन दलितात्माओं के निर्यातन का निदर्शन किया है उनके प्रति उनकी केवल मौखिक सहानुभूति नहीं थी, वह अपनी उस सहानुभूति को अनेक बार वास्तविक जीवन में व्यावहारिक रूप में प्रकट करके हमारे कलाकारों के लिए एक महत् आदर्श छोड़ गये हैं। कला की मार्मिक अनुभूति का वास्तविक मूल्य यहीं पर है। उन्होंने अपने जीवन में जिन कष्टों का अनुभव किया, उससे उन्होंने दूसरे पीड़ितों को यथार्थ रूप में समझने में सहायता पाई, और केवल समझ कर ही वह चुप नहीं रहे, बल्कि अपनी घोर आर्थिक सङ्कट की दशा में भी वह समय-समय पर सङ्कटापन्न परिस्थिति में पड़े हुए परिचित अथवा अपरिचित व्यक्तियों को यथासामर्थ्य व्यावहारिक सहायता पहुँचाने के लिए सदा उद्यत रहते थे। हिन्दी की साहित्यिक मण्डलियों के घोर स्वार्थपूर्ण वातावरण की सङ्कीर्ण मनोवृत्ति को ध्यान में रखते हुए जब मैं प्रेमचन्द जी के इस उदार मनुष्यत्व की सदाशयता पर विचार करता हूँ तो मेरे हृदय में विह्वल श्रद्धा गद्गद् होकर उमड़ उठती है।

६ | उदयशंकर भट्ट

'मेरे विचार में बिरले ही प्रतिभाशाली लोग अपनी सम्पूर्ण चेतना से संसार को देखते हैं। कल्पना और वास्तविकता दोनों भिन्न वस्तुएँ हैं परन्तु कलाकार उन दोनों की समानान्तर रेखाओं के बीच से अपना मार्ग निकालता है। प्रेमचन्द उन्हीं कलाकारों में से एक थे।' मेरे उन मित्र ने यह बात बहुत ज़ोर देकर कही।

मैंने कहा—आपका कहना सत्य है; पर प्रेमचन्द इसके अतिरिक्त और भी कुछ थे। कलाकार प्रायः दो तरह के होते हैं; एक तो वे जो केवल प्रतिभा के बल पर परिस्थितियों का गंभीर और सूक्ष्म अध्ययन करते हैं, वे सम्पन्न होकर भी ग़रीबी को अंतर की आँख से स्पष्ट देख पाते हैं और उनके वर्णन में वास्तविकता भी होती है, और दूसरे वे, आर्थिक, सामाजिक परिस्थितियाँ जिनकी प्रतिभा और विवेक को रगड़ कर स्पष्ट और उज्ज्वल बना देती हैं। एक के उदाहरण हमारे साहित्य में रवि बाबू हैं और दूसरे के श्री प्रेमचन्द। दूसरे शब्दों में यह कहना होगा कि प्रेमचन्द परिस्थितियों के मूर्त रूप थे। ऐसे मूर्त जो कल्पना और कला के द्वारा चुटकियाँ लेते परिस्थिति के इलाज को ढूँढ़ते हैं। ऐसे कलाकार साहित्य की प्रेरणा करनेवाले होते हैं। प्रेमचन्द जी ने राष्ट्र और साहित्य के धूमिल हृदय में सुधारवादी प्राणों की प्रेरणा की। उन्होंने समाज के भीतर घुसकर सुख-दुःख की तीव्र अनुभूति द्वारा राष्ट्र के हृदय को टटोला। उन्होंने शेक्सपियर की तरह मानव हृदय के उत्थान, पतन, स्वभाव आदि का गम्भीर अध्ययन करके रोमान्स की रचना नहीं की। मैं समझता हूँ, शेक्सपियर में दशा का चित्रण है, सुधार की चेष्टा नहीं। वह वेदना है जिसका इलाज स्वयं नाटककार को ज्ञात न था। इसमें कोई सन्देह नहीं कि उसकी वेदना, परिहास, आनन्द का चित्रण संसार के साहित्य में अद्वितीय वस्तु है, परन्तु उनके प्राणों में कला का सौन्दर्य है, हृदय का आकर्षण है, एक मिठास है, एक टीस है, एक सुषुप्त-जागृति है जो इलाज ढूँढ़ने के लिए, रोग के निदान के लिए प्रेरित नहीं करती। वहाँ निदान की इच्छा भी नहीं। वह एक ऐसा रस है जिसे विष जानकर भी पाठक पीने से इनकार नहीं कर सकता; अमृत जान कर भी पी नहीं सकता।

प्रेमचन्द इस प्रकार की कोई धारणा लेकर साहित्य में नहीं उतरे। उन्होंने सत्य को सत्य देख कर, परख कर, जाँच कर टाल्सटाय की तरह सत्य कहना सीखा। उन्होंने जीवन की सभी दिशाओं के, सभी परिस्थितियों के पात्रों के हाथों अपने व्यक्तित्व के द्वारा देश और समाज की रेखाएँ खींची हैं, उन रेखाओं के द्वारा बने स्पष्ट चित्र (कुछ कुछ धुंधले होते हुए भी) अभी तक हमारे सामने अपनी समस्याओं का, जिनका समाज ने अभी तक कोई हल पेश नहीं किया, जिक्र कर रहे हैं। उनका साहित्य क्रांति की भावना को लेकर चला है। उन्होंने व्यक्ति और समाज को एक निश्चित दिशा की ओर संकेत किया है जिनमें बनावट नहीं स्वाभाविकता है, सहज हृदय की स्फूर्ति भरी प्रेरणा है, आदर्श शान्ति है।

यह बताने की आवश्यकता नहीं कि उनके प्रवेश के पहले हमारे साहित्य की दिशा किस ओर थी। परन्तु जो निश्चित और सुधारक दिशा हमारे इस साहित्यकार ने हमें दिखायी है वह कला को मूर्तिमान बना देने के साथ ही गहरी जीवन-गति देने वाली भी है। उनका प्रत्येक पात्र, ऐसा लगता है मानो एक तथ्य का विश्लेषण करके अपने हृदय की दहकती हुई पीड़ा की ओर अचल गति से संकेत कर रहा है। और उसकी प्रत्येक क्रिया में ठोस और अव्यर्थ अनुभूति काम कर रही है। धर्म की दक़ियानूसी प्रवृत्ति के प्रेमचन्द घोर शत्रु थे। उन्होंने धर्म को विशाल और समाज में नये प्राणों के फूंकने का कारण समझा था। उनके विचार में धर्म परलोक के द्वार खोल देने के बजाय इस लोक को सुखी बनाने का मुख्य साधन होना चाहिए। इसी दिशा को लेकर प्रेमचन्द की रंगभूमि, सेवासदन, प्रेमाश्रम आदि उपन्यासों की अवतारणा हुई है। उन्होंने सदा ही आडम्बर को अधर्म और धर्म (यदि वस्तुतः वह कुछ है तो) को समाज का एक अङ्ग समझा। जो धर्म समाज का कल्याण नहीं कर सकता, समाज में आवश्यकतानुसार प्राण नहीं डाल सकता, उस धर्म से उन्हें आजीवन घृणा रही। दूसरे शब्दों में प्रेमचन्द का धर्म समाज और व्यक्ति की सद्भावना का धर्म था। इस अंश में प्रेमचन्द समाज-सुधारवादी कलाकार थे। उन्होंने सदा रूढ़ियों की भर्त्सना की है।

अब उनकी कला के सम्बन्ध में लीजिये। प्रेमचन्द की कृतियों और परस्पर की बातचीत से मालूम होता है कि वे 'Art for art sake' (कला के लिए कला) के कभी पक्षपाती नहीं रहे। वे (Art for life sake, art for society sake) (कला जीवन के लिए, कला समाज के लिए) या इसी प्रकार की कला के पक्षपाती थे। उनके विचार में कला साधन थी, साध्य नहीं। लक्षण थी, लक्ष्य नहीं। पिछली लाहौर की यात्रा में (जब वे आर्य-प्रतिनिधि सभा की अर्ध-शताब्दी के अवसर पर होने वाले आर्य-भाषा-सम्मेलन के अध्यक्ष की हैसियत से यहाँ आये थे) उन्होंने साहित्य गोष्ठी में भाषण करते हुए कला की बड़ी गम्भीर विवेचना की थी। उसमें उन्होंने बताया था कि 'कला हमारे जीवन की अन्तरंग साधना नहीं है। वह तो विश्व में सबसे चमत्कारपूर्ण जीवन की विश्लेषणात्मक क्रिया मात्र है। उससे हमारी आँखों में चमक पैदा होती है, हमारे

प्राणों में स्फूर्ति होती है, वह प्राण कभी नहीं।'

उस समय मैंने अनुभव किया कि साहित्य को जीवन का साधन मानने वाले कलाकार कभी भी उसको चरमलक्ष्य नहीं मान सकते। 'आर्ट फ़ार आर्ट सेक' कला का वह चरम उद्देश्य है और उस देश में हो सकता है जहाँ विलासिता, समाज का स्वास्थ्य, स्वतंत्रता अपनी पराकाष्ठा तक पहुँच गये हों, जहाँ आनन्द और आनन्द के प्रकारों को ढूंढ़ निकालकर उसमें तल्लीन होने की चाह जीवन का उद्देश्य बन चुकी हो। पतनोन्मुख राज का यह उद्देश्य हो सकता है, परन्तु उस देश का, जहाँ कला का अंग शिथिल है, जहाँ रोटी और भूख का सवाल सदा प्रबल रहता है, जहाँ समाज और धर्म, राजनीति और सम्पत्ति के एक कोने में क्रान्ति की गुप-चुप चिनगारियाँ कभी-कभी सुलग उठती हों, कला मुख्य अंग नहीं बन सकती। इसलिए हमारे इस साहित्य-तपस्वी ने कला को कला के लिए माननेवालों का घोर विरोध किया है। वे ऐसी कोई चीज़ साहित्य में देखने के आदी नहीं थे जो उसके प्राणों में स्फूर्ति उत्पन्न न कर सके।

प्रेमचन्दजी ने साहित्य, समाज, राजनीति के क्षेत्रों में क्रान्ति का बीजारोपण किया है जो आगे चलकर विशाल वृक्ष में परिणत होगा, जिसकी सुशीतल छाया में सुखी राष्ट्र का निर्माण होगा। उनका साहित्य "स्वस्थ साहित्य है, जिसमें जागृति की औषधि है, जिसकी नींव पर राष्ट्र के साहित्य का विशाल भवन खड़ा होगा। और राष्ट्र अपने साहित्य के इस सूत्रधार का चिरकाल तक अभिनन्दन करता रहेगा।

●

७ | उपेन्द्रनाथ 'अश्क'

'भाई, मनुष्य का बस हो तो कहीं देहात में जा बसे, दो-चार जानवर पाल ले और जीवन को देहातियों की सेवा में व्यतीत कर दे।' (९ जुलाई, १९३६)

यह पत्र जिसमें से मैं उक्त पंक्तियाँ दे रहा हूँ, स्व० प्रेमचन्दजी ने मुझे अपनी उस लम्बी बीमारी के शुरू में लिखा था जो अन्त में उनकी जान लेकर रही। उम्र का अधिक भाग शहरों में बिताने पर भी प्रेमचन्द आयुपर्यन्त देहात में रहे। यह बात कुछ असंगत-सी जान पड़ती है परन्तु यदि आप उनके जीवन और उसकी हलचलों में रहनेवाले शांतिप्रिय दिल से अभिज्ञ हैं, उस दिल की गहराई में ग़ोता लगा सकते हैं तो आपको ज्ञात होगा कि शरीर के नाते चाहे वह नगर में रहे हों परन्तु मन के नाते वह सदैव देहात में रहे; देहातियों — निरीह, निर्धन और भोलेभाले देहातियों के साथ रहे; उनके दुःख-दर्द में शरीक होते रहे और उन्हें विपत्तियों के गहरे खड्ड से निकाल कर उन्नति के उच्च शिखर पर पहुँचाने के स्वप्न देखते रहे।

मैं प्रेमचन्द और देहात को पृथक्-पृथक नहीं समझता। एक की याद आते ही मेरे सामने दूसरे का चित्र खिंच जाता है और यद्यपि मुझे उनके समीप रहने का सुअवसर प्राप्त नहीं हुआ और मैं नहीं जान सका कि वह बाह्यरूप से कितने देहाती थे परन्तु उनकी अमर कृतियों को देखकर, उनका अध्ययन करके मैं इसके अतिरिक्त किसी नतीजे पर नहीं पहुँच सका कि देहात की रूह उनकी नस-नस में बसी हुई थी। शहरों में रहते हुए भी वह देहात में साँस लेते थे, शहरों में रहते हुए भी वह देहात की उन्नति तथा प्रगति के विषय में सोचते थे। वह जानते थे, भारत देहात में बसता है, उसकी स्वतन्त्रता और उन्नति देहातियों की स्वतन्त्रता और उन्नति पर निर्भर है। जब तक देहाती, अंधश्रद्धा, झूठी मर्य्यादा, अशिक्षा, जहालत और कर्ज़े के बोझ तले दबे हुए हैं तब तक भारत भी स्वतन्त्र नहीं हो सकता, वह भी दासता की बेड़ियों में जकड़ा रहेगा।

स्व० प्रेमचन्दजी ने देहात पर बीसियों कहानियाँ लिखी हैं, 'पंच परमेश्वर,'

'बेटी का धन' 'नमक का दारोग़ा' आदि । और दूसरी कहानियाँ देहात के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डालती हैं, परन्तु अपने उपन्यासों में से मुख्य की नींव भी उन्होंने देहात और उनकी संस्कृति पर ही रखी है। मैं उनके बृहद् उपन्यासों से यह बताने का प्रयास करूँगा कि शहरों की हलचल, सरगरमी और चकाचौंध ने उनके हृदय से देहात के उस शान्तिप्रद, सरल और मादक वातावरण को नहीं भुला दिया था जहाँ वह पैदा हुए, पले और परवान चढ़े। उनके उपन्यासों में 'रंगभूमि', 'कर्मभूमि', 'प्रेमाश्रम' और 'गोदान' अधिकतर देहात की राम कहानी ही कहते हैं और बताते हैं कि देहातियों के पैरों में कौन-सी बेड़ियाँ पड़ी हुई हैं और कौन-सी चीजें उन्हें घुन की भाँति अन्दर-ही-अन्दर खाये जाती हैं ।

प्रेमचन्द के गाँव

'उत्तरीय गिरिमाला के बीच में एक छोटा-सा हरा-भरा गाँव है, सामने गंगा तरुणी की भाँति हँसती, खेलती, नाचती-गाती चली जा रही है। गाँव के पीछे बड़ा पहाड़ किसी वृद्ध जोगी की भाँति जटा बढ़ाए, काला और गम्भीर, अपने विचारों में निमग्न खड़ा है। यह गाँव मानो उसके बचपन की याद है, मनोरंजन से परिपूर्ण, अथवा भरपूर जवानी का कोई सुनहला स्वप्न । गाँव में मुश्किल से बीस-पचीस झोंपड़े होंगे। पत्थर के टेढ़े-मेढ़े टुकड़ों को ऊपर नीचे रखकर दीवारें बनाई गई हैं। उन पर बनकट की टट्टियाँ हैं। इन्हीं काबकों में इस गाँव के वासी अपनी गाय, बैल, भेड़, बकरियों के लिए राम जाने कब से बसे हुए हैं।' (कर्मभूमि)

नगर के जीवन से तंग आये हुए अमरकान्त को यह गाँव सुन्दर और सुरम्य लगा। वह कहते भी हैं, 'ऐसा सुन्दर गाँव मैंने नहीं देखा, नदी, पहाड़, जंगल; इसका तो समा ही निराला है, जी चाहता है यहीं रह जाऊँ और कहीं जाने का नाम न लूं।' अमरकान्त ही क्यों, कोई भी प्रकृति-प्रेमी वहाँ जाकर अपनी तप्त आत्मा को शान्त कर सकता है। भारत के देहात प्रकृति के ही रूप हैं। जहाँ पहाड़ हैं, नदी है, हरे-भरे वृक्ष हैं, खेत हैं, वहाँ पत्थर अथवा मिट्टी के बने हुए छोटे-छोटे घरों का चित्र भी मस्तिष्क में खिंच जाता है। नगर तो प्रकृति के सुन्दर शरीर पर फोड़े हैं, उसकी सुन्दरता के डाकू हैं। यदि नागरिकों की कुत्सित चालों ने इन देहातियों के जीवन को तल्ख न कर दिया होता, तो शहर से देहात में जानेवाला सचमुच ही वहाँ से आने का नाम न लेता।

एक दूसरी जगह प्रेमचन्द ने 'बेलारी' में फागुन के आगमन का वर्णन करते हुए लिखा है —

'फागुन अपनी झोली में नवजीवन की विभूति लेकर आ पहुँचा। आम के पेड़ दोनों हाथों से बौर की सुगन्ध बाँट रहे थे और कोयल आम की डालियों में छिपी हुई संगीत का गुप्त दान कर रही थी।' (गोदान, पृष्ठ ३४१)

देहात की यही सुन्दरता है जो प्रेमचन्द को बार-बार अपनी ओर खींचती रही

है और यही सुन्दरता है जिसका चित्र खींचते समय प्रेमचन्द — ऐसा प्रतीत होता है — उसमें खो जाते थे। परन्तु देहात में सुन्दरता ही सुन्दरता हो, आकर्षण ही आकर्षण हो, यह बात नहीं। देहात का आकर्षण, देहात की रमणीयता देहातियों की सम्पन्नता पर निर्भर है। फ़ाकेमस्त के चेहरे पर, भर पेट खानेवाले का-सा नूर कहाँ ? अमरकान्त ने 'कर्मभूमि' में जो गाँव देखा था वह 'गोदान' के बेलारी से भिन्न था। वहाँ के वासी भुक्खड़ नहीं थे। एक आना रोज़ाना अथवा बेगार की मज़दूरी का वहाँ नाम भी न था। अमरकान्त चाहते थे, कोई काम मिल जाये तो गाँव में ही टिक जायें। उनका अभिप्राय जानकर 'गोबर' कहता है — 'काम की यहाँ कौन कमी है, घास भी कर लो तो रुपये रोज की मज़दूरी हो जाय, नहीं तो चप्पल बनाओ, चरसे बनाओ, परिश्रम करनेवाला भूखा नहीं मरता, धेली की मज़दूरी कहीं गयी नहीं।'

परन्तु बेलारी में परिश्रम करने पर भी भूखा रहना पड़ता है, वहाँ मज़दूरी ऐसे आराम से नहीं मिलती। धनिया कहती है —

'कब तक पुआल में घुस कर रात काटेंगे, और पुआल में घुस भो लें तो पुआल खा कर रहा तो न जायगा, तुम्हारी इच्छा हो तो घास ही खाओ, हमसे तो घास न खाई जायगी।'

होरी कहता है — 'मज़दूरी तो मिलेगी, मज़दूरी करके खायेंगे।'

धनिया पूछती है — 'कहाँ है इस गाँव में मजदूरी ?' (गोदान, पृष्ठ ३११)

राय साहब वहाँ मज़दूरी लेते हैं लेकिन एक आना रोज़ देते हैं। दातादीन पण्डित सेतमेंत में या तीन आने रोज़ पर मज़दूरी लेते हैं, परन्तु ऐसी कड़ी कि उनके यहाँ कोई मज़दूर टिकता ही नहीं और बेलारी के समीप ही एक ठेकेदार भी मज़दूरी लेता है लेकिन ऐसी सख्त कि यह मज़दूरी करते-करते होरी अपनी जान से ही हाथ धो बैठता है।

ऐसी हालत में गाँव का चित्र कैसे आकर्षक हो सकता अथवा प्रेमचन्द किस प्रकार अपनी लेखनी के चमत्कार से ही इसे सुन्दर आकर्षक बना देते ? और यदि ऐसा करते भी तो इस चित्र में सूत (Harmony) कहाँ रहता ? इसीलिए जब गोबर नगर से घर लौटता है तो वही गाँव जो सम्पन्नता के दिनों में सुन्दर लगता, मन को शान्ति देता, अब रूखा-फीका और उजड़ा-सा दिखाई देता है। 'कर्मभूमि' के गाँव के पश्चात् अब 'गोदान' के इस गाँव का भी नक़शा देखिये, कितनी दीनता है और कितना दारिद्रय।

'गोबर ने घर की दशा देखी तो ऐसी निराशा हुई कि इसी वक्त वहाँ से लौट जाय। घर का एक हिस्सा गिरने-गिरने को हो गया था, द्वार पर केवल एक बैल बँधा हुआ था वह भी नीमजान। ....'

'और यह दशा कुछ होरी की ही न थी, सारे गाँव पर यह विपत्ति थी। ऐसा एक भी आदमी न था जिसकी रोनी सूरत न हो, मानो उनके प्राणों की जगह वेदना

ही बैठी उन्हें कठपुतलियों की तरह नचा रही हो। .... द्वार पर मनों कूड़ा जमा है, दुर्गन्ध उड़ रही है मगर उनकी नाक में न गन्ध है न आँखों में ज्योति। सरेशाम ही से द्वार पर गीदड़ रोने लगते हैं पर किसी को ग़म नहीं।' (गोदान, पृष्ठ ५९३-५९८)

कहाँ है वह सुन्दरता, वह आकर्षण, वह पवित्रता, जो नगर से आनेवाले को मोह ले, उसका स्वागत करे, उसे बिठा ले कि बस अब तुम मेरी ठंडी छाया में बैठो, मेरी हरियाली से मन को शान्ति दो, मेरे पवित्र वातावरण में साँस लो। प्रेमचन्द यथार्थवादी थे और अपने उपन्यासों में उन्होंने जहाँ-जहाँ देहात का चित्र खींचा है वहाँ प्राकृतिक दृश्यों की सुन्दरता के साथ-साथ देहात की सब से बड़ी दिलकशी — देहातियों के जीवन को भी नहीं भूले।

देहात के मौसम

प्रेमचन्द की क़लम में जादू था। जिस वस्तु का ज़िक्र उन्होंने किया उसका चित्र आँखों के सामने खिच गया। आपने आयु भर कोई गाँव न देखा हो, आपको देहात के मौसमों का कुछ भी ज्ञान न हो, आपको देहात के शीत से पाला न पड़ा हो, आप न जानते हों कि निर्धन किसान पर शरद ऋतु में क्या बीतती है, परन्तु आप प्रेमचन्द की यथार्थवादी क़लम से खींची हुई तस्वीर देखें, सब कुछ जान जायँगे, सब कुछ अनुभव करेंगे। आपके सामने गाँव की सर्दी और उसमें ठिठुरते हुए किसान का चित्र खिच जायगा —

'माघ के दिन थे। महावट लगी हुई थी। घटाटोप अँधेरा छाया हुआ था। एक तो जाड़ों की रात, सरे माघ की वर्षा। मौत का-सा सन्नाटा छाया था। अँधेरा तक न सूझता था। होरी पुनिया के मटर के खेत की मेड़ पर अपनी मँड़ैया में लेटा हुआ था, चाहता था, शीत को भूल जाय और सो रहे; लेकिन तार-तार कम्बल और फटी हुई मिर्जई और शीत के झोंकों से गीली पुआल, इतने शत्रुओं के सम्मुख आने का नींद में साहस न था। आज तमाखू भी न मिली कि उससे मन बहलाता। उपला सुलगा लाया था, पर शीत में वह भी बुझ गया। बेवाय फटे पैरों को पेट में डालकर, हाथों को जाँघों के बीच में दबाकर और कम्बल में मुँह छिपाकर अपने ही सासों से अपने को गरम करने की चेष्टा कर रहा था पर बूढ़ा कम्बल अब उसका साथी तो था मगर अब यह चबानेवाला दाँत नहीं, दुखने वाला दाँत है।' (गोदान, पृष्ठ १९४)

कितनी दर्दनाक तस्वीर है! गरमियों के दिनों में यदि वर्षा न हो तो क्या दशा होती है, ज़रा इसका भी हाल पढ़िये।

'सावन का महीना आ गया था और बगूले उठ रहे थे। कुओं का पानी भी सूख गया था और ऊख ताप से जली जाती थी। नदी से थोड़ा-थोड़ा पानी मिलता था पर उसके पीछे आये दिन लाठियाँ चलती थीं। यहाँ तक कि नदी ने भी जवाब दे दिया; जगह-जगह चोरियाँ होने लगीं, डाके पड़ने लगे। सारे प्रान्त में हाहाकार मच गया।'

और इस दशा में यदि वर्षा हो जाये तो किसानों के दिलों के सूखे कमल किस प्रकार हरे हो जाते हैं। इसका खाका भी प्रेमचन्द ने खींचा है। देखिये —

'बारे कुशल हुई कि भादों में वर्षा हो गई और किसानों के प्राण हरे हुए। कितना उछाह था उस दिन। प्यासी पृथ्वी जैसे अघाती ही न थी और प्यासे किसान जैसे उछल रहे थे, मानो पानी नहीं अशर्फियाँ बरस रही हैं। बटोर लो जितना बटोरते बने। खेतों में जहाँ बगूले उठते थे, वहाँ हल चलने लगे। बालवृन्द निकल-निकल कर तालाबों और पोखरों और गड़हियों का मुआयना कर रहे थे। 'ओ हो तालाब तो आधा भर गया' और वहाँ से गड़हिया की तरफ़ भागे।' (गोदान, पृष्ठ २५१)

कितना सजीव चित्र है! वर्षा होने पर ज़रा देहातियों की व्यस्तता देखिये —

'बरसात के दिन थे। किसानों को ज्वार और बाजरे की रखवाली से दम मारने का अवकाश न मिलता था। जिधर देखिये, हा हू की ध्वनि आती थी? कोई टीन के पीपे पीटता था। दिन को तोतों के झुण्ड-के-झुण्ड टूटते थे, रात को गीदड़ों के गोल, उस पर धान की क्यारियों में पौधे बिठाने पड़ते थे। पहर रात रहे ताल में जाते और पहर रात गए आते थे। मच्छरों के डंक से देह में छाले पड़ जाते थे। किसी का घर गिरता था, किसी के खेत की मेंड़ें काटी जाती थीं। जीवन संग्राम की दोहाई मची हुई थी।' — (प्रेमाश्रम, पृष्ठ २७०)

वर्षा ऋतु के बाद का भी एक चित्र है—

'वर्षा ऋतु समाप्त हो गई थी। देहातों में जिधर निकल जाइये सड़े हुए सन की दुर्गन्ध उड़ती थी। कभी ज्येष्ठ को लज्जित करनेवाली धूप होती थी, कभी सावन को शरमानेवाले बादल घिर आते थे। मच्छर और मलेरिया का प्रकोप था, नीम की छाल और गिलोव की बहार थी। चरावर में दूर तक हरी-हरी घास लहरा रही थी। अभी किसी को उसके काटने का अवकाश न मिलता था।' (प्रेमाश्रम, पृष्ठ २६४)

प्रेमचन्द की दृष्टि कितनी सूक्ष्म है और क़लम में कितनी सफ़ाई है, यह इन कलमी चित्रों को देखकर ही मालूम हो जायगा। सारी आयु देहात में बितानेवाला भी शायद इस बारीकी, इस सफ़ाई से देहात का चित्र न खींच सकता जैसा प्रेमचन्द ने इसके बाहर रहते हुए खींचा है।

देहाती और उनकी दीनावस्था

प्रेमचन्द के देहाती हमारे देहात के, भोलेभाले निरीह, ग़रीब, कर्ज़े के बोझ तले दबे हुए, पुरानी रस्मों और झूठी मर्य्यादा के पाबन्द, धर्म और दीन के बन्धनों में जकड़े हुए, आन की ख़ातिर मर मिटनेवाले, दर्दरस, बेबस, मज़लूम, विपन्न देहाती हैं। वह गुनाह करते हैं; परन्तु उनका गुनाह भी विवशता का दूसरा नाम है, पाप के कड़वेपन से साफ़! उनके पाप में भी उनकी सदा लौ ही टपकती है। उन्हें पाप करते देखकर क्रोध के बदले दया आती है। मैं कहता हूँ, सरकार अथवा दूसरी संस्थाएँ देहात सुधार का शोर

मचाने के बदले प्रेमाश्रम और गोदान की कापियाँ छपवा कर लाख-दो-लाख की संख्या में मुफ़्त बाँट दें तो कहीं अच्छा हो। केवल महकमें और संस्थाएँ खोलने से काम न चलेगा। ज़रूरत इस बात की है कि जन साधारण को देहातियों की इस दीनावस्था का ज्ञान हो जाये और वह यह अनुभव करें कि उनकी ये असेम्बलियाँ, उनके ये चुनाव, उनके ये भाषण, देहात सुधार के सम्बन्ध में उनके ये दावे अभी तक महज़ खोखले साबित हुए हैं। सब स्वार्थ और मतलबपरस्ती के सिवा कुछ नहीं और इनसे देहातियों को कोई लाभ नहीं। उनकी अवस्था अब भी वैसी ही दीन है जैसी पहले थी।

प्रेमाश्रम में मनोहर ग़ौस खाँ को क़त्ल कर देता है; लेकिन क्या वह पापी है? क्या उसके इस अमानुषीय कर्म पर आपके दिल में उसके लिए उपेक्षा पैदा होती है? वह कमज़ोर ग़रीब और मुफ़लिस देहाती है, रात को उसे ठीक तरह सुझाई भी नहीं देता। आयु के साठ पतझड़ देख चुका है, फिर क्या कारण है कि जिस काम को उसका युवक पुत्र बलिष्ट और मज़बूत होते हुए भी करने से झिझकता है उसे वह वृद्ध और दुर्बल होते हुए भी करने के लिए तैयार हो जाता है? यह उसी की जबान से सुनिये। दो घड़ी रात बीतने पर जब सब सो गये हैं, चारों तरफ़ सन्नाटा है, मनोहर बलराज को जगाता है और कहता है —

'अच्छा तो अब राम का नाम लेकर तैयार हो जाओ, डरने या घबराने की कोई बात नहीं। अपने मरजाद की रक्षा करना मरदों का काम है। ऐसे अत्याचारों का हम और क्या जवाब दे सकते हैं। बेइज्ज़त होकर जीने से मर जाना अच्छा है।' (प्रेमाश्रम, पृष्ठ ३०५)

और फिर यही मनोहर उस काम के लिए, जिसका उत्तरदायित्व उस अकेले पर है, सारे-का-सारा गाँव बँधा जा रहा है, तो अपने हाथों अपने जीवन की रस्सी काट देता है। क्या उसका यह काम उसके चरित्र को हमारी नज़रों में ऊँचा नहीं कर देता? कौन जानता है कि आये दिन देहात में जो हत्याएँ होती हैं, डाके पड़ते हैं, लड़ाइयाँ की जाती हैं, उनकी तह में इसी प्रकार के जुल्म काम नहीं करते? इन जुल्मों की रोकथाम अपराधियों को फाँसी की रस्सी पर लटकाकर, अथवा कालेपानी भेजकर नहीं हो सकती; वरन् उन कारणों को दूर करके ही हो सकती है जो इन सीधे-साधे देहातियों को जान जैसी प्यारी चीज़ को तुच्छ समझने के लिए विवश कर देते हैं।

'गोदान' में होरी लड़की को बेचने का पाप करता है। दीनधर्म और मर्यादा पर मर मिटने वाला होरी रूपा जैसी कमसिन लड़की को रामसेवक जैसे अधेड़ व्यक्ति से ब्याह देने को तैयार हो जाता है। लेकिन क्यों? इसलिए कि —

'जीवन के संघर्ष में उसकी सदैव हार हुई; पर उसने कभी हिम्मत न हारी। प्रत्येक हार जैसे उसे भाग्य से लड़ने की शक्ति दे देती; मगर अब वह उस अन्तिम दशा को पहुँच गया था, जब उसमें आत्मविश्वास भी न रहा था कि वह अपने धर्म पर अटल रह सकता है।' (गोदान, पृष्ठ ५८८)

एक दूसरे स्थल पर प्रेमचन्द देहातियों की हीनावस्था का करुणापूर्ण चित्र खींचते हैं —

'चलते-फिरते थे, काम करते थे, पिसते थे, घुटते थे, क्योंकि पिसना और घुटना उनकी तक़दीर में लिखा था। जीवन में न कोई आशा है न कोई उमंग, जैसे उनके जीवन के सोते सूख गये हों और सारी हरियाली मुरझा गई हो। जेठ के दिन हैं, अभी तक खलिहानों में अनाज मौजूद है, मगर किसी के चेहरे पर खुशी नहीं है। बहुत कुछ तो खलिहानों ही में तुलकर महाजनों और कारिन्दों की भेंट हो चुका है। और जो कुछ बचा है वह भी दूसरों ही का है। भविष्य अन्धकार की भाँति उनके सामने है। उनमें उन्हें कोई रास्ता नहीं सूझता। सारी चेतनाएँ शिथिल हो गई हैं। सामने जो कुछ मोटा-झोटा आता है निगल जाते हैं, उसी तरह जैसे इंजन कोयला निगल जाता है। उनके बैल चूनो-चोकर के बग़ैर नाँद में मुँह नहीं डालते; मगर उन्हें केवल पेट में कुछ डालने को चाहिए, स्वाद से उन्हें कोई प्रयोजन नहीं। उनकी रसना मर चुकी है, उनके जीवन में स्वाद का लोप हो गया है।'

इसलिए—

'चाहे उनसे धेले-धेले के लिए बेईमानी करवा लो, मुट्ठी भर अनाज के लिए लाठियाँ चलवा लो। पतन की यह इन्तहा है जब आदमी शर्म और इज्ज़त को भी भूल जाता है।' (गोदान, पृष्ठ ५९८)

इस अवस्था में, इस करुणाजनक शोचनीय अवस्था में, क्या इन परेशान-हाल देहातियों पर, जिनकी इस दीनदशा का कारण नगर और नगरों की फ़ैशनपरस्तियाँ हैं, उपेक्षा के बदले दया नहीं आती ? इस हालत में वह बड़े से बड़ा अपराध भी कर दें तो क्षम्य हैं। दण्ड के भागी यह निरीह देहाती नहीं बल्कि वे लोग हैं जो उन्हें अपनी और दूसरों की हस्ती को भूल जाने के लिए विवश करते हैं ; यह भूल जाने के लिए विवश करते हैं कि वे पशु नहीं, मनुष्य हैं और उनके पहलू में दिल और मस्तिष्क में सोचने की शक्ति मौजूद है।

देहात की जोंकें

देहात की इस नीमजान लाश से जो जोंकें चिमटी हुई हैं और इसके रक्त को अन्तिम बूंद तक चूस जाना चाहती हैं, प्रेमचन्द उनको भी नहीं भूले। 'गोदान' के पण्डित दातादीन, झिंगुरी शाह, मँगरू शाह, पटवारी पटेश्वरीलाल और कारिन्दा नोखेराम और प्रेमाश्रम के ग़ौस खां, फ़ैजुल्लाह, बिसेसर शाह, थानेदार दयाशंकर इत्यादि इन्हीं जोंकों की विभिन्न जातियाँ हैं। देहातियों के शरीर में रक्त का नाम तक नहीं रहा, वे मृतप्राय हो गए हैं परन्तु इस बात से उन्हें कोई मतलब नहीं, उन्हें तो जब तक आशा है चिमटी रहेंगी, लहू चूसती रहेंगी, दया, धर्म, सहानुभूति का उनके यहाँ कोई काम नहीं।

होरी की गाय को, उसका सगा भाई विष देकर कहीं भाग गया है। उसकी

अनुपस्थिति में पुलिस तलाशी करना चाहती है। होरी मर्य्यादा का पाबन्द है, वह नहीं चाहता कि उसके भाई के घर की तलाशी हो और कुल को बट्टा लगे। वह उसका शत्रु ही सही, उसकी वर्षों से सींची हुई आशाओं पर पानी फेर देने वाला ही सही, लेकिन भाई तो उसका ही है; तो क्या उसकी तलाशी से कुल को बट्टा न लगेगा, भाई की इज्ज़त क्या उसकी इज्ज़त नहीं ?

पटवारी पटेश्वरी होरी की इस कमज़ोरी से लाभ उठाना चाहते हैं। होरी के घर खाने को अनाज नहीं, उसे रोटी के लाले पड़े हुए हैं इससे उन्हें क्या ? होरी के घर को चाहे आग लगे चाहे वह विध्वंस हो, वह तो इस सुअवसर पर हाथ रँगेंगे। बढ़कर थानेदार से कहते हैं — 'तलाशी लेकर क्या करेंगे हुज़ूर, उसका भाई आपकी ताबेदारी के लिए हाज़िर है।'

दोनों आदमी ज़रा अलग जाकर बातें करने लगे।

'कैसा आदमी है ?'

'बहुत ही ग़रीब हज़ूर ! भोजन का भी ठिकाना नहीं।'

'सच ?'

'हाँ, हज़ूर, ईमान से कहता हूँ।'

'अरे तो क्या एक पचासे का भी डौल नहीं ?'

'कहाँ की बात, हज़ूर ! दस भी मिल जायें तो हज़ार समझिए। पचास तो पचास जन्म में भी मुमकिन नहीं; और वह भी जब कोई महाजन खड़ा हो जायेगा।'

दारोगाजी में दया का सर्वथा अभाव न हुआ था। उन्होंने एक मिनट तक विचार करके कहा—'तो फिर उसे सताने से क्या फ़ायदा ? मैं ऐसों को नहीं सताता जो स्वयं ही मर रहे हों।'

पटेश्वरी ने देखा, निशाना और आगे पड़ा। बोले—'नहीं हज़ूर, ऐसा न कीजिये, नहीं फिर हम कहाँ जायँगे। हमारे पास दूसरी कौन सी खेती है ?'

'तुम इलाक़े के पटवारी हो जी, कैसी बातें करते हो।'

'जब ऐसा ही कोई अवसर आ जाता है तो आपकी बदौलत हम भी कुछ पा जातें हैं। नहीं पटवारी को कौन पूछता है ?'

'अच्छा जाओ, तीस रुपए दिलवा दो। बीस रुपये हमारे, दस रुपये तुम्हारे।'

'चार मुखिया हैं, इसका तो खयाल कीजिए।'

'अच्छा आधेआध पर रखो और जल्दी करो।'

पटेश्वरी ने झिंगुरी से कहा, झिंगुरी ने होरी को इशारे से बुलाया। अपने घर ले गये; तीस रुपए गिनकर उसके हवाले किये और एहसान से दबाते हुए बोले — 'आज ही कागद लिख देना। तुम्हारा मुंह देखकर रुपए दे रहा हूँ, तुम्हारी भलमंसी पर।'

और होरी तो यह रुपए दे देता परन्तु धनिया ने सब भंडा फोड़ दिया, बोली —

'हमें किसी से उधार नहीं लेना। मैं दमड़ी भी न दूँगी, चाहे मुझे हाकिम के इजलास तक ही चढ़ना पड़े। हम बाकी चुकाने के लिए पचीस रुपए माँगते थे, किसी ने न दिए। आज अँजुरी भर रुपए निकालकर ठनाठन गिन दिए। मैं सब जानती हूँ। यहाँ तो बाँट बख़रा होने वाला था। सभी के मुँह मीठे होते। यह हत्यारे गाँव के मुखिया हैं या ग़रीबों का ख़ून चूसने वाले। सूद-ब्याज, डेढ़ी-सवाई, नजर-नजराना, घूस-घास, जैसे भी हो, ग़रीबों को लूटो। (गोदान, पृष्ठ १८७-१८८)

और ऐसी बीसियों ही घटनाएँ है जहाँ ये देहाती जोंकें ग़रीब देहातियों का ख़ून चूसती हैं। झिंगुरी शाह शक्कर के कारखाने में होरी के एक सौ रुपए हथिया लेता है और बाक़ी के २५ नोखेराम ले लेता है और होरी के घर खाने को दाना तक नहीं। गिरधर मुश्किल से एक आना मुँह में छिपा कर रख लेता है और उसकी ताड़ी पी आता है। ज़रा उसके शब्द सुनिये, कितनी वेदना भरी है —

'झिंगुरिया ने सारे-का-सारा ले लिया, होरी काका। चबैना को भी एक पैसा न छोड़ा। हत्यारा कहीं का। रोया, गिड़गिड़ाया, पर इस पापी को दया न आई।'

आदर्श गाँव

रंगभूमि और गोदान में प्रेमचन्द ने देहात की तबाही का ख़ाका खींचा है। औद्योगिक धंधों के इस युग में कारख़ानादारों के इस दौरे में, जब कि हिन्दुस्तान में भी मशीनों की गड़गड़ाहट का शोर सुनाई देने लगा है, प्रेमचन्द देहात की तबाही और बर्बादी का दृश्य देखते हैं। पांडेपुर भी बनारस के पड़ोस में एक छोटा-सा गाँव ही है। इसके विनाश का हाल पढ़कर प्रसिद्ध अंग्रेजी कविता Deserted Village (ऊजड़ गाँव) की स्मृति ताज़ी हो जाती है। गोदान में देहात की जिस तबाही का ज़िक्र किया गया है उसका कारण हमारे समाज की आधुनिक व्यवस्था और उसकी कुरीतियाँ, ख़राबियाँ, ज़िमीदारों और उनके कारिन्दों के अत्याचार और साहूकारों की ख़ून चूसने वाली सरगरमियाँ हैं। लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि प्रेमचन्द की आँखों के सामने सदैव तारीकी-ही-तारीकी रही है, उन्होंने गिरते, धँसते और विनाश की ओर शीघ्रता से अग्रसर होने वाले गाँव ही देखे हैं। नहीं, उन्होंने आदर्श गाँव का स्वप्न भी देखा है और उस स्वप्न की सत्यता आपको 'प्रेमाश्रम' के लखनपुर से दृष्टिगोचर होगी।

मायाशंकर के उस भाषण में, जो उसने अपने तिलकोत्सव पर किया, इस आदर्श की झलक मिलती है। उसे देहातियों की वास्तविक दशा का ख़ूब ज्ञान है, जब ज्ञानशंकर ने उसे विलायत न जाने दिया था और अपने इलाकों का दौरा करने को कहा, तो उसने उनकी वास्तविक दशा का पूरा-पूरा परिचय पा लिया था। उसने देखा कि —

'चारों तरफ़ तबाही छाई हुई थी, ऐसा बिरला ही कोई घर होगा जिसमें धातु के

बर्तन दिखाई देते हों। कितने घरों में लोहे के तवे तक न थे। मिट्टी के बर्तनों को छोड़कर झोंपड़े में और कुछ दिखाई ही न देता था, न ओढ़ना, न बिछौना, यहाँ तक कि बहुत से घरों में खाटें तक न थीं। और वह घर ही क्या थे ? एक-एक दो-दो छोटी, तंग कोठरियाँ थीं। एक मनुष्यों के लिए, एक पशुओं के लिए। उसी एक कोठरी में खाना, सोना, उठना, बैठना — सब कुछ होता था।'

उसने यह भी देखा कि —

'जो किसान बहुत सम्पन्न समझे जाते थे, उनके बदन पर साबित कपड़े भी न थे, उन्हें भी एक जून चबेना पर ही काटना पड़ता था। वह भी ऋण के बोझ से दबे हुए थे। अच्छे जानवरों के देखने को आँखें तरस जातीं। जहाँ देखो छोटे-छोटे मरियल दुर्बल बैल दिखाई देते थे और खेतों में रींगते और चरनियों पर औंघते थे।' (प्रेमाश्रम, पृष्ठ ६२३-६२४)

इस व्यापक दरिद्रता और दीनता को देखकर माया का कोमल हृदय तड़पकर रह गया था और उसने कम-से-कम अपने कर्तव्य का निर्णय कर लिया था। देखिये, अपने भाषण में वह इसकी घोषणा भी कर देता है —

'मेरी धारणा है कि मुझे किसानों की गर्दनों पर अपना जुआ रखने का कोई अधिकार नहीं। मैं आप सब सज्जनों के सम्मुख उन अधिकारों और स्वत्वों का त्याग करता हूँ जो प्रथा-नियम और समाज-व्यवस्था ने मुझे दिये हैं। मैं अपनी प्रजा को अपने अधिकारों के बन्धन से मुक्त करता हूँ। यह न मेरे असामी हैं न मैं उनका ताल्लुकेदार हूँ। वह सब सज्जन मेरे मित्र हैं, मेरे भाई हैं। आज से वे अपनी जोत के स्वयं जमींदार हैं। अब उन्हें मेरे कारिंदों के अन्याय और मेरी स्वार्थ-भक्ति की यन्त्रणायें न सहनी पड़ेंगी। वह इज़ाफ़े, एख़राज़, बेगार की विडम्बनाओं से निवृत्त हो गए।'

'मेरा अपने समस्त भाइयों से निवेदन है कि वे अपने-अपने हिस्से का सरकारी लगान पूछ लें और वह रक़म ख़जाने में जमा कर दें। मुझे आशा है कि मेरे समस्त भ्रातृवर्ग आपस में प्रेम से रहेंगे और ज़रा-सी बातों के लिए अदालतों की शरण न लेंगे।' (प्रेमाश्रम, पृष्ठ ६२५-६२६)

और इस घोषणा के फलस्वरूप हम प्रेमाश्रम के अन्तिम पृष्ठों में स्वतन्त्र और सम्पन्न लखनपुर की तस्वीर देखते हैं। मायाशंकर अपने दौरे पर हैं। इसी सिलसिले में लखनपुर भी आये हैं। देखते हैं कि वही लखनपुर, जो तबाही और बर्बादी का मसकिन था, अब स्वर्ग को लजानेवाला बन गया है। वहाँ खूब रौनक और सफ़ाई है। 'प्रायः सभी द्वारों पर सायबान थे। उनमें बड़े-बड़े तख्ते बिछे हुए थे। अधिकांश घरों पर सुफ़ेदी हो गई थी। फूस के झोंपड़े ग़ायब हो गए थे, अब सभी घरों पर खपरैल थे। द्वारों पर बैलों के लिए पक्की चरनियाँ बनी हुई थीं और कई द्वारों पर घोड़े बँधे दिखाई देते थे। पुराने चौपाल में पाठशाला थी और उसके सामने एक पक्का कुआँ और धर्मशाला था। मायाशंकर सुक्खू चौधरी के मन्दिर पर रुके। वहाँ इस समय बड़ी बहार

थी । चबूतरे पर इस समय चौधरी बैठे हुए रामायण पढ़ रहे थे और कई स्त्रियाँ बैठी हुई सुन रही थीं । मायाशंकर घोड़े से उतर कर चबूतरे पर जा बैठे । उन्हें देखते ही गाँव वाले अपने काम धन्धे छोड़कर आ गये थे, सब ने उन्हें घेर लिया और सबकी कुशल क्षेम पूछने लगे ।'

गाँव की यह कायापलट उस घोषणा के केवल दो वर्ष बाद हो गई है । अब तनिक देहातियों की आर्थिक स्थिति का हाल भी सुनिये और पहली दशा से उसका मिलान कीजिए । कादिर मियाँ, जिन्हें मायाशंकर चाचा कहकर पुकारते हैं, सहर्ष अपनी हालत बयान करते हैं —

'बेटा, और क्या दुआ दें ? रोंयें रोंयें से तो दुआ निकल रही है । मुंशी को देखो, पहले २० बीघे का काश्तकार था, १०० रु० लगान देने पड़ते थे । दस बीस साल नज़राने में निकल जाते थे । अब जुमला २० रु० लगान है और नज़राना नहीं लगता । पहले अनाज खलिहान से घर तक न आता था । आपके चपरासी कारिन्दे वहीं गला दबाकर तुलवा लेते थे । अब अनाज घर में भरते हैं और सुभीते से बेचते हैं । दो साल में कुछ नहीं तो तीन-चार सौ बचे होंगे । डेड़ सौ की एक जोड़ी बैल लाये, घर की मरम्मत कराई, सायबान डाला । हाँडियों की जगह ताँबे और पीतल के बर्तन लिये और सबसे बड़ी बात यह है कि अब किसी की धौंस नहीं । मालगुजारी दाखिल करके चुपके से घर चले आते हैं । नहीं तो जान सूली पर चढ़ी रहती थी । अब अल्लाह की इबादत में भी जी लगता है, नहीं तो नमाज़ भी बोझ मालूम होती थी ।'

(प्रेमाश्रम, पृ० ६४३)

'और यही हालत दुखरन भगत, कल्लू, डपटसिंह और बलराज इत्यादि का है । डपटसिंह के पास तो एक घोड़ा भी है । ज़िला-बोर्ड का सदस्य हो गया है । इसके अतिरिक्त जहाँ पहले कोई समाचारपत्र का नाम तक न जानता था वहाँ अब छोटा-सा वाचनालय भी है, अच्छे-अच्छे अख़बार भी आते हैं । गाँव वालों की नैतिक उन्नति भी काफ़ी हुई है और बलराज के क़ौल के मुताबिक 'गाँव में अब रामराज है ।'

मायाशंकर ने देहातियों की जो दशा स्वयं देखी थी और जो दशा उसने बना दी है, उसमें कितना अन्तर है ! यह है देहातियों का वह स्वर्ग जिसके स्वप्न प्रेमचन्द देखते थे । काश हमारे जमींदारों में एक भी मायाशंकर निकलता तो प्रेमचन्द को अपनी जीवन-सन्ध्या में निराश होकर 'गोदान' न लिखना पड़ता ।

८ | ऋषभचरण जैन

मुझे प्रेमचन्द को पास से देखने और समझने का कुछ मौक़ा मिला था और मेरी राय है कि वह सचमुच बहुत बड़े आदमी थे। यों 'बड़ा आदमी' उसे भी कहा जाता है जिसके पास बहुत-सा रुपया हो, और उसे भी जो बहुत लिखा-पढ़ा हो या जिसने अपनी आत्मा को ऊपर उठा पाया हो। लेकिन इन सभी तरह के बड़े आदमियों के बड़प्पन का पता हमें उनकी बाहरी तड़क-भड़क देखकर या धुआँधार स्पीच या फिर आत्म-ज्ञान के लम्बे लेक्चर सुनकर ही होता है। प्रेमचन्द एक ऐसे आदमी थे जिनके पास रुपया ख़ुदा का नाम ही था, किसी ख़ास तरह की डिग्री भी नहीं थी, जिसके सहारे उनकी गिनती दुनिया के बड़े भारी पढ़े-लिखों में की जा सकती। फिर भी वह एक बहुत बड़े आदमी थे।

प्रेमचन्द का जीवन सख़्तियों और मुसीबतों की एक किताब है। उन्हें न बचपन में गेंद बल्ला खेलना नसीब हुआ, न जवानी में इश्क़बाज़ी का मौक़ा मिला; अधेड़ होने पर भी दिल, दिमाग़ और तन के लिए वह चीज़ें हासिल न हुईं, जिनके सहारे आज के साहूकार बुढ़ापे में जवान बने रहते हैं। उन्होंने हमेशा मोटा खाया और मोटा पहना। वह ग़रीब बाप के बेटे थे और ग़रीबी की डरावनी छाया में उन्होंने स्कूल और कॉलेज की सीढ़ियाँ पार कीं। जिस वक्त वह बी० ए० पास करके एक स्कूल के मास्टर हुए, तो उनके जीवन की ताज़गी जा चुकी थी, वह अब जवानी और बुढ़ापे की चौखट पर खड़े थे। उनके मिज़ाज का रङ्ग फीका पड़ गया था, और दुनिया की तरफ़ उनकी तबीयत का रुख़ अजीब बन गया था। यही वह ज़माना था, जब हिन्दुस्तान में गाँधी की आँधी चल रही थी और लोग सूखे तिनकों की तरह उसमें उड़े जा रहे थे। लोग मुल्क पर क़ुर्बान हो जाने के लिए पागल हो रहे थे। तभी ही आँधी के एक झोंके ने प्रेमचन्द को भी हिला दिया और उन्होंने सरकारी नौकरी से इस्तीफ़ा दे दिया।

फिर उनका कानपुर के मारवाड़ी स्कूल में हेडमास्टर बनना, एक विधवा से

विवाह करना, पहले नवाबराय और फिर प्रेमचन्द के नाम से उर्दू और हिन्दी में लिखना — यह ऐसी बातें हैं जिन्हें आप में से शायद सभी जानते होंगे या हाल ही में अखबारों में उनके बारे में निकले हुए लेखों में आपने पढ़ लिया होगा। मैं यहाँ ऐसी कुछ बातें बताना चाहता हूँ, जो बहुत ही कम लोगों को मालूम हैं और जिनसे उनके जीवन के इस-उस पहलू पर रोशनी पड़ती है।

प्रेमचन्द से मैं जब पहले-पहल मिला तो मैं थोड़ा-बहुत लिखना शुरू कर चुका था। लेकिन यह वह स्टेज था, जब आदमी खुद नहीं जानता कि बड़े लोग उसकी चीज़ों के बारे में क्या सोचते हैं। मेरा एक नावल 'मास्टर साहब' तभी छप चुका था और उस वक्त मुझे उस पर कुछ इतना नाज़ था कि मैंने इस डर से प्रेमचंद के पास उसकी कापी न भेजी कि कहीं वह उस पर नापसन्दी की मुहर न लगा दें। इस वक्त वह 'माधुरी' में थे। मैं चाहता था, खुद मिलने पर अगर उनके साथ तबीयत की मीज़ान खा सकी तो 'मास्टर साहब' उन्हें दिखाऊँगा। लेकिन मेरे अचरज की हद न रही, जब उन्होंने खुद ही 'मास्टर साहब' का ज़िक्र छेड़ा और बताया कि उसे उन्होंने पढ़ा है और वह उन्हें पसन्द आया है।

तब तो उनसे बातचीत का लंबा सिलसिला छिड़ा। वह एक निहायत सीधी सादी बैठक में निवार के नंगे पलँग पर बैठे थे जहाँ न गद्दा था, न तकिये थे, न ग़ालीचों की बहार थी और न झाड़-फ़ानूस ही दिखाई देते थे। बदन पर शायद गाढ़े की एक घटिया सिलाई की क़मीज़ और धोती थी; और अधपके बाल और किसान जैसा चेहरा लिए उस हिन्दी के उपन्यास-सम्राट से ऐसी ऐसी बातें हुईं, जिन्हें सुनकर मुझे अनेक बार चमकना पड़ा।

तभी प्रेमचन्द के विचार जानने का वास्ता पड़ा।

वह पक्के 'आइडियलिस्ट' थे। अपने उपन्यास-कहानियों में उन्होंने शायद मोटे-राम शास्त्री की 'सत्याग्रह' और कुछ दूसरी कहानियों को छोड़कर हमेशा 'आइडियलिज़्म' का पल्ला पकड़े रक्खा। मेरा उनसे इस मामले में विरोध था। मैं कहता था कि उपन्यास-कहानी के मामले में हमें सन्त, महन्त, लेक्चरर या धर्म-गुरु बनने की ज़रूरत नहीं; कहानियाँ ज़िन्दगी की तस्वीरें हैं और ज़िन्दगी कमज़ोरियों का मजमुआ है। उनका कहना था कि कहानी लिखी जाती है दिलचस्पी के लिये और शिक्षा के लिए। मेरा कहना था, कहानी दिलचस्पी के लिए ज़रूर लिखी जाती है, लेकिन दिल की भूख मिटाना कहानी का सबसे पहला काम है। हो सकता है कि आपकी भूख सदाचार का [illegible] देनेवाली कहानी से मिटती हो, लेकिन मेरी भूख, गी द मोपासाँ, एण्टन चेखव, वाशिंगटन इर्विंग और रवीन्द्र की कहानियों से मिटती है; या खुद अपनी कहानियों से भी मिटती है। लेकिन इन सब बातों के जवाब में उन्होंने एक मार्के की दलील दी थी जिसका मतलब था कि, हिन्दुस्तान को फ़िलहाल प्रेमचन्द की कहानियों की ज़रूरत है, गी द मोपासाँ और एण्टन चेखव की नहीं।

सच, हिन्दुस्तान को आज भी प्रेमचन्द की कहानियों की ही सबसे ज्यादा जरूरत है। क्या उनके 'सप्त-सरोज' की सातों कहानियाँ ऐसी चीजें नहीं, जिसे हजारों बरस तक एक ऋषि की वाणी समझकर हमारे बच्चे पढ़ें ? क्या उनकी चार सौ के क़रीब कहानियों में जीवन का कोई ऐसा पहलू है, जो ज़ाहिर होने से रह गया हो ? क्या उनकी कहानियाँ हमें हिन्दुस्तान के कल, आज और आनेवाली कल की चमका देनेवाली झाँकी नहीं देतीं ? प्रेमचन्द की बहुत-सी कहानियाँ हमारी राय में धर्ममन्दिरों तक में पढ़ी जाने लायक़ हैं।

उसूल का मतभेद दूसरी बात है, लेकिन मैं सच्चे दिल से प्रेमचन्द को हिन्दुस्तान का प्रतिनिधि कहानीकार (Representative story-writer) मानता हूँ। खेत, किसान, गाँव, ढोर, खलिहान — हिन्दुस्तान की बपौती है और इन चीजों के इर्द-गिर्द घूमती हुई जितनी कहानियाँ प्रेमचन्द ने लिखी हैं, उतनी और किसी ने नहीं। इसीलिए मैंने प्रेमचन्द्र को हिन्दुस्तान का Representative story-writer कहा है और जहाँ तक मैं समझता हूँ — ठीक कहा है।

लेकिन जब एक बार मैंने उनसे पूछा कि हिन्दी में आपकी सबसे अच्छी कहानी कौन सी है, तो उन्होंने सीधे-साधे ढँग से जवाब दिया कि उनकी सबसे अच्छी कहानी अभी छपी ही नहीं है। कितना अजीब जवाब था ! सच तो यह है कि इसी जवाब में उनकी महानता का भेद छिपा हुआ था।

मैंने प्रेमचन्द का हरेक उपन्यास पढ़ा है। यों तो उनके सभी उपन्यास लोगों ने पसन्द किये हैं, लेकिन 'रंगभूमि' मेरी राय में उन्हीं का नहीं, हिन्दुस्तान का सबसे अच्छा उपन्यास है। 'रंगभूमि' में कहानी है, काव्य (Poetry) है, फ़िलौसफ़ी है, मनोविज्ञान (Psychology) है और ढूंढने पर नीति, धर्म और सोशलिज़्म का भी बहुत-सा मसाला मिल जायगा। 'रंगभूमि' हमारी ज़िन्दगी का खाका है, जिसके जोड़ की कल्पना थैकरे के 'वैनिटी-फ़ेयर' में और मेरी कॉरेली के 'वेण्डेट्टा' में ज़रा-ज़रा मिल जाय तो मिल जाय, वरना दुनियाँ में और कहीं नहीं मिलेगी।

'रंगभूमि' में तो हमारी आत्मा की जीती-जागती तस्वीर खड़ी दिखाई देती है, जहाँ हम अपने घर का, अपनी सोसाइटी का, अपने देश का सीधा और सच्चा खाका देख पाते हैं।

'प्रेमाश्रम' और 'सेवासदन' भी प्रेमचन्द की जानी हुई चीज़ें हैं। लेकिन इन चीज़ों को सिर्फ़ उपन्यास कहना उनके साथ बेइन्साफ़ी करना है। मैं तो दोनों चीज़ों को बीसवीं सदी के 'रामायण', 'महाभारत', समझता हूँ, जिसमें उन्होंने हिन्दुस्तान की सोसाइटी के असल रूप की बढ़िया Allegory (अलंकृति — रूपक) की है।

प्रेमचन्द के दूसरे उपन्यास 'प्रतिज्ञा', 'निर्मला', 'ग़बन', 'कर्मभूमि', 'गोदान' अपने-अपने ढँग को अच्छी चीज़ें हैं और, ऊपर लिखे तीनों उपन्यासों की लाइन में एक के बाद दूसरी का अपना-अपना अच्छा स्थान है।

प्रेमचन्द की आदत में 'प्रोपेगण्डा' की जगह न थी। उन्होंने इतनी किताबें लिखीं, लेकिन एक छोटी-सी कहानी 'समर-यात्रा' को छोड़कर कभी उनकी कोई चीज़ ज़ब्त न हुई। उनकी निगाह हर किसी की तरफ़ हमदर्दी से भरी थी। वह आदमी की कमज़ोरियों को भूल ही नहीं जाते थे, उनमें दिलचस्पी लेते थे और उनकी इज़्ज़त करते थे। उनका भाव न सरकार के लिए नफ़रत-भरा था, न हिन्दू-मुसलमान, ईसाई के लिए उनके मन के विचारों में भेद था। वह आदमी थे और आदमियों के ही प्रतिनिधि (Representative) थे, और उन्होंने कभी अपने आपको विचलित न होने दिया।

प्रेमचन्द का स्वभाव बहुत ही हँसमुख और दिल्लगीबाज़ था। बात का जवाब ऐसा बावन तोले पाव रत्ती देते थे, कि सुननेवाले दङ्ग रह जावें। चीज़ों के बारे में उनका भाव बहुत ही आनन्द-भरा रहता था। उनकी क़लम में और सूरत में जो सिधाई हम देखते हैं, उनकी बातों से ऐसा न लगता था। वह एक मिठास-भरे आदमी थे, जिनके चेहरे-मोहरे पर चाहे वक्त की सख़्ती असर कर गई हो; लेकिन दिल ज्यों-का-त्यों, कच्चे दूध की तरह मधुर और स्वच्छ था। पाँच बरस पहले जब वह दिल्ली आये थे, तो मैं जैनेन्द्र और वह कुतब मीनार की सैर को गये। साथ में थोड़ी-सी पूड़ियाँ थीं। खाने बैठे तो सवाल हुआ कि पानी कौन लावे। मैंने कहा, जो जायेगा, वह घाटे में रहेगा; क्योंकि पूरियाँ कम हैं। जैनेन्द्र की राय थी कि मुझे ही यह खतरा लेना चाहिए। लेकिन प्रेमचन्द ने कहा — मैं बूढ़ा आदमी हूँ, मैं जाता हूँ, मुझ पर आप लोग ज़रूर ही रहम करेंगे। पानी तो उन्हें न लाने दिया गया, लेकिन उनकी बात ने हमें खूब हँसाया। जब मैंने उनसे कहा कि कुतुब की लाट पर चढ़ा जाये; तो हज़रत जवाब देते हैं कि नीचे खड़े हुए इस लाट का बड़प्पन हमारे दिलों पर है, ऊपर चढ़ने पर वह कम हो जायगा; इसलिए ऊपर चढ़ना मुनासिब नहीं। इसी मौक़े पर हमने एक फ़ोटो खिंचवाया। जब इस फ़ोटो की कापी प्रेमचन्द को भेजी गयी, तो उन्होंने लिखा — 'फ़ोटो मिला; मेरा मुँह टेढ़ा आया है, क्या करें, नसीब ही टेढ़ा है।' इसी मरतबा एक और घटना भी हो गई थी। उस मौक़े पर दिल्ली की हिन्दी-प्रचारिणी-सभा ने उन्हें मान-पत्र देने का निश्चय किया। प्रेमचन्द शायद उसी रात को चले जानेवाले थे। लेकिन अकस्मात् एक पंजाबी सज्जन ने खड़े होकर कहा—'साहबो, मैं प्रेमचन्द जी को न जाने दूँगा। बरसों पहले की बात है; मेरे बुरे दिन आ गये। मैं लाहौर का निवासी हूँ, लेकिन बुरे वक्त में अपना शहर छोड़कर रोज़गार की तलाश में कलकत्ता पहुँचा। उस समय मेरी जेब में सिर्फ़ १) था। इत्तफ़ाक से स्टाल पर एक उर्दू का रिसाला बिक रहा था, जिसमें मुन्शी प्रेमचन्द की एक 'मन्त्र' नाम की कहानी छपी थी। साहबो, मैंने जेब के उस आख़िरी रुपए का मोह छोड़कर रिसाला खरीद लिया और इस कहानी ने मेरे जीवन में ऐसा 'मन्त्र' फूंका कि आज मेरा जीवन एक दम बदल गया है।' यह महाशय अब दिल्ली में ठेकेदारी का व्यापार करते हैं और सम्पन्न हैं। उन्होंने प्रेमचन्द को जाने न दिया और दूसरे दिन सब लोगों को अपने यहाँ आमन्त्रित किया।

प्रेमचन्द चले गये हैं। लेकिन क्या इस तरह के छोटे-मोटे लेख में हम उनकी महानता का वर्णन कर सकते हैं ? इसके लिए तो वक्त चाहिए और क़ाबिल लिखने-वाले भी चाहिए। मैं तो फ़िलहाल इस तरफ़ लोगों का ध्यान बटाना चाहता हूँ कि हिन्दुस्तान के इतने बड़े आदमी के जीते जी हम उसके साथ इन्साफ़ न कर सके।

६ | केशरीकिशोर शरण

१६३१, नवम्बर की २१ वीं तारीख। शाम का वक़्त, साढ़े छः बजे पश्चिम से आनेवाली एक्सप्रेस पटना जङ्क्शन पर अभी लगी हुई थी। प्रेमचन्द जी आज पटना आनेवाले थे और उन्हीं के स्वागत के लिए हम लोग स्टेशन पहुँचे हुए थे; परन्तु हम में से किसी ने उन्हें देखा न था, इसलिए बड़ी चिन्ता थी, उन्हें कैसे पहचाना जायगा। 'हिन्दी भाषा और साहित्य' का प्रथम संस्करण हाल में ही निकला था। उसमें प्रेमचन्द जी की एक तस्वीर थी। चौड़ा, गोल मुँह; उभरा हुआ ललाट; बड़ी-बड़ी, धनुषाकार घनी मूँछें। पोशाक भी सोफ़ियाना थी। फ़्लैनेल का पैंट, मफ़लर और कोट। इसी तस्वीर को लेकर हम लोग स्टेशन पर आये थे। प्रेमचन्दजी-जैसे महान् कलाकार की रूप-रेखा हमारे मन में इससे कहीं अधिक भड़कदार और रोबीली थी।

रेलगाड़ी आई और सेकेंड क्लास, इंटर, फ़र्स्ट क्लास के सभी डब्बे हम लोगों ने देख लिए पर हमारे अनुमान का कोई आदमी नज़र नहीं आया। तब थर्ड क्लास की बारी आई। गाड़ी का डब्बा-डब्बा हम लोगों ने छान डाला; पर मुसाफ़िरों में कोई हिन्दी का औपन्यासिक सम्राट् न निकला। रेलवे-मेल-सर्विस के आफ़िस के पास अचानक उसी शक्ल और पोशाक का एक मुसाफ़िर दीख पड़ा। हम लोग दौड़कर उसके पास जा पहुँचे। 'क्यों जनाब आप लखनऊ से आ रहे हैं?'

'नहीं तो?'

हमारे बेतुके प्रश्न पर वह कुछ झुंझला से पड़े और हम लोग अपनी झेंप मिटाने के लिए मुसाफ़िरों की जमात में फुर्ती से मिल गए।

और वह सज्जन प्लेटफ़ॉर्म पार कर रेलवे लाइन की बग़ल-बग़ल सीधे जाने लगे। थोड़ा-सा सफ़री समान था जो एक कुली के सिर पर था।

गाड़ी जब चली गई तो हम लोगों ने सोचा, उनसे यह तो पूछा ही न गया कि आप प्रेमचन्द हैं? मुमकिन है, प्रेमचन्द जी लखनऊ से न होकर बनारस से आ रहे हों।

हम लोग फिर दौड़ पड़े और गुमटी के पास जाकर उन्हें रोका — क्यों जनाब, आप बनारस से आ रहे हैं ?

अबके वह हँस पड़े । उन्होंने पूछा — आखिर बात क्या है ?

प्रेमचन्दजी इसी गाड़ी से आने वाले थे और उनका चेहरा आपसे मिलता-जुलता-सा है । क्षमा कीजिएगा ।'

'मैं प्रेमचन्द नहीं हूँ ।'

और वह चल पड़े ।

❀ ❀ ❀

दो घंटे के बाद पंजाब मेल आई । इस बार भी हम लोगों ने बड़ी तत्परता के साथ खोज की । तीन-चार साहब उतरे, दो एक हिन्दुस्तानी भी — मतलब, हिन्दुस्तानी लिबास वाले, पर उनमें से कोई हमारो कल्पना का, हमारी किताब की तस्वीर का प्रेमचन्द न निकला ।

सभी मित्र हताश और निरुत्साह घर लौट चले । मेरी आँखों तले अँधेरा छा गया । पटना-साहित्य-परिषद् का मन्त्री मैं था, मेरे ही निमन्त्रण पर प्रेमचन्दजी आनेवाले थे । शहर में इसकी बड़ी धूम थी । विज्ञापन भी खूब किया गया था । अब अगर वह नहीं आये तो जनता को मैं कैसे मुँह दिखलाऊँगा । एक तो पटना जैसी मनहूस जगह पर साहित्यिकों की अकृपा बराबर रहती है, कभी कोई साहित्यिक यहाँ नहीं आता, फिर प्रेमचन्द जैसे व्यक्ति का आना तो बिल्कुल असंभव था । उन्हें पटने के निवासियों ने कई बार बुलाया था, पर वह बराबर अस्वीकार कर देते थे, फिर भी, मेरी मेहनत पर लोगों को भरोसा था, और इसीलिए लोगों को विश्वास था कि प्रेमचन्द अवश्य आयेंगे । आज यह विश्वास भी जाता रहा । मैं इसी उधेड़-बुन में रात भर बेचैन रहा । तबियत रह-रहकर झुँझला उठती थी । प्रेमचन्द जैसे सहृदय, ग़रीबों के सहायक, निरीहों के हमदर्द कलाकार मेरी बेबसी और बदनामी की कल्पना नहीं कर सके । अफ़सोस !

रविवार की शाम को बैठक थी और सबेरे ६ बजे के करीब एक एक्सप्रेस आती थी । बस यही आखिरी आसरा था । स्टेशन पर ठीक वक़्त पर जा पहुँचा । श्री कृष्ण-गोपाल अवस्थी भी आ गये थे ।

ट्रेन आई, लगी और चली गई । सैकड़ों आदमी उतरे और और चढ़े पर प्रेम-चन्द नहीं आये, नहीं आये । हम दोनों मुसाफ़िरखाने की तरफ़ बढ़े । देखा, सीढ़ी के पास एक अधवयस सज्जन जिनके बाल कुछ सुफ़ैद हो चले थे और सफ़र की थकावट से कुछ खिन्न-से हो रहे थे, गुम-सुम खड़े हैं और कुली उनका ट्रंक सर पर और बिस्तरा हाथ में लिए पूछ रहा है — बाबू, कहाँ चलें ?

इस मुसाफ़िर को कल रात ही की पंजाब मेल से उतरते देखा था, नज़दीक जाकर पूछा—'क्यों जनाब, आप लखनऊ से आ रहे हैं ?'

'हाँ भाई, लखनऊ से ही आ रहा हूँ।'

'आप प्रेमचन्दजी हैं ?'

'हाँ, प्रेमचन्द हूँ।'

स्वर उनका कुछ कठोर हो पड़ा था। मैंने प्रणाम करते हुए उनके हाथ से मैले खद्दर के रूमाल में बँधे पीतल के लोटे को ले लिया और अत्यन्त ग्लानि के साथ कहा — मैं केशरीकिशोर हूँ।

उनके चेहरे पर किंचित क्रोध, किंचित संतोष और प्रसन्नता की रेखा एक साथ ही झलक पड़ी। पर कोई शब्द उनके मुंह से न निकला। तब तक फ़िटन आ लगी। और हम तीनों उस पर चढ़ बैठे। कुली को पैसे देकर मेरे मित्र ने बिदा कर दिया और फ़िटन चल पड़ी।

मेरा मन गर्व से, खुशी से, संकोच और ग्लानि से ऐसा भर गया था कि मैं यह भी न पूछ सका — रास्ते में कोई तकलीफ़ तो न हुई।

तबतक वह भी कुछ स्थिर और संतुष्ट-से दीख पड़े।

हिम्मत बढ़ी। पूछा — रास्ते में कोई तकलीफ़ तो नहीं हुई ?

'तकलीफ़ ? मैं तो रात भर इसी पशोपेश में पड़ा रहा कि रहूँ या लौट जाऊँ। रात पंजाब मेल से उतरा। आप लोगों के दर्शन नहीं हुए तो मुसाफ़िरखाने में जाकर पड़ रहा। तबियत बहुत झुंझला रही थी। जब यहाँ कोई पूछने वाला नहीं तो किसलिए ठहरूँ ? २॥ बजे रात की गाड़ी से लौट चलने की इच्छा हुई। रिटर्न टिकट था ही। प्लैटफ़ार्म पर गया, गाड़ी आ लगी। पर चढ़ नहीं सका। सोचा, तुम्हें दुःख होगा........'

उनके इस स्नेह को पाकर मैं निहाल हो गया। मेरे मुँह से अचानक निकल पड़ा — 'आप पंजाब मेल से उतरे लेकिन मैं पहचान नहीं सका।'

'वही तो मैं कहता हूँ' — उनकी आवाज़ कुछ तीव्र हो पड़ी — 'जब तुम मुझे नहीं पहचानते थे और न मैं तुम्हें, तो प्रेमचन्द कहकर पुकारते। इससे मेरी इज्ज़त थोड़े कम हो जाती।'

मैं क्या जबाब देता। चुप हो रहा।

प्रेमचन्द जी मेरे आमंत्रित थे। मैं उन्हें अपने यहाँ ठहराना चाहता था और पटने के कई बड़े-बड़े लोगों का आग्रह था, मैं उन्हें उनके यहाँ ठहराऊँ। इच्छा तो मेरी नहीं थी फिर भी उनके मन की थाह लेने की ग़रज़ से मैंने पूछा — आप डा० हरिचन्द शास्त्री के यहाँ ठहरेंगे या मेरी सेवा स्वीकार करेंगे ? (डाक्टर साहब पटना कॉलेज हिन्दी-साहित्य-परिषद् के सभापति थे।)

'मुझे डाक्टर के साथ क्या करना है ?' उन्होंने तुरन्त जबाब दिया—'मैं तुम्हारे बुलाने से आया हूँ और तुम्हारे ही यहाँ ठहरूँगा।'

मुझे मुँहमाँगी मुराद मिल गई।

* * *

घर पहुँचे। थोड़ी देर आराम करने के बाद वह मेरी पढ़ने की पुस्तकें देखने लगे। मैं तो जानता ही था। कुछ तो सचमुच मेरी पढ़नेवाली किताबें थीं और कुछ उन पर रोब ग़ालिब करने के लिए दूसरों से माँग कर सजा रखी थीं।

देश विदेश के कुछ चुने हुए उपन्यास थे और आलोचना की पुस्तकें थीं। उन्हें देख कर बहुत प्रसन्न हुए। बोले — खूब पढ़ा करो। तुम्हारी आलोचनाओं को बड़े ध्यान से पढ़ता हूँ ....

"लेकिन आप तो आलोचनाओं को पसंद नहीं करते। आप तो कहते हैं — 'असफल लेखक समालोचक बन बैठा।'" (यह वाक्य उनके 'सेवासदन' का था। उसी पर मेरा संकेत था।)

वह हँस पड़े।

'इसीलिए न कहता हूँ, खूब पढ़ा करो। हिन्दीवालों में यही मर्ज़ है कि वह अध्ययन बिल्कुल नहीं करते।'

और तब शेल्फ में से एक किताब निकाल कर पढ़ने लगे — Forester की Aspects of the Novel। और मैं सभा का प्रबंध करने के लिए कॉलेज चला गया। डेढ़ घंटे बाद लौटकर आया तो देखा, ढाई सौ पृष्ठ की पुस्तक समाप्त कर वह मुझसे उसपर 'डिस्कशन' (विवाद) के लिए तैयार बैठे हैं।

मैं बग़लें झाँकने लगा। एक तो मेरा अध्ययन उतना गहरा नहीं, दस-बीस किताबें पढ़ ही लेने से मैं कोई विद्वान तो नहीं हो गया; फिर उपन्यास-कला पर बहस करूँ उनसे जिनकी रचनाओं के आधार पर ही उपन्यास कला की इमारत खड़ी होती है।

मैंने पिंड छुड़ाना चाहा। कहा — चलिए ड्रॉइङ्ग रूम में बैठा जाय। यहाँ कुछ सर्दी-सी लग रही है।

वे ड्राइंग रूम में चले आए। रेशम की गद्देदार कुर्सियों को देखकर अनायास बोल पड़े — यह सब सिर्फ़ हाय-हाय है।

मैंने पूछा — क्यों ?

'रहे तब भी हिफ़ाज़त की चिन्ता, नष्ट हो जाय तब भी चिन्ता। मनुष्य को इस चिन्ता से बचना चाहिए। ज़िन्दगी में अपना ही दुःख कौन कम है कि नई बला मोल लें। ....'

इसी समय मेरे भाई साहब आ गये। आप पटना विश्वविद्यालय के अर्थशास्त्र और राजनीति के प्रोफ़ेसर हैं। विलायत के पढ़े हुए। उनसे राजनीति पर बहस छिड़ गई। मुझे खुशी हुई, उपन्यास कला की विवेचना से तो नजात मिली। चुपके से खिसक गया। प्रेमचन्दजी कोरे उपन्यास लेखक न थे। वह पॉलिटिक्स भी अच्छी जानते थे। इस विषय में उनकी पहुँच देखकर मेरे भाई ने मुझसे कहा — Premchand seems to be an all-round scholar.

* * *

दोपहर को पटना म्यूजियम देखने के लिए हम लोग चल पड़े। मौर्य-काल और गुप्त-काल के शिलालेख, मूर्तियाँ, बर्तन, सिक्के वगैरह सब दिखलाये। वह बच्चों की तरह उन चीज़ों को देखते जा रहे थे। कौतूहल उन्हें कुछ होता था; पर कोई ख़ास दिलचस्पी उन्होंने नहीं दिखलायी! हाँ, जब स्वस्थ्य विभाग की ओर गए और बिहार के गाँवों का मिट्टी का बनाया हुआ स्केच देखा तो रम गए। कोल-भीलों की पारिवारिक मूर्तियों को भी बड़े ग़ौर से देखने लगे और बोले — हमें इन समस्याओं की ओर ध्यान देना चाहिए। इन जंगली लोगों को सभ्य बनाना चाहिए। हज़ार वर्ष पहले की मिट्टी में गड़ी हुई चीज़ों से हमें क्या लाभ? हमें तो वर्तमान की रक्षा का प्रश्न हल करना चाहिए।

❀ ❀ ❀

जब हम वहाँ से वापस होने लगे तो वह बोले — आज तुम्हारे कॉलेज के कुछ लड़के आए थे, सन्देश के लिए। मैंने बतलाया — सन्तोष ही जीवन का सब से बड़ा धन है।

'क्यों, नहीं?' उन्होंने मेरी अविश्वास जैसी मुद्रा को देखकर पूछा — कभी इस पर तुमने ग़ौर किया है? बात छोटी-सी मालूम होती है लेकिन बड़े होकर जानोगे, यह कितना बड़ा सत्य है।

मैं कैसे नाहीं करता; पर मुंह से निकल ही गया — सन्तोष से तो जीवन की क्रियाशक्ति ही नष्ट हो जायगी। मेरी समझ में तो यह अभाव है, आकांक्षा और असन्तोष की आग है जिससे क्रान्ति होती है, आन्दोलन होते हैं। सन्तोष से जीवन निश्चेष्ट हो जायगा। और निश्चेष्ट जीवन और मृत्यु में क्या अन्तर है?

वह गम्भीर हो गए। कुछ देर तक मेरी बात पर ग़ौर करते रहे और बोले — सामूहिक रूप से सन्तोष अच्छा है; पर मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन में असन्तोष का फल अच्छा नहीं होता। आन्दोलन के नेताओं को ही देखो — वह निस्पृह रूप से काम करते हैं। वह जानते हैं, उनके छोटे जीवन में उनका आन्दोलन सफल नहीं हो सकता, फिर भी उन्हें सन्तोष है, वह अपना काम तो कर रहे हैं। जननी जन्म-भूमि की रक्षा में अपनी जान तो दे रहे हैं। यही सन्तोष उनका सबसे बड़ा बल है।

❀ ❀ ❀

प्रेमचन्द जी का शुभागमन एक अपूर्व घटना थी। पटने के लिए वह दिन सोने के अक्षरों में लिखा जाने लायक़ था। जनता की अपार भीड़, उत्सुकता, श्रद्धा और भक्ति देखकर प्रेमचन्द जी भी विह्वल हो गए थे। उन्होंने कहा — बिहारियों का हृदय सचमुच महान् है। उनकी जैसी दरियादिली मुझे कहीं न मिली। यू० पी० में भी मीटिंग होती है। बड़े-बड़े विद्वान् आते हैं। पर उपस्थिति सौ-दो-सौ से अधिक नहीं होती। हाँ, तमाशे की बात मैं नहीं कहता।

❀ ❀ ❀

प्रेमचन्द पटने से प्रसन्न बिदा हुए, और मुझे सर्वदा के लिए आत्मीयता के पाश में बाँध गए। तब से गत छः वर्ष का हमारा सम्बन्ध संस्मरण की चीज़ नहीं, मेरे जीवन का इतिहास है। हर साल पूजा की छुट्टियों में मैं बनारस जाया करता था और उनसे बराबर मिलता। एक बार उन्होंने अगस्त में लिखा था — 'पूजा की छुट्टियाँ तो अभी बहुत दूर हैं, लेकिन अभी से तुम्हारी बाट जोह रहा हूँ।'

❀ ❀ ❀

कहानी लेखक प्रेमचन्द से भी बढ़कर प्रिय मनुष्य प्रेमचन्द थे। उनके जैसा निस्पृह, उदार, सद्भावना और संवेदना से पूर्ण मनुष्य मुझे नहीं मिला। बड़े लोगों में एक ज़बर्दस्त ऐब होता है। दूर से उनका व्यक्तित्व बड़ा आकर्षक और प्रभावोत्पादक प्रतीत होता है। परन्तु उनके समीप आते ही उनका भीतरी राज़ खुलने लगता है और उनके 'अहम्' को देखकर श्रद्धा के बदले घृणा उत्पन्न हो जाती है। प्रेमचन्द जी का बाहर-भीतर एक समान था। उनसे घनिष्ठता बढ़ने पर, उनके हृदय की गहराई के खुलने पर, प्रशंसा, श्रद्धा और भक्ति से मस्तक अनायास झुक जाता था। बाह्य से भी सरल, सच्चाई से भरी हुई, आडम्बर-शून्य उनकी आत्मा थी।

प्रेमचन्द के निधन से सारा राष्ट्र संतप्त है। उनके बिना हिन्दी अकिंचन सामर्थ्य-विहीन और श्रीहीन है। पर उससे भी अधिक अकिंचन, निरीह और निरुपाय मैं अपने को पा रहा हूँ। उन्हीं की वरद-छाया में मुझे फूलने-फलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। अब वह नहीं रहे तो मैं कहीं का न रहा। लेकिन अपनी बदनसीबी पर बैठकर मैं आँसू बहाऊँ ?

अभाव, उपेक्षा और असहिष्णुता का ठुकराया हुआ वह प्राणी मरते दम तक सन्तोष का संदेश सुनाता गया।

आओ, उसके शोकाकुल स्वजनों के साथ अपने प्राणों का क्रन्दन मिलाकर आँखों के उमड़ते हुए अश्रुप्रवाह को रुँधी हुई आवाज़ से उसी स्वर में कहें —

'संतोष जीवन का सबसे बड़ा धन है।'

१० | चन्द्रगुप्त विद्यालंकार

सन् १९३२ के नवम्बर महीने में मुझे बनारस जाना था। उससे पूर्व सिर्फ़ एक बार, वह भी सिर्फ़ एक दिन के लिए, स्वर्गीय पं० पद्मसिंह जी के साथ मैं बनारस गया था। शर्मा जी साथ थे, इससे तब वहाँ ज़रा भी दिक़्क़त नहीं हुई थी। शर्मा जी के निकट हर समय महफ़िल का-सा वातावरण बना रहता था, इससे वह यात्रा तो बड़े मज़े की हुई। परन्तु सारा दिन बनारस में रहने पर भी वहाँ की भौगोलिक स्थिति से मैं अपरिचित ही रहा। इसी कारण लाहौर से चलते समय मैंने हिन्दी के सबसे महान् साहित्यकार मुंशी प्रेमचन्द जी के नाम इस आशय का पत्र डाल दिया कि मैं अमुक तारीख़ को बनारस पहुँच रहा हूँ और यह भी कि बनारस से मेरा परिचय शून्य के बराबर है।

तब तक प्रेमचन्द जी से मेरा घनिष्ठ परिचय नहीं था। गुरुकुल काँगड़ी में वह दो-चार दिन रहे थे, तब उसके बाद सन् १९३१ में उनकी प्रथम दिल्ली-यात्रा के दिनों में उनसे मिलते-जुलते रहने का मुझे काफ़ी अवसर मिला था। परन्तु वह परिचय इतना घनिष्ठ नहीं था कि मैं उनके यहाँ ठहरने की इच्छा कर सकता। मुझे बताया गया था कि युक्तप्रांत में बिना अत्यधिक निकट का सम्बन्ध हुए किसी को अपने घर पर ठहराने की प्रथा नहीं है। और यह भी मुझे मालूम था कि बड़े शहरों में अच्छे होटलों की कमी नहीं है। फिर भी मुख्यतः कुछ समय तक उनके अत्यन्त निकट रहने के प्रलोभन से मैंने उन्हें वह पत्र लिखा था।

एक दिन का भी विलम्ब किये बिना उन्होंने मेरे पत्र का जवाब दे दिया। उन्होंने लिखा कि उन्हीं दिनों किसी काम से वह लखनऊ जाना चाहते थे मगर अब वह उस प्रोग्राम को मुलतवी कर देंगे। 'तुम मेरे यहाँ ठहरोगे तो इससे मुझे बड़ी ख़ुशी होगी।' और साथ ही अपने बेनिया पार्क वाले लाल मकान का पता भी उन्होंने मुझे समझा कर लिख दिया।

उन दो-तीन दिनों में प्रेमचन्द जी को मैंने बहुत निकट से देखा। उनके खुल

कर ऊँचा हँसने की आदत से तो मैं पहले भी परिचित था ; परन्तु उनकी हँसी के पीछे कितनी पवित्र और सरल आत्मा विद्यमान है, यह मैंने उनके निकट रह कर ही अनुभव किया। मैंने देखा, उनके सहानुभूतिपूर्ण हृदय में किसी भी तरह की सांसारिक, राजनीतिक या सामाजिक रूढ़ियों के प्रति मोह नहीं है। धर्म, जाति या देश की सीमाओं को तोड़कर वह महान् कलाकार सभी अवस्थाओं में मनुष्य के लिए उदार और अनुभूतिपूर्ण बन कर रहता है।

गुरुकुल काँगड़ी में मैंने देखा था कि प्रेमचन्द जी बहुत बार काफ़ी अन्यमनस्क-से हो जाते हैं। एक मीटिंग में वह सभापति थे। कोई सज्जन भाषण कर रहे थे और सभापति महोदय का ध्यान अन्तर्मुखी हो गया। काफ़ी समय तक उन्हें ख़्याल ही न रहा कि वह कहाँ और क्यों बैठाए गए हैं। यही कुछ देखकर मेरा ख़्याल बन गया था कि प्रेमचन्द जी को बातचीत करने का विशेष शौक़ न होगा। परन्तु मेरी वह धारणा नितान्त अशुद्ध सिद्ध हुई। मैंने देखा कि उन्हें अत्यन्त मनोरंजक ढंग से बातचीत करने की कला आती है। सिर्फ़ उन्हें खुल जाने का अवसर मिलना चाहिए। हाँ, किसी-किसी समय अन्यमनस्कता का 'फ़िट' भी उन्हें ज़रूर आता था, और मेरा ख़्याल है कि अन्यमनस्कता कलाकारों का विशेष अधिकार है।

अपनी उसी बनारस-यात्रा में मैं 'आज' के सम्पादक श्री बाबूराव विष्णु पराड़कर से भी मिलना चाहता था। जब प्रेमचन्द जी से मैंने इस बात का ज़िक्र किया तो उन्होंने कहा — चलो, मैं भी साथ ही चलूँगा।

मुझे लेकर वह 'आज'-कार्यालय पहुँचे। 'आज'-कार्यालय के अनेक कार्यकर्त्ता प्रेमचन्द जी को पहचानते थे, उन्होंने पराड़कर जी को उनके आगमन की सूचना दी। पराड़कर जी उठकर बाहर चले आए और हम लोगों को भीतर ले गए। प्रेमचन्द जी ने मेरा परिचय उनसे कराया और प्रथम परिचय की रस्मों के बाद पराड़कर जी ने प्रेमचन्द जी से कहा — पिछले पन्द्रह बरसों से मेरी आप से मिलने की ज़बरदस्त इच्छा थी। आज आप ने बड़ी कृपा की।

प्रेमचन्द जी ने मुस्कराकर कहा — मेरा भी यही हाल था। बरसों से इच्छा थी और आज इनकी मेहरबानी से चला ही आया।

मेरे आश्चर्य का ठिकाना न रहा। मैंने अत्यधिक अचरज भरे स्वर में पूछा — क्या आप दोनों आज पहली बार ही एक-दूसरे से मिल रहे हैं!

प्रेमचन्द जी खिलखिलाकर हँस पड़े। वही पवित्र और सरल हँसी। पराड़कर जी ने कहा — काम-काज के जंजाल में इतना फँसा रहता हूँ कि कभी कहीं आने-जाने की फ़ुरसत ही नहीं मिलती।

परन्तु मेरे लिए यह बात आख़ीर तक एक आश्चर्य का विषय रही कि इतने बरसों से बनारस में रहते हुए भी ये दोनों सज्जन कभी एक-दूसरे से मिले क्यों नहीं।

विदेशी उपन्यास, प्रेमचन्द जी के विगत जीवन की घटना और उनके व्यापारिक अनुभव हम लोगों की बात-चीत के मनोरंजक विषय थे। मैंने देखा कि प्रेमचन्द जी अपने को अपने व्यवहार और कारोबार से पृथक् और ऊँचा रखकर खुद अपनी क़ीमत पर अपना और दूसरों का मनोरंजन कर सकते हैं। और यह बहुत बड़ा गुण है।

प्रेमचन्द जी का पारिवारिक जीवन मुझे पर्याप्त सुखी, शान्त और सन्तोषपूर्ण अनुभव हुआ। उनमें, उनकी पत्नी में और उनके बच्चों में परस्पर यथेष्ठ मधुरता मैंने पाई। परन्तु जो भोजन वह करते थे, वह मुझे बहुत दोषपूर्ण प्रतीत हुआ। श्रीमती शिवरानी देवी जी से मैं अब यह अनुरोध करूँगा कि अपने भोजन में ताज़ी और कच्ची सब्ज़ियों, फलों तथा दही को वह विशेष महत्ता दें।

इस यात्रा के छः महीने बाद ही कलकत्ते जाते हुए कुछ घण्टों के लिए मैं बनारस उतरा और अब की बार किसी तरह की सूचना दिये बिना ही प्रेमचन्द जी के यहाँ जा पहुँचा। उस दिन बनारस में बेहद गरमी थी। थोड़ी ही देर में हम लोग दशाश्वमेध घाट की ओर सैर के लिए चल दिये।

इससे कुछ ही दिन पूर्व किसी सज्जन ने प्रेमचन्द जी की रचनाओं के खिलाफ़ कुछ लेख काफ़ी महत्वपूर्ण ढंग से प्रकाशित करवाये थे। उन लेखों का ज़िक्र चला तो मैंने कहा कि मैं उन आक्षेपों के उत्तर के रूप में कुछ लिखना चाहता हूँ। प्रेमचन्द जी खिलखिलाकर हँस पड़े और कहा — जब कोई कमज़ोर आदमी ज़बरदस्ती किसी पहलवान से भिड़ पड़े तो उसके लिए सब से बड़ी सज़ा यही है कि दूसरे लोग बीच में पड़कर जुदा न कर दें।

अपने एक मित्र के लिए कानपुर से काफ़ी बढ़िया चमड़े का सूटकेस मैं एक ही दिन पहले खरीद कर लाया था। घर पहुँचकर प्रेमचन्द जी की निगाह उस पर पड़ी और खूब खिलखिलाकर हँस लेने के बाद उन्होंने कहा — यदि कभी मैं इतना बढ़िया सूटकेस लेकर सफ़र पर निकलूँ, तो चोरी के डर से सारी रात जागते ही बीते।

उसके बाद अनेक बार प्रेमचन्द जी से मिलने का अवसर मिला। गत वर्ष फ़रवरी मास में, कलकत्ता जाते हुए, सिर्फ़ उन्हीं से मिलने की इच्छा से मैं कुछ घण्टों के लिए बनारस उतरा था। पिछले एप्रिल में आर्य-प्रतिनिधि-सभा पंजाब की अर्द्ध-शताब्दी पर, विशेषतः मेरे निमन्त्रण पर ही, वह लाहौर भी आये थे। और मेरी उनके साथ वही अन्तिम भेंट थी।

इस समय तक हिन्दी में 'साहित्यिक' का एक विशेष अर्थ समझा जाता रहा है। भाषा, व्याकरण और साहित्य पर ये लोग अपना सभी अधिकार समझते हैं। विचित्र-से-विचित्र आकृति और उससे भी अधिक विचित्र पोशाक में ये लोग जनता को दर्शन देते हैं। 'साहित्यिक' नामधारी यह जमात सम्भवतः केवल हिन्दी-जगत् में ही

पायी जाती हैं। भाषा, साहित्य और व्याकरण के सम्बन्ध में इन लोगों ने जो विशेष प्रकार की रूढ़ियाँ काफ़ी समय से बना रखी हैं, उन्हें ईमानदारी के साथ अपनाये बिना कोई व्यक्ति साहित्यिक नहीं कहला सकता। प्रेमचन्द जी इस तरह के साहित्यिक नहीं थे। उनका साहित्य जीवन का साहित्य था और इसी से वह जनता का साहित्य बन सका।

प्रेमचन्द जी विशेष प्रकार के 'साहित्यिक जीव' नहीं थे। उन्होंने कभी कोई गुट बनाने का प्रयत्न नहीं किया। न कभी उन्होंने सामाजिक, राजनीतिक या धार्मिक नेताओं के पास अपनी पहुँच बनाने की कोशिश की। सम्भवतः यही कारण था कि न तो उन्हें कभी मंगलाप्रसाद पारितोषिक मिल सका और न कभी वह हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति ही बनाये जा सके।

खड़ी हिन्दी ने आज तक सिर्फ़ एक ही साहित्यकार ऐसा पैदा किया है जो अपनी प्रतिभा के बल पर अन्तर्भारतीय स्थिति बना सका। मैं पूछता हूँ कि आज से सिर्फ़ पाँच महीना पहले तक हिन्दी वालों के पास अन्य प्रान्तों के लोगों को दिखाने के लिए प्रेमचन्द को छोड़ कर और कौन साहित्यक था? आज तो वह भी नहीं रहे!

•

मोलियर आज .फ्रेञ्च साहित्य का सर्वश्रेष्ठ नाटककार माना जाता है। परन्तु मोलियर के जीवन काल में उसे ऊँची प्रतिष्ठा इसलिए नहीं मिल सकी कि वह स्वयं अपने नाटकों में अभिनय करता था और उस समय अभिनय करना कुलीनता के विरुद्ध माना जाता था और यह कि उसने अपने नाटकों में प्राचीन रूढ़ियों की अवहेलना की थी। यहाँ तक कि फ्रान्स के सर्वश्रेष्ठ साहित्यिकों की संस्था .फ्रेञ्च एकेडमी ने भी उसे कभी अपना सदस्य नहीं बनाया। मोलियर की मृत्यु के बाद .फ्रेञ्च एकेडमी को अपनी भूल मालूम हुई। अपनी इस भूल का प्रायश्चित्त करने का एक उपाय आखिर .फ्रेञ्च एकेडमी ने खोज ही निकाला। .फ्रेञ्च एकेडमी के कुल मिलाकर एक सौ सदस्य होते थे। न कम और न अधिक। किसी सदस्य की मृत्यु के बाद उस स्थान की पूर्ति कर दी जाती थी। मोलियर के देहान्त के बाद जब एकेडमी में कोई स्थान रिक्त हुआ तो उसकी जगह मोलियर को एकेडमी का सदस्य चुन लिया गया। जो लोग जीवित दशा में सदस्य बनते हैं, देहान्त के बाद उनका सदस्यत्व स्वयं समाप्त हो जाता है। परन्तु जिसे देहान्त के बाद सदस्य बनाया जाय, उसके सदस्यत्व का काल कैसे समाप्त हो? .फ्रेञ्च एकेडमी के आज भी एक ही सौ सदस्य हैं — एक स्वर्गीय मोलियर और शेष ९९ जीवित सदस्य बदलते रहते हैं, परन्तु मोलियर एकेडमी का स्थायी सदस्य है।

तो क्या इसी तरह इस वर्ष का साहित्य का मंगलाप्रसाद पारितोषिक 'गोदान' पर देकर सम्मेलन अपने इस पारितोषिक को सम्मानित नहीं कर सकता? 'गोदान' को छपे अभी एक साल भी नहीं हुआ। वह हिन्दी का सबसे ताज़ा और सबसे श्रेष्ठ

मौलिक उपन्यास है। मुझे बताया गया है कि नियम सम्बन्धी अड़चन इसके मार्ग में हैं। मगर ये अड़चनें आखिर परमात्मा या प्रकृति की बनाई हुई नहीं हैं, हमी लोगों की बनाई हुई हैं, हम चाहें तो इन्हें दूर भी कर सकते हैं। शक्तिशाली ब्रिटिश साम्राज्य एक दिन में नया कानून बनाकर एक सम्राट के जीवित रहते हुए उसके राजत्याग को स्वीकार कर नया सम्राट् बना सकता है, तो इतने महीनों में हिन्दी साहित्य सम्मेलन अपने पारितोषिक सम्बन्धी नियमों में यह ज़रा-सा परिवर्तन भी नहीं करवा सकता ?

●

११ | ए. चंद्रहासन

प्रेमचन्दजी का स्वर्गवास उत्तर के हिन्दी भाषियों को उतना न खटका होगा जितना कि दक्षिण के हिन्दी प्रेमियों को। इसकी वजह साफ़ है। उत्तर के भाई उनकी समालोचना करके या तो प्रशंसा के पुल बाँधते आये हैं या निंदा के गड्ढे खोदते; पर दक्षिण के भाई-बहन प्रेमचन्दजी की दिलचस्प रचनाओं को पढ़कर मुग्ध और चाव से राष्ट्रभाषा के अध्ययन में अग्रसर हुए हैं। अगर काशी के दीपस्तंभ का उजाला, प्रयाग आदि निकट जगहों से ज़्यादा, दूर दक्षिण में फैला तो इसमें अचरज की बात ही क्या है? दक्षिण के हिन्दी पाठकों पर प्रेमचन्दजी का-सा प्रभाव किसी दूसरे लेखक ने नहीं डाला है और यह बात निर्विवाद है कि यहाँ उनकी ही रचना सबसे अधिक लोकप्रिय है। हम लोगों की नज़र में प्रेमचन्दजी हिन्दी साहित्य का गौरव बढ़ानेवाले उपन्यास-सम्राट नहीं, हिन्दी गद्य की प्रगति में युग-प्रवर्तन करनेवाले साहित्य-महारथी नहीं, छोटी-छोटी कहानियों द्वारा जीवन के सब क्षेत्रों में क्रीड़ा करनेवाले पात्रों का प्रदर्शन तथा हृदय के भिन्न-भिन्न भावों का दार्शनिक विश्लेषण करनेवाले कलाकार नहीं; पर हिन्दुस्तान को एक सूत्र में बाँधनेवाली राष्ट्रभाषा के आदर्श और ज़ोरदार लेखक हैं।

यह मेरे लिए सौभाग्य की बात है कि मुझे प्रेमचन्दजी का थोड़ा बहुत व्यक्तिगत परिचय प्राप्त करने के मौके मिले थे। सन् १९३४ मार्च की बात है। दक्षिण भारतीय हिन्दी-प्रेमी यात्री दल के अन्य सदस्यों को प्रयाग में छोड़कर मैं कुछ ख़ास काम पर पहले ही काशी पहुँचा। 'सप्तसरोज' और 'रङ्गभूमि' के रचयिता के दर्शन करने की अभिलाषा मेरे मन में पहले ही से थी। सोचा कि इस मौक़े का फ़ायदा उठाऊँ और जाकर प्रेमचन्दजी से मिलूँ। पता लगाकर शाम के वक्त उनके मकान पर पहुँचा। बाहर थोड़ी देर ठहरकर खाँ-खूँ करने पर भी कोई नज़र न आया तो दरवाज़े पर गया और झाँककर भीतर कमरे में देखा। वहाँ एक आदमी, बड़ी-बड़ी मूँछों के कारण जिसका चेहरा छिपा-सा था, फ़र्श पर बैठकर एकाग्रचित्त से कुछ लिख रहा था। मैंने सोचा कि

लेखक श्रेणी का कोई होगा और बढ़कर बोला कि मैं श्रीयुत प्रेमचन्द जी से मिलना चाहता हूँ। उन्होंने झट आँखें उठाकर आश्चर्य के साथ मुझे निहारा, क़लम रख दी और मुंह भर हँसी भरते हुए बोले — खड़े-खड़े क्या मुलाक़ात करेंगे ? बैठिए और मुलाक़ात कीजिए।' अविश्वास और अचंभे में आकर मैं दो तीन मिनट तक खड़ा ही रह गया, पर जल्दी ही सँभल कर बैठ गया। मेरे मन की प्रेमचन्द जी की कल्पित मूर्ति बिल्कुल दूसरी थी। हमने करीब दो घंटे तक अनेक विषयों पर बातचीत की। ज्यों-ज्यों हमारी बातचीत आगे बढ़ी त्यों-त्यों मेरा आश्चर्य भी बढ़ता गया। ऐसी बेतकल्लुफ़ी, ऐसी सादगी, ऐसी सरलता एकदम अप्रतीक्षित थी। आज भी प्रेमचन्दजी का नाम लेते ही उनकी हँसी, मूँछ और सादगी मेरी कल्पना दृष्टि के सामने खड़ी हो जाती है।

प्रेमचन्दजी के व्यक्तित्व की श्रेष्ठता मुझे कुछ महीने पहले और स्पष्टरूप से मालूम हुई जब कि मैं एक दिन के लिए लखनऊ गया था। मैं वहाँ एक सुप्रसिद्ध कवि-संपादक-प्रकाशक की सेवा में दर्शनार्थ हाज़िर हुआ। अपना परिचय देने के बाद करीब एक घंटे तक बैठा रहा। उस समय उन्होंने अपने बड़प्पन, कार्यकुशलता और कर्मचारियों के साथ के कड़े व्यवहार आदि का खूब परिचय दिया; जब मैं हार कर बिदा होने लगा तब बहुत 'बिज़ी' होने के कारण इतने समय तक बातचीत तक न कर सकने का दुःख उन्होंने अवश्य प्रकट किया। प्रेमचन्दजी के साथ इन महाशय की तुलना करते हुए मैं लौटा। उस दिन यह बात भी मेरी समझ में आ गई कि अमूल्य ग्रन्थों के लेखक होने पर भी प्रेमचन्दजी आर्थिक कठिनाई क्यों झेल रहे थे।

प्रेमचन्दजी की मौत से हिन्दी संसार और भारत राष्ट्र को हानि अवश्य पहुँची है। पर हमें निराश न होना चाहिए। उन्होंने हमें वे चीज़ें दी हैं जिनसे देश और साहित्य का महत्व बढ़ा है, और आगे बढ़ेगा भी। उनकी जीवनी से शिक्षा लेकर उनके बताये मार्गों पर कार्य करने से उनके अभाव की पूर्ति की जा सकती है।

●

ए० चंद्रहासन

१२ | जनार्दन राय

१९३३ का मध्य जुलाई महीना और मैं नया-नया बनारस में — उदयपुर से इतनी दूर पहली दफ़ा उत्तर भारत के इस प्राचीन-ख्यात नगर में। जलती हुई दोपहर; पैदल मैं और एक मेरे ताज़े परिचित साथी चले जा रहे हैं — सरस्वती प्रेस का पता पूछते-पाछते। कभी कबीर-चौरा, कभी दाल-मण्डी होते हुए चौक, यों हम प्रेमचन्द जी से पहली मुलाक़ात के लिए विश्वविद्यालय से चले जा रहे हैं। मन में एक आतुर उमंग भरा, पर शंकित द्वन्द्व मच रहा है — मिलेंगे तो ? पर किस तरह पेश आयेंगे ? — ध्रुव-साहब की भाँति तो नहीं, एक सहमा देनेवाले रूआब में; उदयपुर के बड़े आदमियों की भाँति तो नहीं — ऊपर से मीठे, मन में कड़ुवे ?

मेरे मन का वह द्वन्द्व स्वाभाविक था। एक बात और भी थी। १९२७ का (मैं स्मृति से लिख रहा हूँ) एक प्रातःकाल मुझे प्रेमचन्द जी से मन में, विचार में सम्बद्ध कर गया। रंगभूमि' पढ़कर मैंने अपने ममेरे भाई से सवा आने की कोई कॉपी माँग ली और एक उपन्यास प्रारम्भ किया। वह प्रेरणा-स्रोत जैसे पाताल भेदकर आया था, जिसने मुझे मरु-भूमि में जीवित रखा। वह जैसे एक अद्वितीय चिनगारी थी, जो मेरे मन के अंधकार में जल उठी; जिसने अब तक मुझे रोशन रखा है। १९३३ तक मुझ पर कई उल्कापात हुए। पहला उपन्यास जो मैंने प्रेमचन्द जी को १९२८ में प्रकाशनार्थ भेजा था, एक सज्जन मेरे जाली हस्ताक्षर कर उड़ा ले गए और प्रेमचन्दजी पुरस्कार भेजते-भेजते रह गए। उस समय भी वे अदालत में साक्षी देने के लिए तैयार हो गए थे; पर वहाँ तक जाना न पड़ा। जब मेवाड़-सत्ता ने उसी उपन्यास को भस्म कर दिया, मैंने सहर्ष वस्तुस्थिति का मुक़ाबिला किया।

कंधे पर कहानियों और एक उपन्यास से लदा झोला; ललाट पर पसीने को बूँदें, धूल से झुलसे चप्पल, देह पर पसीना, और मन में उमंग की बिजली। यों मैं सरस्वती-प्रेस पहुँचा। मन में उल्लास तो था पर दहलीज पर पैर रखते ही संकोच, भय, सकपकाहट और सहमता आ गयी। जैसे एक राजा पहली दफ़ा वायसरिगललॉज में पैर रखे, पहली

दफ़ा कुलवधू ससुराल की दहलीज़ में घुसे, जैसे पहली दफ़ा जुगनू को चाँद का स्पर्श हो, लहर जैसे प्रथम बार अपने असीम वारिवक्ष को निहारे, यों मैं पौर में घुसा। एक कम्पोजीटर बग़ल रगड़-रगड़कर नहा रहा था; मैंने पूछा — प्रेमचन्द जी कहाँ विराजते हैं ? उसने योंही सहज इशारा किया — बग़ल के कमरे में। मैंने मुड़ कर उस कमरे में झाँका। दो तीन व्यक्तियों में घिरी, मेज़ पर झुकी-सी, काग़ज़-पत्रों के ढेर से आच्छादित मैंने एक मूर्ति देखी। रेशमी तमखुई बिखरे बाल; पतली तनी भवों पर संकुचित पर प्रभविष्णु ललाट, अनुभव की रेखाओं से खुदा और सरल; गहरी देखने वाली आँखें। प्रेमचन्द वही ! वही, मछली के अगले पंजों जैसी ब्रुश-नुमा मूँछें और सारी मुद्रा पर स्वप्न-लीनता का अत्यन्त सूक्ष्म रोग़न ! यही प्रेमचन्द हैं, अंतःकरण ने सौ ज़बान से कहा। वहीं, दरवाज़े में ही खड़े-खड़े मैंने प्रणाम किया।

एक बार साधारणतया मेरी ओर देख सिर हिलाकर मुझे अन्दर बुलाया और पुनः कार्य में मशग़ूल हो गये। मैंने पास ही अत्यन्त संकोच के साथ सिकुड़कर बैठते हुए कहा — मैं उदयपुर से आ रहा हूँ।

किसी पत्र को देखते हुए सिर हिलाकर आपने कहा — हुँ हुँ ! जनार्दन न ? फ़िफ्थ इयर में आये हो न ?

मैंने मन-ही-मन झेंपकर जवाब दिया — जी नहीं; थर्ड इयर में आया हूँ। बीच में दो वर्ष पढ़ना छोड़ दिया था।

'अच्छा !' पत्र रखकर आपने मेरी ओर देखा।

मैंने अपना झोला खोला और उनके पत्र निकाले। बोला — लखनऊ वाली घटना के बाद, मैं समझता हूँ अपना प्रमाण मुझे देना चाहिए। ये रहे आपके पत्र।

पहली दफ़ा मैंने वह बाल-सुलभ सुन्दर आत्मा को मुक्त लहरि के समान मुखुर-मुखुर हास्य सुना और स्तब्ध रह गया।

आप बोले — तो ? ये पत्र भी तो उड़ाये जा सकते हैं ? हा, हा, हा ! मैं जान गया तुम्हीं जनार्दन हो। अच्छा हुआ, यहाँ आ गये। ठीक हुआ।

मैंने कहानियाँ निकालीं, उपन्यास का पोथा निकाला और प्रेमचन्द जी के आगे रख दिया और उन्होंने सब काम छोड़ वे कृतियाँ हाथ में लीं। शायद किसी की कृतियाँ हाथ में लेकर उसे जाँच-पड़ताल के बिना वे नीचे न रखते थे। उपन्यास के रजिस्टर को उलट-पुलट आपने कहा — छपने में शायद आठ सौ पेज तक जाये ! खूब है भई ! अच्छा इन सबको मैं देखूँगा। यहीं हो, अब तो ?

उस दिन तो परिचयात्मक बातें ही हुईं, पर मैं होस्टल जैसे बदलकर लौटा। मेरे ये भाव उस समय स्पष्ट न थे; मेरा परिवर्तन-श्रीगणेश भी मुझे उतना प्रतीत न था। पर मैंने एक नये मार्ग पर पैर रखा था। पहली मुलाक़ात में प्रेमचन्द ने मुझमें अदृश्य

पर अनुभव-महिम स्वप्न जगा दिये। और रात ? रात अह्लाद में रमी हुई थी। १९३० के बाद ऐसी पवित्र स्वतः मगन नींद उस दिन आई थी। यह महापुरुष इन ऐसे कतिपयों से कितना अलग पड़ता है, मैंने सोचा।

फिर तो प्रति मुलाक़ात दिन-ब-दिन मुझे उनके निकट, निकट से निकट लाती गयी। मानो प्रेमचन्द एक प्राचीन मन्दिर थे, जिसके सभी पट खुले हुए थे। प्रकाश का एक झूमर जो चारों ओर से आलोकित होता है। दस-बारह दिन बाद मैं बेनिया बाग़ में उनके निवास पर पहुँचा। मकान देखकर मन में संतोष हुआ; चलो, घर का घर तो अच्छा है। प्रेस है; यह घर है — हमारा यह युगस्रष्टा कलाकार अच्छी हालत में तो है और जब, भूकम्प ने इस मनचाही को तोड़ना चाहा तब मुझे सबसे पहले प्रेमचन्द जी के घर की चिन्ता हुई थी — कहीं उसमें कोई ख़राबी न आ गई हो। पर १९३४ में एक दिन बेनिया बाग़ वाले उसी मकान में एक पंजाबी ने हुक्का गुड़-गुड़ाकर मुझे टका-सा जवाब दिया — 'प्रेमचन्द वेमचन्द यहाँ नईं है !' तब कहीं मुझे मालूम हुआ, रंगभूमि और कायाकल्प के लेखक के अपना घर का घर भी नहीं है।

बेनिया बाग़ में शायद तीसरी बार मैं उनके यहाँ (पहली बार घर पर) पहुँचा। पुस्तकें अलमारियों से भरी, मेज़ पर अखबार और नोट बुकें तथा बैठक के कमरे में गद्दी तकिया — कुहनी मेज़। दीवार पर एक केलेण्डर। बस इतना ही। इस सादगी के वातावरण के पीछे जी मसोसनेवाला अभाव न था; क्योंकि उसका प्रदर्शन रंक होता है। प्रेमचन्द की वह कुहनी के बल लेटी हुई मूर्ति रंक न थी; उसमें अपरिग्रह की भावना झलक रही थी। एक दम कमरे के वातावरण ने मुझे सुझाया, यह इनकी सुन्दरता है।

मैंने इधर-उधर की बातों के बाद कहानियों की बाबत पूछा—आपने मेरी कहानियाँ पढ़ीं होंगी।

'हाँ, अच्छी हैं।' यों कह कर आपने बंडल से एक कहानी—रचका (पीछे 'द्वन्द्व' नाम से 'हंस' में छपी)—निकाली और पढ़ गये। बोले, इसे अपने नाम से भेज दूँ तो २५ रुपये मिल जायँ ! कहानी की सभी बातें यहाँ हैं।'

मेरा मन फूला, घमण्ड में नहीं—सच्चे प्रोत्साहन के धूप को पाकर जैसे एक डोड़ा विकच उठे, कुन्द-कली हँस उठे, वैसे जैसे प्रभात-वायु के झोंके से लहरियाँ जाग उठें !

आपने कुछ देर बाद पूछा—क्या चाहते हो ?

मैंने कहा—आपकी जो इच्छा हो, वह कीजिये। मैं तो तुष्ट हो गया। ये मैंने आप ही के लिए लिखी थीं। आपको रुचीं, मैं सफल हुआ।

एक गहरी दृष्टि से उन्होंने मेरा अन्तर टटोला। बोले—फिर भी ?

मैंने जवाब दिया—यदि आप मुझे हिन्दी-सेवा के योग्य समझते हों, 'हंस' के

उपयुक्त इन्हें समझते हों — मुझे प्रोत्साहन के योग्य मानते हों, तो इन्हें प्रकाशित करिये। अन्यथा आपके चरणों में ही इन जैसे-तैसे फूलों को रहने दीजिए। आप ही मेरे परीक्षक हैं।

और प्रेमचन्द जी ने मेरी परीक्षा लेनी शुरू की। पर ढंग स्नेह का था। एक के बाद एक, यों दो-तीन कहानियाँ प्रकाशित कीं, और मैं जैसे इस फल से उदासीन होता गया। लेखक और सम्पादक का बरताव, अपना मुँह लेकर बिदा हुआ, और वीरान होते-होते बच गया। आज हिन्दी का एक नवयुवक लेखक, जो इस महिमामय प्रगतिशील संसार में रचनाएँ लिए घूमता है, कितना अकेला होता है? सम्पादक इसलिए सम्मान करते हैं कि उन्हें मुफ़्त अच्छी रचनाएँ चाहिये और पाठक अपने अभाव की अनुभूति में भाव की पूजा भर कर लेता है। यश के अबरकी कपड़े पहन यह प्राणी यों घूमा करता है, मानो घरहीन, परिवारहीन एक अन्धा भिखारी, कुछ गीत लिए, कुछ भाव लिए। लेकिन कलाकार का वह वरद प्रेम, जो काया पलट देता है, व्यक्तित्व की बीमारी शमा देता है, कितने अभागों को मिलता है? मैं सोचता हूँ, प्रेमचन्द जी का मुझे जाँचना ऐसे ही स्नेह का वर्षण था। मैं जब इस क्षितिज के पास पहुँचा, एक कुहरों में क्रान्त उभार-भरा बादल था; इस सुनहली रश्मि ने मुझ में प्राण भर दिया, बिजली भर दी।

यों प्रसंगोपात्त प्रेमचन्दजी मुझे एक प्रकार से संस्कृत करते रहे। मेरा मानसिक क्षितिज विकसित करते रहे — मुझे लेखक होने के लिए अधिकाधिक योग्य बनाते गये, और मैं उनको जैसे अधिक पास से देखता गया, वे मुझे अपने साहित्य से ऊपर प्रतीत होते गये। 'ऊपर' से मतलब यह नहीं है कि उनका साहित्य उनके जीवन से प्रसूत न हुआ हो। इसका अर्थ यही है कि वे अपने स्वप्नों से कहीं अधिक सुन्दर थे। एक दिन दोपहर को जैनेन्द्र जी तथा वे बैठे बातें कर रहे थे — मैं भी बैठा था। साहित्य के विभिन्न अंगों पर वर्तालाप हो रहा था। वार्तालाप जैसे समुद्र के किनारे बैठे हुए दो व्यक्ति कर रहे हों — समस्या के बाद समस्या, तरंग पर तरंग। भाषा, राष्ट्रभाषा, अनुभव, प्रतिभा आदि सभी विषयों पर चर्चा हो रही थी, और अनुभव की समस्या ने तो जैसे प्रेमचन्द जी की वाणी में ज़ोम भर दिया; बोले — बिना अनुभव लिखना तो लग़ो है! हमने मसूरी में ताँगे चलाये! थी न हिमाक़त?

फिर वह चमत्कृत करनेवाला सरल पर मुक्त हास्य! मैं आज सोचता हूँ, प्रेमचन्द जी अपनी ग़लतियों को ऐसा पहचानते और हम अपनी ग़लतियों को आदर्श का रूप देते फिरते हैं। जैनेन्द्र जी ने बहस छेड़ दी; पर मुझे वह उतना अपना न बना सकी। वह पहला दर्शन था प्रेमचन्द जी के इस माननीय मित्र का। पर प्रेमचन्द में जो था, वह जैनेन्द्र में न मिला। आज भी नहीं। एक बार उन्होंने कहा — हिन्दी उपन्यास-क्षेत्र में मैं तो बालक हूँ। मैं हँसे बिना न रह सका। कितना गम्भीर-धीर यह बालक है, जिसने 'सूरे' की रचना की है।

ये संस्मरण अत्यन्त व्यक्तिगत ही रहे हैं; पर इसके लिए मुझे चिन्ता नहीं है। मैं तो प्रेमचन्द को जैसा मैंने पाया, वैसा यहाँ कुछ स्मृतियों में आहवाहित कर दे रहा हूँ। जनार्दन झा 'द्विज' जी की 'प्रेमचन्द की उपन्यास कला' नामक पुस्तक पर मेरे मुंह से निकल गया — आप पर तो सात सौ पृष्ठ का पोथा होना चाहिए।

आप कुछ किलककर बोले — तुम लिखना।

मैंने कहा, उत्साह के साथ कहा — यह एक तीव्र कामना है —

बीच ही में बात काटकर आपने कहा — अभी नहीं, मैं मर जाऊँ, उसके बाद !

और किसे पता था, १६३७ में मुझे ये काली पंक्तियाँ लिखनी पड़ेंगी ? जीवन-चरित्र में क्या लिखूंगा ? कितनी ऐसी बातें हैं, जिनका मेरे पास नोट नहीं है, पर प्रेमचन्द धीरे-धीरे मेरे केन्द्र बन गए थे। खूब खुलकर मैं उनके साथ जीता था और आज उनके शरीर के बिना भी मैं इन कुछ स्मृतियों के बल जी रहा हूँ। एक दिन मैंने पूछा — साहित्य-सेवा किस प्रकार की जाय ? आपने सहजभाव से कहा — अच्छी-अच्छी पुस्तकें लिखकर। उसके लिए न सभा की ज़रूरत है, न समाज की। उसके लिए चरित्र की, हृदय की, तपस्या की ज़रूरत है। बस !

और मैं दिवसों अपने अतीत पर सोचता रहा। मुझे मालूम हुआ, अपने अन्धकार से मैं किस प्रकाश की प्रशस्ति लिखूंगा ? क्या करूँ ? अपना गत चिट्ठा कह दूँ ? यहाँ एक आदर्श की लड़ाई मुझ में छिड़ पड़ी। और वर्ष भर बाद 'हंस' में उन्होंने मुझ पर कुछ पंक्तियाँ लिखीं। तारीफ़ करने की उनकी आदत ज़रा बहकी हुई थी। पर प्रेमचन्दजी का मेरे विषय में विचार वह बता रही थीं। भर चौंक मैंने उस नोट को पढ़ा और धक् रह गया। एक करवत चल गई; रात भर मैं सोचता रहा — लिख दूँ सब ? पर कैसे लिखूं ? एक बार मैं एक साथी खो चुका हूँ। यह गहरी हानि इस बुत के स्नेह के मरहम से शान्त हो रही है। पर क्या इस कृपा-सदन को धोखा दूँ ? और यहाँ मेरी अन्तरात्मा क्रान्ति की अँगड़ाई में उठ बैठी। मैंने लिख दिया, मैं ऐसा रहा हूँ — वैसा रहा हूँ। यही कुछ बातें थीं जिन्हें खोल मैंने कष्ट उठाए थे, पर इस समय तो मैंने सब कुछ को दाव पर रख दिया था। मैंने वज़ीर खो दिया है, बादशाह अब खो दूँ। पर एक प्रकाशमय सवेरे प्रेमचन्द ने शीतल क्षमा की, प्रेम की ज्योति की वर्षा की। जीवन के सभी घाव भर गए और मैं सबल हो गया — ताज़ा। उन्होंने लिखा — जितना पवित्र हमारा जीवन होगा, उतना ही शुद्ध हमारा साहित्य होगा। अमीरी प्रतिभा के लिए अनुकूल भूमि नहीं है। इसमें कुछ ऐसी बातें हैं, जो ग़रीबी ही में फल सकती हैं। फिर उन्होंने हिन्दी की तू-तू मैं-मैं स्थिति पर दुःख प्रगट किया और मुझे आदेश दिया था कि मैं उससे दूर रहूँ। मैंने सोचा, जीवन के सौन्दर्य को कलाकार किस आँख से देखता है ? एक तो महाशय 'क' थे, जिन्होंने पाप को लेकर सदाशय को ठुकरा दिया और एक यह हैं,

जिन्होंने सदाशय को चूम कर पाप को ठोकर मार दी। क्या प्रेमचन्द ने मुझे मनुष्य न बना दिया ?

एक बार आपने कहा — मैं तुम्हें यों ही मुंह नहीं लगा रहा। तुममें मैंने प्रतिभा पाई है। अब मेरा धर्म है, उसे रास्ते पर लगा दूँ। सबसे पहली बात चरित्र चाहिए, एक पागल साधना-प्रेम चाहिए — उसका कुछ मैं तुम में देख सका हूँ। उस समय तो मैं ठंढ़ी आँधी में रह कर काँप उठा था यह सुन कर। पर मैं समझ गया था, मुझे कहाँ तक अपना परिचय इनको देना है।

'कीचड़ का कमल' आपने पढ़ा ? समय निकाल कर पढ़ा और एक दिन बोले — ढाई सौ पन्ने तो हम एक ही दफ़ा में पढ़ गये। मैं समझता हूँ, हिन्दी की टोन बढ़ रही है। पर भुवनेश्वरी के चरित्र से मैं सहमत नहीं होता। तुमने उसे खींचा तो ठीक है; पर पुलिस की रिपोर्ट तो कुछ नहीं है।

और उन्होंने एक विवाद का जन्म दे दिया। मैं उनको सुन रहा था और सोच रहा था, यह व्यक्ति क्या मुझे इतना ज्योतित मानता है कि मैं यों रचना के आदर्श द्वारा समझाया जाऊँ! वे हुक्मिया यह कह सकते थे, कि तुम उसका चित्रण बदल दो वरना उपन्यास छप न सकेगा। अथवा उसके बिना कृति कुछ भी न रहेगी। प्रेमचन्द मुझ पर दबाव डाल कर जो चाहते करवा सकते थे ; पर उन्होंने यथार्थ और आदर्श की एक सहमत कर आलोचना ही छेड़ दी। कहाँ तो हमारे सम्पादक आठ-आठ महीनों तक नए लेखकों की कृतियाँ पढ़ते तक नहीं और कहाँ प्रेमचन्द जी ने पौने चार सौ घने लिखे गये फुलिस्केपों को पढ़ा और प्रत्येक चरित्र पर राय दी, उज्र पेश किये। मुझे समझाया, बुझाया — सहमत किया। उस समय मैं उनसे इतना प्रभावित था कि उनके कहने पर उपन्यास को फाड़ कर फेंक सकता था। पर बड़ी खूबी से उन्होंने मुझे समझाया — नग्न यथार्थ और नग्न आदर्श दोनों ही अतियाँ हैं। नग्न यथार्थ पुलिस का रिपोर्ट भर हो जाता है। नग्न आदर्श प्लेट फार्म का फ़तवा।

मैंने डरते-डरते भी उज्र-सा किया—पर लेखक यथार्थ के चित्रण में जीवन ही तो खींचता है। पुलिस की रिपोर्ट और लेखक का वह चित्रण तो दो वस्तुएँ हैं—

'पर यथार्थ के नाम में विकारों का चित्रण तो न होना चाहिए। जीवन का अन्धकार तो है; उसे हम क्यों अन्धकार ही चित्रित करें ? कलुष तो है, उसे हम सौंदर्य में क्यों न बदल दें ? जीवन में होता भी यही है। दुनिया तो दुःखमय है; पर क्या दुःखमय जीवन में सुख की रचना हम नहीं करते।' उस समय तो मैं सहमत होने के लिए हो गया। नन्ही मछली मगर के सामने ठहर कैसे सकती ? और मुझे हाँ नाँ कहने का अधिकार ही क्या था ? किताबों में पढ़े गये यूरोपीय फ़तवे मेरे दिमाग़ में चक्कर काट रहे थे ; मैं भी उस बीमारी से पीड़ित था, जिससे आज हमारे ढेरों लेखक पीड़ित हैं। यथार्थ की आँखें रंगीनी ही तो देखती हैं ; वह मन विनोद खोजता है; बताशे चाहता

है ; वह भोग चाहता है; जो निर्माण नहीं करता, क्षय करता है, नाश करता है। जीवन के सतत भोग में हमें जीवित कौन रखता है, मैं सोचता हूँ। और आज एक प्रतिध्वनि उठती है, आदर्श की साधना। प्रेमचंद — प्रचारवाद के लिए बदनाम प्रेमचन्द ने — मुझे खूबसूरती से यह दृष्टि प्रदान की और आये दिन मुझे एक प्रकाश मिला, मुझे जैसा दिखा, यथार्थ और आदर्श बुद्धि के झगड़े हैं। जीवन में ऐसी सीमाएँ, रेखाएँ, नहीं। यह तो विविधता की एकात्मक साधना भर है। यहीं, यहीं समवेदनों की पाँच ज्वालाएँ मन की पकड़ में बँधतीं और जीवन की चेतना का प्रारम्भ होता है। यहीं बुधता की लौ जलती है, यहीं सौंदर्य का जन्म होता है। यह बहुता का सर्वाङ्गीन एकता में बदले जाना ही जीवन की धारा है। साहित्यिक रचना इस सत्य के विपरीत कैसे हो सकती है? इसलिए मैं आज आदर्श के साधना ही को जीवन मानता हूँ। प्रेमचंद यही दूसरी तरह देख सके थे। उनकी शैली में इस ध्रुव सौंदर्य को चालाकी के साथ, घुमा फिराकर व्यक्त करने का मायाजाल परिष्कृत न हुआ था। इसलिए उनमें कला कला के लिए की भ्रान्ति न मिली। पर क्या हमारी वे धारणाएँ आज बदल नहीं रहीं ?

मोदी के कहने पर मैंने उसी उपन्यास को दुबारा लिखा और प्रेमचंदजी को अर्पा। समर्पण में मैंने लिखा था, आप मेरे प्रेरणा-गुरु हैं। आप ने पूछा — यह प्रेरणा-गुरु फिर क्या बात है? एक सुनहली हँसी निकलूं-निकलूं, हँसूं-हँसूं !

मैंने कहा—आपकी 'रंगभूमि' ने मुझे जो-प्रेरणा दी है, वही आज तक मेरे साथ है। अतः आप मेरे प्रेरणा-गुरु हुए।

उत्तर में यह चारित्रिक हास्य !

फिर तो मैं कोई कहानी लिखता, पहले कह आता। और हम दोनों प्रेस से घर तक बातें करते हुए चलते। ताँगा, मोटर, गाड़ी आप से आप बचाते हुए हम चले जाते। वे संध्याएँ कितनी सुन्दर थीं, आज मालूम हो रहा है। प्रेमचन्दजी बातें करते हुए ठहर जाते और नारंगी, केले, दातुन ख़रीदते। मैं देखता — अपने चरित्र ये कैसे ग्रहण करते हैं। क्या कुछ बातें करते हैं किसी खोमचेवाले के साथ; चाट खाते हैं क्या ? मैंने उन्हें बाज़ार में तंबोली के यहाँ पान का बीड़ा खरीदते न पाया। तब वह कौन-सी मूक, छिपी-छिपी शक्ति है, जो ग़रीबों की विपन्न मूर्तियाँ आविर्भूत कर देती है? क्या वह उनके ही पूर्व-जन्मों का अज्ञात प्रकाशन है? नहीं तो इतनी अनुभूति, इतनी सजीवता कैसे आवे। मैं जानता हूँ, लेखक अपने चरित्रों में जाता है ; पर इन सभी चरित्रों के पीछे कोई न कोई व्यक्ति रहता है। यही बात प्रेमचन्दजी ने मुझसे पूछी थी। उपन्यास के एक पात्र को लेकर मुझसे पूछा था, यह तुम्हें कहाँ से मिला ? और मैं अपने ध्यान की व्यक्तियाँ बताता गया था। अब मैं देखना चाहता था, कालूखाँ इन्हें कहाँ से कैसे मिला। पर मैं आज दिन तक यह समझ न पाया, प्रेमचंद अपने पात्र कैसे पकड़ते थे। तब क्या पतंग जलकर ही दीपक

सभी सपनों का मर्म जान जाता है ? एक बार दिल्ली में उन्होंने मुझसे पूछा — कुतुब देख आये ? मैंने उत्तर दिया, जी नहीं, क़िले में उसकी एक बड़ी तसवीर देख ली है। ठहाका मार कर आपने कहा था — हाँ जी, हम लोगों के पास कल्पना भी तो है ; उससे चाहे वह देख लें ! दुनियाँ में न हो, वह भी देख लें।

समझा, तब यह वह कल्पना थी, जो आँखें देखकर दिल का दरिया नाप लेती थी, रोयें छूकर जीवन की ज्वाला देख लेती थी, आँसू और हास्य को निहार कर सुख-दुःख का इतिहास जान लेती थी। पर कितने महिमामय वे मन के नैना थे ? हमारे शिव का वह तीसरा नयन आज बन्द हो गया क्या ?

बनारस की उन सड़कों पर हम साहित्य, कला, दर्शन, धर्म, इतिहास, विज्ञान सभी विषयों पर बातें करते चले जाते। 'हम' का प्रयोग तो संख्या वाचक है। अतः मैं तो श्रोता ही था। उनका अध्ययन मेरी पाठशाला था। और उन्होंने मेरी चुप्पी का अर्थ भी समझ लिया। एक दिन शाम, हम 'आज' कार्यालय के पास होकर गुज़रे और प्रेमचन्दजी ने कहा — मैं तो हिन्दी में योंही आ गया हूँ। मुझे साहित्य-सेवा का अधिकार ही नहीं। मैं तो अब चला; ज़िन्दगी खतम हुई। पर तुम्हारे सामने अभी जीवन का जीवन पड़ा है। तुम सच्चे साहित्य-सेवी बनो। और वे रुके ; मेरे भाव, मेरी रुचि, मेरी एकाग्रता जैसे तौली। मैंने उदासीन — उदासीन सन्ध्या को बेनियाबाग़ की घटाओं पर जैसे मूक पाया। वे बोले — अपने मार्ग, अपने अध्ययन, अपनी फ़िलॉसोफ़ी के बिना कोई सच्चा कलाकार नहीं हो सकता। अपनी आँखों से जीवन देखो ; अपने अनुभव से उसे जाँचो। जैसा पाओ, वैसा लिखो।

यह गुरु मंत्र न था ; उनके अपने अभाव (!) का एक सहृदय उद्‌गार था। पर मेरे लिए यह मंत्र ही था ; एक मशाल, जिसे हाथ में लेकर मैं अपने स्वप्न मार्ग प्रकाशित कर सकूं। नए होनहारों के लिए प्रेमचन्द का यह कथन क्या मार्ग दर्शक नहीं है ? मैंने कमरे में पहुँच कर उसे नोट कर लिया। तब से, अधकचरा ही सही, इस दिशा में मैंने प्रयत्न अवश्य किया है। और मुझे मालूम हुआ है, वाक़ई इस विशिष्टता के बिना कोई सच्चा कलाकार नहीं कहला सकता। जीवन की पूजा, जो सौन्दर्य के असीम आनन्द की आराधना है, आत्मा की गूढ़ आँखों के नयन-जल के बिना नहीं होती। वह व्यक्ति होना चाहिए।

प्रेमचन्द का यह पूर्णिमा-दर्शन मुझे दिल्ली-सम्मेलन बाद बम्बई से पत्र द्वारा हुआ था। पर दिल्ली में हिन्दी संसार का यह क़िसान एक अजब बल का धनी मिला। 'जागरण' बन्द क्यों नहीं कर देते ? प्रश्न। उत्तर — 'मोह बन्द करने नहीं देता।' मैंने उनकी पुतलियों में एक अथाह निराशा देखी। बोले — 'और फिर काम न करूँ, तो बैठा-बैठा क्या करूँ ? जीवन में काम तो करना पड़ता है।' उस मनन-लीन भाव भंगिमा की तह में मुझे वह वीतराग मिला, जहाँ से झनकार करते हुए कर्म की एक नृत्य गति प्रारम्भ होती है। जीवन का प्रेम, जो जीवन का सर्वसांत पाकर अधिक

जलता है — अधिक रंग पकड़ता है, मिला वह मूक-भूमि में सोते हुए योद्धा की मान मूर्च्छा हो। प्रेमचन्द क्या चाहते थे? प्रसंग छोड़कर मैं पूछता हूँ। लोग कहते हैं, वे धन चाहते थे; यश चाहते थे; प्रमोद क्षेत्र चाहते थे। श्रीनाथसिंह और अन्य ऐसे आन्दोलनों की चिल्ल-पों वहुत से अपराध बना चुकी हैं; पर ये उनमें हों भी तो ये जीवन के अपराध हैं। पर प्रेमचन्द न यश चाहते थे, न धन, न प्रमोद-क्षेत्र ही। वह एक ज्वाला थी जो अपने लिए तेल चाहती थी, शिखा चाहती थी। सम्मेलन में जाने के पहले मैंने पूछा — आप सभापति बनने पर राज़ी होंगे? मुक्त हास्य के साथ आपने कहा — बना दें भी तो! फिर मज़ाक छोड़कर बोले — हिन्दी में आज हमें न पैसे मिलते हैं, न यश मिलता है। दोनों ही नहीं। इस संसार में लेखक को चाहिए किसी की भी कामना करे बिना लिखता रहे। तुम्हें लिखना हो तो यह बात नोट कर लो। हिन्दी को तपस्वी चाहिए, यह था उनका मतलब। प्रेमचन्द का तपस्वीपन एक युद्ध शुद्ध मनुष्यत्व था। दिल्ली-सम्मेलन के संस्मरण मैं कभी भी नहीं भूल सकता। वे छः दिन अजर दिवस हैं और उनका ध्यान एक अपूर्व कम्पन। हरिऔध जी, प्रेमचन्द जी आदि के साथ रहने का वह प्रथम अवसर था और हमारी छाती गज गज उछल रही थी।

प्रदर्शिनी का उद्घाटन हो चुका था और प्रेमचन्द जी एक झुण्ड में खड़े थे। बोले — कोई नाई तो खोज लाओ।

शायद किशोरी लाल वाजपेयी थे, बोले — अब तक आपकी हजामत नहीं हुई? इशारा श्रीनाथ सिंह जी के आन्दोलन की ओर था। मैं जल गया, मन में आया, ... पर ऐसे प्रसंग विष पीने के प्रसंग हैं और ये ही घूँटें कालान्तर में हृदय का बल बनती हैं — जीवन। प्रेमचन्द तो माधव प्रसाद खन्ना के पास जा बैठे; पर दिवस भर मुझ पर चिन्तित वातावरण छाया रहा; एक विषाद, जो दुःख की तीव्रता से पैदा होता है। यह था सूरे, सोफ़िया, अमरनाथ, होरी और धनिया के लेखक के प्रति हमारा सम्मान-भाव — बरताव। जिनके वरद हाथों ने भूतनाथ और चंद्रकान्ता-संतति का मार्ग एक राजमार्ग में बदल दिया, उस प्रणवीर के प्रति हमारा यह विवेक क्या हमारी योग्यता नहीं बताता?

पर प्रेमचन्द? प्रेमचन्द को मैंने एक नई सजधज में देखा। अब तक मैं उन्हें प्रेस में घर में पिता, आचार्य, सम्पादक, मित्र की भाँति ही देखता आया था — अब उन्हें गतिमान समाज के एक व्यापक दायरे में स्थित देखा। मुझे वे मनुष्य, एक अधिक मज़बूत और धुन के अच्छे महामना व्यक्ति मिले। पंडाल के द्वार पर एक स्वयं सेवक ने उनको भूल से रोक दिया, आप दर्शकों में जा बैठे। मीटिंग खतम होने पर जब लोग 'ये प्रेमचन्द! ये प्रेमचन्द!' कहकर आपस में अँगुलियाँ बताते, जैसे आप जन-हीन मार्ग पर चले जा रहे हों। और जब उस अखिल भारतीय साहित्य के मंच पर उनको लेकर एक खासा वैयक्तिक विवाद चल पड़ा, वह व्यक्ति सुदूर

कनकौओं की लड़ाई देखने में मगन था। एक उदासीनता, जो जीवन की सजीवता का उद्‌गम है, मैंने उनकी उस वृद्ध देह में प्रकाशित देखी। शेर की तरह झपट कर उन्होंने मेरे हाथ से अपनी धोती ले ली, जब मैं अपनी भावना में विभोर उसे धोने लगा था। 'यह न चलेगा! भविष्य में कभी यह न करना; नहीं!' पर मैं क्या करता? सेवा ही मेरे प्राण की अभिव्यक्ति है उसके प्रति, जिसे मैं श्रद्धा, प्रेम, स्नेह से अपना स्वीकार करता हूँ। प्रेमचन्द के प्रति मैं अपनी भक्ति, अपनी श्रद्धा कैसे प्रगट करता? मैंने जवाब दिया — मेरी भी तो कुछ चलने दीजिये! और वे चुप। ओह! वह घटना कितनी रोमांचकारी है? मेरी इस करतूत ने उनपर जो प्रभाव डाला और उससे 'हंस' में उन्होंने मेरा जो 'ज़िक्र' किया, वह मैं ऊपर लिख चुका हूँ।

पर इस आन्तरिक आनन्दमय स्पर्श की अनुभूति पर व्यंग जैसे सघन बदली था। मैंने प्रेमचन्द जी की भवों में एक वेदना सोई पाई। वह जैसे समस्त जीवन का उपहास कर रही हो, ऐसा मुझे लगा। वे उस व्यंग को पचाने की कोशिश कर रहे थे। मुझे लगा, वे इतनी परवाह क्यों करते हैं? और मन में आया, यह उनसे कह दूँ। लेकिन वाह रे मैं, कितना ग़लत मेरा यह अंदाज़ था? रात को उस निर्जन सड़क पर प्रेमचन्द का यह तरंग-विनिंदित मुक्तहास आज भी मेरे कानों में गूँज रहा है, ऐसा गुंजार रहा है वह कि ट्रेन की यह कर्ण-कटु आवाज़ भी उससे मात हो रही है। जैसे अंतरिक्ष में वह सुन्दर हँसी एक अमर थाती के समान विहँसोही-प्रकृति ने संग्रह कर रखी है! हम लोग — मोदी, मैं और वे — एक बजे रात कवि-सम्मेलन के हुड़दंग की ठेलमठेल देख लौट रहे थे, आवास पर। एक-एक तुक्काड़ के नाज़-नखरे ले-लेकर यह दुःखी, दुःखी प्रेमचन्द हँस रहा था। हँस रहा था, जैसे सारा जीवन एक मस्त हास्य हो, आनन्द की एक तरंग। विजन-विजन चाँद दूधिया आकाश में और एक कातर स्वप्न की भाँति क़िले की काली-काली दीवारें। हम हँसते जा रहे थे। पर वह तो देखो, प्रेमचन्द मारे हँसी के टेढ़े हो रहे हैं, लक्कड़! हँस तो हम भी रहे थे, पर हमारे मन मानो सीकचों में बन्द मुँह झलका रहे हों — और इस साहित्य के 'होरी' को तो देखो, जैसे प्रतिपल एक नई हँसी हो! चाँदनी रात का वह हास्य आज मुझसे पूछ रहा है, तब क्या प्रेमचन्द प्रेम और आनन्द की आँसुओं भरी हँसी थे?

बिछौने में उठ बैठते ही मिलनेवालों का तांता लगा रहता था और यह दस-दस, ग्यारह-ग्यारह बजे तक खतम न होता। हमें सज्जनों से कहना पड़ता, मुंशी जी को हाथ-मुँह तो धोने दीजिए। यह काम मोदी ने अपना कर्तव्य बना रखा था। न मालूम वह क्या सोच था, वह कौन-सी विरक्ति थी, जो उन्हें कपड़ों से, खाने से, पीने से अलग-सा रखती थी? तेल डालियेगा न? 'तुम्हारी इच्छा!' कुर्ता बदल लीजिये। 'अच्छा!' — ये ठंडे उत्तर थे।

दिल्ली के संस्मरण अधिकतर कष्टप्रद ही हैं। पर इन्हीं संस्मरणों के बल तो प्रेमचन्द मुझे अधिक गहरे दिखे। फिर तो वे साल भर तक बम्बई रहे। सिनेमा-संसार

में घूमते हुए भी आपने केवल एक ही फ़िल्म देखा था; और यह भी घनीराम जी कह सुनकर लिवा ले गये थे। संयम की यह सीमा नहीं तो क्या है? यहाँ तो नया फ़िल्म आया कि उड़े! चाहे फिर पैसे उधार लेना पड़े। आपकी तबियत बम्बई में कैसी रही?' ये बोले — अच्छी रही; संयम से रहते हैं, तो अच्छी क्यों न रहेगी? मैं चुप रह गया। मन में सोचा, यहाँ तो असम्भव ही का बोल-बाला है। प्रत्येक कमजोरी को या तो हम आज फ़ैशन के नाम में, माननीयता लगो ख़्याल के नाम पर हक़्क़ माने बैठे हैं! आवश्यकता इस सदी और सभ्यता का रहनुमा शब्द है। प्रेमचन्द मेरे लिए यहाँ भी एक सबल चुनौती थे, उपरोक्त इशारा, उपदेश।

बम्बई में वे कैसे रहते थे? धन उन्हें मिल रहा था! पर उनके पत्र बता रहे थे, वे वहाँ अधिक दुःखी रहते थे। उन्होंने एक पत्र में लिखा था — धन कमाना ही जीवन का उद्देश्य नहीं है। कब 'मे' खतम हो और कब बनारस उड़ूँ? यहाँ फिर मज़े में ग़प-शप होगी। सिनेमा की अन्दर की असलियत ने उन्हें निराश ही किया। आदर्श-चेता व्यक्ति के लिए धोखे और पतन का दूसरा स्थान शायद ही और कोई हो, यह उनकी टिप्पणी की ध्वनि थी। मैं तो यहाँ आदर्श के प्रचार के लिए गया था, पर डाइरेक्टर के राज में कुछ नहीं हो सकता। आदर्श के प्रचार की भूख उन्हें थी। पर उसके पीछे मानव-जाति के कल्याण की कितनी लगन उफन रही थी, यह मैं जानता हूँ। उनकी इस भूख ने ही उन्हें इतना साधना-प्रिय बना दिया था।

अब बीमारी। गए अगस्त मैं घर से लौटा, तो मालूम हुआ वे बीमार हैं। मन में अज्ञात शंका पैदा हो गई। तब से बराबर वह ज्वाला जलती ही गई। पर बीमारी में वे खूब खुले। इसके पहले भी मैं ईश्वर और आत्मा पर उनके विचार जानता था; पर शनैः-शनैः मृत्यु के मुख में जाते हुए भी वे जीवन के प्रति वैसे ही रहे। 'यह तो होता ही रहता है।' 'आज' के प्रतिनिधि से आपने कहा था—हाँ, जन्म-मरण का चक्र तो चलता ही रहता है; पर सौन्दर्य के पूजारियों का अंत कितना दुःखद है, ईश्वर! और उसमें भी जीवन की सुन्दरता के उपासकों का। प्रेमचन्द किसी उदासीन शक्ति को मानते थे। बीमारी भर वे मुझे समझाते रहे, कि जीवन में ईश्वर की आवश्यकता नहीं है। सन्तोष के लिए, अभाव के शमन के लिए, आशा की उत्तेजना के लिए उसकी कल्पना कर लो; पर यह है अपने ही अहम् का विस्तरण। वे मनुष्य के एक सर्वस्पर्शी सौन्दर्य के प्रकार में विश्वास करते थे, जो मंगल और कल्याण के रूप में व्यक्त होता है; जिसका मार्ग त्याग है, तपस्या है। वे चाहते थे, हमारी सभ्यता का रूप इसी उद्देश्य की अनंत साधना का हो और सदाशय उनका अस्त्र था। जीवन को वे ऐसा प्यार करते थे, मानो चींटी गुड़ की डली को। डॉ० अत्रेय को आपने कहा था, जीवन योगवाशिष्ठ्य लिखना नहीं है। बुद्धि का आलोक विलास के अन्तिम रूप में यदि हमें मिले, तो उसका मूल्य ही कितना है? पर जीवन का उनका प्रेम उनके अन्तिम दिवसों को सतत युद्ध का रूप

दे गया। मैं जानता हूँ, किस ललक से वे अच्छा होना चाहते थे। महीनों हो गए, क़लम नहीं पकड़ा। जीवन भर जिसने लिखा हो, मज़दूरी ही जिसके जीवन का आदर्श हो, वह यों खटिया कैसे तोड़ता रहे? जब तक कमज़ोरी घर न कर गई, प्रेमचन्द नीरव रात को लिखते रहे। जलन और रोग का भार उनके लिखने में बाधक न हो सका। लेकिन दिन आया, वह पड़े रहने के सिवा कुछ न कर सकते थे। ओह, घुटना हिलाते-हिलाते वे कभी-कभी आकाश में देखा करते थे, क्या वे किसी चिन्ता में यों देखा करते थे, मैं सोचता हूँ। पर नहीं, वे आँखें चिन्ता से नहीं, गंभीर ध्यानस्थता से ही टक रहती थीं। तब क्या वे जीवन की अन्तिम एकरूपता का अनुभव कर रहे थे? वे कभी-कभी फूलों को निरखा करते थे, क्या वे उनका मूक सुख-दुःख पूछते थे। यह कवि क्या देखता था उन फूलों में? और काम करते हुए मजदूरों को जब वे देखते थे, तब क्या वे किसी युग की ज्योति निहारते थे? ये प्रश्न हैं, जिनका उत्तर मैं स्वयं ही दे सकता हूँ। बीमार शरीर, पर सच्चे प्रेमचन्द का कार्य तो जारी था।

एक दिन घबराकर मैंने पूछा — यदि कहीं कुछ हो गया तो क्या होगा?

सहज उत्तर मिला — क्या होगा, मर ही तो जाऊँगा। तुम लोग हो। और फिर कौन जाने मैं मरूँगा भी।

पर इस सन्देह के हृदय में मुझे जीवन का गहरा-घना मोह ही मिला — वह अनुराग जो बिन्दु से सागर, सागर से महासागर होता रहता है; जो स्वरूप से विरूप होने की चेष्टा में असीम है, अनन्त है। प्रेमचन्द की दार्शनिक भूमि घोर जड़वाद के निकट ही एक मानवीय प्रयत्नवाद थी। वे मनुष्य की सभ्यता में उसके आन्तरिक मंगल का उत्तरोत्तर विकास चाहते थे। उनका आध्यात्म जीवन का खुलकर जीना था। अपने समय की मूल प्रवृत्तियों का उनमें एक क्रियात्मक केन्द्र था, जहाँ से उनके स्वप्न जो स्वस्थ, सप्रेम-मानव-समाज का दिवस देखने को लालायित रहते थे, फूटते रहते थे। और आज का मनुष्य उन्हें मोहे बिना कैसे रहता? प्राचीनता के रूढ़, जर्जर और प्राणहीन स्वरूप का यह कट्टर विरोधी नवीनता के भयों को भी भलीभाँति जानता था। खास कर भारतीय दार्शनिक सम्पत्ति पर उनका रोष प्रबल था। अतः संघर्ष की तरंगों में क्रान्त मनुष्यों में बातूनी दार्शनिक उन्हें जला देता था। ईश्वर और धर्म मनुष्य के अहम् की चरम सीमा है, यह उनका प्रोफ़ेसर मेहता 'गोदान' में एक जगह कहता है। यह प्रेमचन्द की असहाय पुकार है।

मज़दूरी को वे अपना धर्म मानते थे, इतना कि विलास से उन्हें जघन्य घृणा थी। एक उदाहरण, जो दुःखद हास्य का प्रतीक है, उनके आत्मा की इस मज़बूत नींव को बता देगा। उनकी चारपाई घेरे हम सब बैठे थे और शिवरानी देवी उन्हें सन्तरे का रस पिला रही थीं। मैंने कहा — आजकल तो आपके चेहरे पर सुर्ख़ी नज़र आती है। डाक्टर ने भी हामी भरी और जो वहाँ थे, सभी ने हाँ में हाँ मिलाई।

प्रेमचन्द ने बड़ी रमुज के साथ उत्तर दिया — 'हाँ जी, आजकल सन्तरे भी तो खूब खा गया हूँ !' एक क़हक़हा ! पर इस चुटकी में कितनी गहरी लड़ाई बोल रही है, ताल ठोंक रही है ! मजदूर, ग़रीब — एक निराश्रित अपाहिज शोषण के सार्वभौम चक्र में पीसित प्रेमचन्द की प्रेरणा का सर्वदा झरित उद्गम था। इस दीन हीन अंधकार के प्राणी में वे प्रकाश की सङ्गीत-पूर्ण पीढ़ियाँ मानो पा जाते थे। अतः प्रतिदिन लिखने का उन्होंने धर्म बना लिया था। 'मैं मज़दूर हूँ, जिस दिन न लिखूं, उस दिन मुझे रोटी खाने का अधिकार नहीं है।' उनके ये शब्द जीवन का वह वाक्य है जो जीवन ही से प्रगट हुआ है। इसीलिए वे जीवन की आग से लिखा करते थे ; इसीलिए समाज में सड़े को दूर करने का जिहाद करते रहते थे ; इसीलिए हमें उनका एक योगात्मक जीवनवाद साहित्य में मिलता है। उसने हमारे भूत की थोथी बहकों की परीक्षा की, उनकी चिल्लाहटों से बहरे हमारे जीवन को देखा और वर्तमान के सङ्घर्ष को नस-नस पहचानी। वह नवयुग के प्रकाश को क्षितिज के पार देख चुका था, उन आँखों से जो कलाकार की होती हैं। मालती ! वहाँ चलो, जहाँ चाँदनी में सपने सो रहे हैं ! मैं पूछता हूँ, उनके वे स्वप्न क्या थे ? अवश्य वे प्रेम-पागल मानव-जाति की कामना के स्वप्न ही थे।

पर इतना होते हुए भी क्या वे निराश न थे ? घुटने हिलाते-हिलाते उन्होंने एक बार मुझसे कहा था — ये लड़के जैसे यहाँ पैदा हुए हैं, कहीं और हो जाते ! जैसे हवा की आँधी लाखों मच्छड़ों को उड़ाले जाती, बाट तबाह कर जाती है, हमारा जीवन भी उसी के समान है। और इसके परे शायद वे देखना न चाहते थे। मैं पूछता हूँ, क्या तब सौंदर्य का, मंगल का उनका स्वप्न इस निष्ठुर नींव पर रेंगता था ? मुझे तो कुछ समझ में नहीं आता। मैं तो उनकी वह हँसी जानता हूँ, जहाँ जीवन को अँधेरी-उँजेरी एक विस्मृति में किलकती रहती थी।

इस युग का उनका सम्मान बहुत ऊँचा था। वे इस समय की जड़ताओं को जानते हुए भी मनुष्य-मनुष्य के प्रतिदिन बढ़ते जाते सम्पर्क के क़ायल थे। और यहीं उनकी लोक-संग्रह की भावनाओं का निवास-स्थान था। निश्चय ही सभ्यता के खेत में प्रेमचन्द एक विशिष्ट व्यक्ति थे, जो हमारी आज की सत्प्रेरणाओं के गत्यात्मक अभिव्यञ्जन करती है। पर वे विकार को आदर्श मानने को तैयार नहीं थे। आदर्श सत्य का एक स्वप्न है, एक झाँकी है, एक स्वयं-स्फूर्त अनुभूति है — वे यह मानते थे।

पर अन्तिम दिवसों में वे कैसे तपे थे, गले थे, लड़े थे ! 'मैं एक बुढ़िया का हृदय चाहता हूँ, जनार्दन ! यों अब जीया नहीं जाता।' बुद्धि की ज्वालाओं में जल जलकर जीवन का यह पतंग सिवा जलन के और कुछ न पा सका तब ? ओह, निश्चय, वैसा जीवन तो अखंड दीपक का जलना भर है। वे कलाकार थे, हृदय का दरिया न मालूम कितनी पूर्णिमाओं से जल रहित हुआ था ; पर अन्त में वे सहस्त्र

शीर्षा रूप हो गये ! और मैंने उन पुतलियों में अन्तिम बार देखा, एक नीरव सुनसान मैंने पाया। कौन रहस्य यह जीवन है, मैं सोचता हूँ। पण्डित वे न थे, विचारक थे, द्रष्टा थे — पर उन्हें क्या मिला ? कौन जानता है यह ?

लेकिन क्या प्रेमचन्द सचमुच ही मर गये हैं ? पाठकों, विश्वास है आपको कि यह जीवन की सड़क कूटनेवाला 'होरी' सदा के लिए नष्ट हो गया ? यह कैसे हो सकता है ? हाँ, उनकी रथी निकल गई; मणिकर्णिका घाट के गंदे कोने में उनका पिण्ड भस्म हो गया। पर प्रेमचन्द ? क्या वे भ्रान्ति थे, स्वप्न थे, एक खयाल थे ? ओह, क्या मैं आत्मा के अमर अस्तित्व में विश्वास कर लूँ ? प्रेमचन्द, मर कर तुम मुझे आत्मा का स्पर्श बता गए। प्रेम की मेरी ये निराश तरंगें निर्जन तट को चूम लौट आती हैं और मैं कभी-कभी अकेला पाता हूँ अपने को। एक दिन मैंने उनसे कहा था, आप ही मेरे विश्वास के समस्त भवन हो गये हो। और 'लीलू अंगारिया' मैं आप ही के लिए लिखूंगा। आज यह विजन मैं क्या आपके बिना निराश हूँ ?

नहीं। मुझे उनके मृत्यु से दुःख नहीं। पर मेरी चिन्ता और ही है। मैं पूछता हूँ, सौन्दर्य की यह लहर क्या रह गई इस शोषण और मरण की लीला-भूमि में ! हमारे युग को यह आवाज़ आज क्या सदा के लिए थम गई ? कदापि नहीं जब उनके पात्र, उनकी वाणी हमारी जड़ रगों में जीवन भर रही हैं, भरेंगी, तब क्या उनका वह स्वप्न-वेत्ता ही क्षणभंगुर था ? यह तो जीवन का, समय का, समस्त का, दुःखांत व्यंग होगा। तब अमर प्रेमचन्द में हमारा विश्वास हमारे उनके अभाव में, वियोग में, प्रेम में, ज्यों का त्यों है।

कितनी बार तब से मैंने उनकी कल्पना की है ! वे कहाँ होंगे ? क्या कहीं जन्म ले लिया होगा वा किसी गन्धर्व योनि में गए होंगे। किस लोक को वह ज्योतिर्मय हंस उड़ गया ?

पर ये प्रश्न ही प्रश्न हैं, जो प्रतिध्वनि के अपने ही तीर से मूक हो जाते हैं। और मुझे उन्हें पूछना ही न चाहिए। लेकिन इतना तो अवश्य है, प्रेमचन्द की ऐसी स्मृति के होते हुए जीवन को दुःखद, काला, निराशापूर्ण अभाव कैसे माना जाए !

१३ | ज़ियाउद्दीन बर्नी

मुंशी प्रेमचन्द से मेरी पहली मुलाकात कानपुर में 'ज़माना' के दफ़्तर में सन् १९१६ या १७ में हुई थी। तब मैं थियासोफ़िकल हाई स्कूल की नौकरी के सिलसिले में कानपुर रहा करता था। उसके बाद कानपुर ही में दो-एक मर्तबा मुलाकात हुई। मुझे याद पड़ता है कि मुंशी जी उस ज़माने में किसी स्कूल से संबद्ध थे। महज़ अपने निजी अध्ययन के जोर पर बी० ए० का इम्तहान पास करना चाहते थे। उस वक्त भी उन्हें इतनी ख्याति मिल चुकी थी जो किसी दूसरे लेखक को मुश्किल से नसीब होगी। उस मुलाकात की कुछ-कुछ याद दिमाग़ में अब भी बाक़ी है। बहरहाल इतना कह सकता हूँ कि मैं उनसे बड़े आदरपूर्वक मिला था और उस आदर भाव में बराबर वृद्धि ही होती गयी।

मुंशी प्रेमचन्द जून या जुलाई सन् १९३४ ई० में अजन्ता सिनेटोन में मुलाज़िम होकर बम्बई तशरीफ़ लाये। मगर यहाँ वह ज़्यादा दिन नहीं रहे। ग़ालिबन सन् १९३५ के मध्य से पहले वह बम्बई से हमेशा के लिए तशरीफ़ ले गये। यहाँ की आबहवा और यहाँ का वातावरण उन्हें बिलकुल रास नहीं आया। इसकी शिकायत उन्होंने एक खत में भी की है जो अभी तक मेरे पास सुरक्षित है।

(२)

बम्बई के निवास-काल में स्वर्गीय मुंशीजी से मेरे खासे अच्छे संबंध हो गये थे। उन्हीं संबंधों के आधार पर मैं कभी-कभी उनकी खिदमत में हाज़िर हुआ करता था। उनकी आदत थी कि शाम का वक्त किसी न किसी मनोरंजन की जगह में गुज़ारा करते थे। चुनांचे जब कभी वह अपोलो तशरीफ़ ले जाते तो रास्ते में दफ़्तर में मुझसे मिलते हुए जाते। एक मर्तबा उन्होंने कृपा करके अपनी एक ताज़ा कहानी सुनायी जो हलाकू की ज़िन्दगी से संबद्ध थी और जो उस ज़माने में किसी पत्रिका में प्रकाशित हुई थी। उस वक्त मिस्टर सैयद मुहम्मद याकूब भी मेरे साथ थे।

बम्बई तशरीफ़ लाने से पहले उन्होंने बम्बई की एक फ़िल्म कम्पनी महालक्ष्मी

सिनेटोन को अपने एक नावेल की फिल्म बनाने की इजाज़त दे दी थी। चुनांचे वह नावेल 'सेवा सदन' के नाम से रजतपट पर आया। सही मुआविज़े की तो खबर नहीं लेकिन सुनने में आया था कि महालक्ष्मी सिनेटोन ने पन्द्रह सौ या दो हज़ार रुपये दिये हैं।

अजन्ता सिनेटोन से सम्बन्ध हो जाने के बाद उन्होंने दो ड्रामे और लिखे, एक का नाम 'मिल' था दूसरे का 'नवजीवन।' पहले में हिन्दुस्तान के मज़दूरों की दयनीय दशा का चित्र खींचा गया था। दूसरे में पुराने ज़माने के राजपूतों के हालात पेश किये गये थे। अफसोस बम्बई सरकार ने 'मिल' को आपत्तिजनक ठहराकर उसका प्रदर्शन बन्द कर दिया। पंजाब में अलबत्ता यह फ़िल्म कुछ दिनों तक दिखायी गयी थी लेकिन जब बम्बई सरकार ने उसे बन्द कर दिया तो पंजाब गवर्नमेण्ट ने भी उसकी देखादेखी ऐसा ही किया। बार-बार के संशोधनों से मूल कहानी का हुलिया बहुत कुछ बदल गया था। लेकिन मिस्टर भवनानी कम्पनी के मालिक डेढ़ साल की कोशिशों के बाद उसे आखिरकार 'गरीब मज़दूर' के नाम से दिखाने में कामयाब हो गये। इस फिल्म की तैयारी में खुद मुंशी साहब ने भी हिस्सा लिया था। उसमें उन्होंने यूनियन के सभापति का पार्ट अदा किया है जो मज़दूरों और पूंजीपतियों के बीच सुलह कराने के लिए कायम किया गया था। इस फिल्म की कहानी का ढाँचा कम्पनी ने तैयार किया था और उसपर चमड़ी-गोश्त मुंशी साहब ने मढ़ दिया था। दोनों फिल्मों की ज़बान उनके और अफ़सानों की तरह निहायत अच्छी और दिल पर असर करने वाली थी।

चूँकि मुंशी साहब की सेहत बम्बई में अच्छी न रहती थी और अजन्ता सिनेटोन कम्पनी भी बन्द होने के करीब थी इसलिए उन्होंने बम्बई में ज़्यादा दिन रहने का इरादा छोड़ दिया। मिस्टर भवनानी कहते हैं कि उनकी कम्पनी मुंशी साहब को सात सौ रुपये मासिक दिया करती थी।

बम्बई टाकीज़ के डायरेक्टर मिस्टर हिमांशु राय जो 'लाइट आफ एशिया' और 'कर्म' जैसी कामयाब फिल्म बना चुके हैं यह चाहते थे कि मुंशी साहब किसी तरह उनकी कम्पनी से संबद्ध हो जायँ। चुनांचे जब उन्होंने मुझसे अपनी इच्छा व्यक्त की तो मैंने मुंशी साहब से उनकी मुलाकात करा दी। लेकिन मुलाकत के वक्त उन्होंने बम्बई की खराब आबहवा की बात कही और फरमाया कि मैं अजन्ता सिनेटोन से अलग होने के बाद बनारस जाना चाहता हूँ। मुझे उनकी बातचीत से ऐसा मालूम होता था कि फिल्मी काम से उनका जी उचाट हो चुका है, इसलिए कि जब मिस्टर हिमांशु राय ने उनसे दरखास्त की कि वह बनारस ही से उनकी कम्पनी के लिए कहानियाँ लिखकर भेज दिया करें तब भी उन्होंने अपनी असमर्थता बतलायी और अपनी जगह पर मिस्टर कश्यप की सिफारिश कर दी जो फिर बम्बई टाकीज़ में काम करने लगे।

आखिर में मैं इतना कहे बग़ैर नहीं रह सकता कि मुंशी साहब की जो अदा मुझे खास तौर पर पसन्द थी वह थी उनकी इन्तिहाई सादगी और सज्जनता। कपड़े इतने सादा पहनते थे कि उनसे ज्यादा सादा कपड़ों की कल्पना ही नहीं हो सकती। उनकी निजी आवश्यकताएँ इतनी कम थीं कि छोटे पैमाने पर महात्मा गांधी नज़र आते थे। सब से हंसकर मिलना उनके स्वभाव का अंग था। वह तकलीफों में भी हमेशा हँसमुख रहा करते थे। उनकी सहृदयता का इससे बढ़कर और क्या सबूत हो सकता है कि उन्होंने अपनी ज़बान और कलम से कभी किसी का दिल नहीं दुखाया। मेहरबानी, विनयशीलता उनमें कूट कूट कर भरी थी। बावजूद इसके कि वह हिन्दोस्तान में और बाहर भी असाधारण सम्मान की दृष्टि से देखे जाते थे, उनमें कभी आत्मप्रदर्शन का भाव पैदा ही नहीं हुआ। मेरा अपना खयाल तो यह है कि उन्हें पता ही न था आत्मप्रदर्शन क्या चीज़ होती है। ईर्ष्या-द्वेष से वह कोसों दूर थे। धार्मिक उदारता और सहिष्णुता की भी वह जीवित मूर्ति थे। ग़रज़ उनमें वह सभी गुण अपने चरम विकास पर पहुँचे हुए थे जो लोगों से पहली ही मुलाकात में श्रद्धा पा लेते हैं।

१४ | जैनेन्द्र कुमार

इस साल की होली को गए दिन अभी ज्यादा नहीं हुए हैं। इस बार उस दिन हमारे यहाँ रंग-गुलाल कुछ नहीं हुआ। मुन्नी घर में बीमार थी। मैं अपने कमरे में अकेला बैठा था मामूली तौर पर होली का दिन फीका नहीं गुज़रा करता। पर मुझे पिछले बरस का वह दिन ख़ास तौर से याद आ रहा था। मैं सोच रहा था कि वह दिन तो अब ऐसा गया कि लौटनेवाला नहीं है। ये बीतते हुए दिन आखिर चले कहाँ जाते हैं ? क्या कहीं ये इकट्ठे होते जाते हैं ? इस भाँति उन जाते हुए दिनों के पीछे पड़कर मैं ख़ुद खोया-सा हो रहा था।

तभी सहसा पत्नी ने आकर कहा — पारसाल इस दिन बाबूजी यहीं थे —

कहती-कहती बीच ही में रुककर वह सामने सूने में देखती हुई रह गईं। मैं भी कुछ कह नहीं सका। उस वक़्त तो उनकी ओर देखना भी मुझे कठिन हुआ।

थोड़ी देर बाद बोलीं — मैं आख़िरी वक़्त उन्हें देख भी न सकी — अम्माँ जी से भी अब तक मिलना न हुआ।

यह कहकर फिर मौन साधकर वह खड़ी हो गईं।

तब मैंने कहा कि उस बात को छोड़ो। यह बताओ कि मुन्नी का क्या हाल है ? सो गई है ?

'हाँ, बड़ी मुश्किल से सुला के आई हूँ।'

इतने में ही रंग-बिरंग मुँह, तर-बतर कपड़े और हाथ में पिचकारी लिए बड़ा बालक ऊपर आन पहुँचा। जाने क्या उसके कान में भनक पड़ी थी। आते ही उछाह में भरकर बोला — अम्माँ, बाबा जी आयेंगे ? कब आयेंगे ?

अम्माँ ने पूछा — कौन बाबाजी ?

बालक ने कहा — हाँ, मैं जानता हूँ। पारसाल जो होली पर थे नहीं, वही बाबाजी। मैं सब जानता हूँ। अम्माँ, वह कब आयेंगे ?

उस समय मैंने उसे डपट कर कहा — जाओ, नीचे बालकों में खेलो।

इस पर वह बालक मुझसे भी पूछ उठा — बाबू जी, बनारस वाले बाबा जी आने वाले हैं ? वह कब आयेंगे ?

मैंने और भी डपटकर कहा — मुझे नहीं मालूम । जाओ, तुम खेलो ।

बालक चला तो गया था । हो सकता है कि नीचे खेला भी हो, लेकिन इस तरह उस पारसाल के होली के दिन की याद के छिड़ जाने से मन की तकलीफ़ बढ़ गई ।

पत्नी मेरी ओर देखती रहीं, मैं उनकी ओर देखता रहा । बोल कुछ सूझता ही न था आखिर काफ़ी देर बाद वह बोलीं — तुम बनारस कब जाओगे ? मैं भी ज़रूर चलूंगी ।

मैंने इतना ही कहा कि देखो—

बात यह थी कि पारसाल इसी होली के दिन प्रेमचन्द जी नीम की सींक से दाँत कुरेदते हुए धूप में खाट पर बैठे थे । नाश्ता हो चुका था और पूरी निश्चिन्तता थी । बदन पर धोती के अलावा बस एक बनियान थी जिसमें उनकी दुबली और लालपीली देह छिपती न थी । वक़्त साढ़े नौ का होगा । ऐसे ही समय होलीवालों का एक दल घर में अनायास घुस आया और बीसियों पिचकारियों की धार से और गुलाल से उस दल ने उनका ऐसा सम्मान किया कि एक बार तो प्रेमचन्द जी भी चौंक गए । पलक मारने में वह तो सिर से पाँव तक कई रंग के पानी से भींग चुके थे । हड़बड़ाकर उठे, क्षण-इक रुके, स्थिति पहचानी, और फिर वह क़हक़हा लगाया कि मुझे अब तक याद है । बोले — अरे भाई जैनेन्द्र, हम तो मेहमान हैं ।

मैंने आगत सज्जनों से, जिनमें आठ बरस के बच्चों से लगाकर पचास बरस के बुजुर्ग भी थे, परिचय कराते हुए कहा — आप प्रेमचन्द जी हैं ।

यह जानकर सब लोग बहुत प्रसन्न हुए ।

प्रेमचन्द जी बोले — भाई, अब तो खैर है न । या कि अभी ज़हमत बाक़ी है ?

'लेकिन इन दिनों खैरियत का भरोसा क्या कीजिए । और होली के दिन का तो और भी ठिकाना नहीं है ।'

इस पर प्रेमचन्द जी ने फिर क़हक़हा लगाया । बोले — तो कौन कपड़े बदले । हम तो यहीं बैठते हैं खाट पर कि आए जो चाहे ।

.... सच, यक़ीन करना मुश्किल होता है कि वह दिन अभी एक बरस पहले था और प्रेमचन्द जी अब नहीं हैं । फिर भी प्रेमचन्द जी तो नहीं ही हैं । इतने दूर हो गए हैं कि जैसे जीते जी उन्हें नहीं पाया जा सकता । इस सत्य को जैसे भी चाहे हम समझें, चाहे तो उसके प्रति विद्रोही ही बने रहें, पर किसी भी उपाय से उसे अन्यथा नहीं कर सकते ।

(२)

छुटपन से प्रेमचन्द जी का नाम सुनता देखता आया हूँ । वह नाम कुछ-कुछ इस तरह मन में बस गया था जैसे पुराण-पुरुषों के नाम । मानो वह मनोलोक के ही

वासी हैं। सदेह भी वह हैं और इस कर्म-कलाप-संकुलित जगत में हम तुम की भाँति कर्म करते हुए जी रहे हैं — ऐसी सम्भावना मन में नहीं होती थी। बचपन का मन था, कल्पनाओं में से रस लेता था। उन्हीं पर पल-झूलकर वह पक रहा। सन् '२६ में शायद, या सन् '२७ में, 'रंगभूमि' हाथों पड़ी। तभी चिपट कर उसे पढ़ गया। तब कदाचित् एक ही भाग मिला था, वह भी दूसरा। पर उससे क्या। प्रेमचन्द जी और भी वाघ्यता से मनोलोक के वासी हो गए।

पर दिन निकलते गए और इधर मेरा मन भी पकता गया। इधर-उधर की सूचनाओं से बोध हुआ कि प्रेमचन्द जी लेखक ही नहीं हैं और आकाश-लोक में ही नहीं रहते, वह हम-तुम जैसे आदमी भी हैं। यह जानकर प्रसन्नता बढ़ी, यह तो नहीं कह सकता। पर यह नया ज्ञान विचित्र मालूम हुआ और मेरा कुतूहल बढ़ गया।

सन्, '२९ आते-आते मैं अकस्मात् कुछ लिख बैठा। यों कहिए कि अघटनीय ही घटित हुआ। जिस बात से सबसे अधिक डरता रहा था — यानी, लिखना — वही सामने आ रहा। इस अपने दुस्साहस पर मैं पहले-पहल तो बहुत ही संकुचित हुआ। मैं, और लिखूं — यह बहुत ही अनहोनी बात मेरे लिए थी। पर विधि पर किसका बस। जब मुझ पर यह आविष्कार प्रगट हुआ कि मैं लिखता हूँ तब यह ज्ञान भी मुझे था कि वही प्रेमचन्द जो पूरी 'रंगभूमि' को अपने भीतर से प्रगट कर सकते हैं, वही प्रेमचन्द जी लखनऊ से निकलने वाली 'माधुरी' के सम्पादक हैं। सो कुछ दिनों बाद एक रचना बड़ी हिम्मत बाँधकर डाक से मैंने उन्हें भेज दी। लिख दिया कि यह सम्पादक के लिए नहीं है, ग्रन्थकर्ता प्रेमचन्द के लिए है। छापे में आने योग्य तो मैं हो सकता ही नहीं हूँ, पर लेखक प्रेमचन्द उन पंक्तियों को एक निगाह देख सकें और मुझे कुछ बता सकें तो मैं अपने को धन्य मानूंगा। कुछ दिनों के बाद वह रचना ठीक-ठीक तौर पर लौट आई। साथ एक कार्ड भी मिला जिसपर छपा हुआ था कि यह रचना धन्यवाद के साथ वापिस की जाती है। यह मेरे दुस्साहस के योग्य ही था, फिर भी मन कुछ बैठने-सा लगा। मैं उस अपनी कहानी को तभी एक बार फिर पढ़ गया। आखिरी स्लिप समाप्त करके उसे लौटता हूँ कि पीठ पर फीकी लाल स्याही में अँग्रेज़ी में लिखा है—'Please ask if this is a translation.' जाने किस अतर्क्य पद्धति से यह प्रतीति उस समय मेरे मन में असंदिग्ध रूप में भर गई कि हो न हो, ये प्रेमचन्द जी के शब्द हैं, उन्हीं के हस्ताक्षर हैं। उस समय मैं एक ही साथ मानो कृतज्ञता में नहा उठा, मेरा मन तो एक प्रकार से मुर्झा ही चला था, लेकिन इस छोटे-से वाक्य ने मुझे संजीवन दिया। तब से मैं खूब समझ गया हूँ कि सच्ची सहानुभूति का एक कण भी कितना प्राणदायक होता है और हृदय को निर्मल रखना अपने आपमें कितना बड़ा उपकार है।

पर मैंने न प्रेमचन्द जी को कुछ लिखा, न माधुरी को लिखा। फिर तब से

अलक्ष्य भाव से प्रेमचन्द जी के प्रति मैं एक ऐसे अनिवार्य बन्धन से बँध गया कि उससे छुटकारा न था।

कुछ दिनों बाद एक और* कहानी मैंने उन्हें भेजी। पहली कहानी का कोई उल्लेख नहीं किया। यह फिर लिख दिया कि लेखक प्रेमचन्द की उस पर सम्मति पाऊँ, यही अभीष्ट है, छपने लायक़ तो वह होगी ही नहीं। उत्तर में मुझे एक कार्ड मिला। उसमें दो-तीन पंक्तियों से अधिक न थीं। स्वयं प्रेमचन्द जी ने लिखा था — 'प्रिय महोदय, दो (या तीन) महीने में माधुरी का विशेषांक निकलनेवाला है। आपकी कहानी उसके लिए चुन ली गई है।'

इस पत्र पर मैं विस्मित होकर रह गया। पत्र में प्रोत्साहन का, बधाई का, प्रशंसा का एक शब्द भी नहीं था। लेकिन जो कुछ था वह ऐसे प्रोत्साहनों से भारी था। प्रेमचन्द जी की अन्तः प्रकृति की झलक पहली ही बार मुझे उस पत्र में मिल गई। वह जितने सद्भावनाशील थे उतने ही उन सद्भावनाओं के प्रदर्शन में संकोची थे। नेकी हो तो कर देना पर कहना नहीं — यह उनकी आदत हो गई थी। मैंने उस पत्र को कई बार पढ़ा था और मैं दंग रह गया था कि यह व्यक्ति कौन हो सकता है जो एक अनजान लड़के के प्रति इतनी बड़ी दया का, उपकार का काम कर सकता है, फिर भी उसका तनिक भी श्रेय लेना नहीं चाहता। अगर उस पत्र के साथ कृपा-भाव (Patronisation) से भरे वाक्य भी होते तो क्या बेजा था। लेकिन प्रेमचन्द वह व्यक्ति था जो उनसे ऊँचा था। उसने कभी जाना ही नहीं कि उसने कभी उपकार किया है या कर सकता है। नेकी उससे होती थी, उसे नेकी करने की ज़रूरत न थी। इसलिए वह ऐसा व्यक्ति था जिससे बदी नहीं हो सकती।

लेकिन मैं तो तब बच्चा था न। अपने को छपा देखने को उतावला था। लिखा — अगर वह कहानी छपने योग्य है तो अगले अंक में ही छपा दीजिए। विशेषांक के लिए और भेज दूँगा।

उत्तर आया — 'प्रिय महोदय, लिखा जा चुका है कि वह कहानी विशेषांक के लिए चुन ली गई है, उसी में छपेगी।'

इस उत्तर पर मैं उसके लेखक की ममताहीन सद्भावना पर चकित होकर रह गया। अब भी मैं उसको याद कर विस्मय से भर जाता हूँ। मुझे मालूम होता है कि प्रेमचन्द जी की सबसे घनिष्ट विशेषता यही है। यही साहित्य में खिली और फली है। उनके साहित्य की रग-रग में सद्भावना व्याप्त है। लेकिन भावुकता में वह सद्भावना किसी भी स्थल पर कच्ची या उथली नहीं हो गई। वह अपने में समाई हुई है, छलक-छलक नहीं पड़ती। प्रेमचन्द का साहित्य इसीलिए पर्याप्त कोमल न दीखे, पर ठोस है और खरा है। उसके भीतर भावना की अडिग सचाई है। व्यक्ति

* 'अन्धों का भेद।'

के व्यक्तित्व की एक सहज दुर्बलता है, दया। दयावान दूसरे को दयनीय मानता है तभी दया कर सकता है। उसमें दम्भ भी आता है। प्रेमचन्द इस बात को समझते थे और वह शायद ही कभी वहाँ तक नीचे गिरे। सचाई तक ही उठने की कोशिश करते रहे।

उसके बाद अचानक उनका एक पत्र आया। लिखा था—'त्याग भूमि' में तुम्हारी कहानी* पढ़ी। पसन्द आई। बधाई।

इस पत्र से तो जैसे एकाएक मुझपर वज्र गिरा। मन की सद्भावना कैसे किसी को भीतर तक भिगो कर कोमल कर सकती है, उसे अपने अपदार्थ होने का भान करा सकती है, यह तब से मैं समझने लगा हूँ। उस पत्र से मेरा दिल तो बढ़ा ही लेकिन सच पूछो तो कहीं भीतर कठोर बन कर जमा हुआ मेरा अहंकार उस पत्र की चोट से बिल्कुल बिखर गया और मैं मानो एक प्रकार के सुख से रो-रो आया।

अहंकार आत्म के बचाव का ज़रिया (A measure of self-defence) है। वह अपनी हीनता के दबाव से बचने के प्रयत्न का स्वरूप है। उसमें व्यक्ति अपने में ही उभरा हुआ दीखना चाहता है। प्रयास यह अयथार्थ है। जब हम अपनी हीनता दूसरे के निकट स्वीकार लेते हैं, उसे निवेदन कर देते हैं, तब अहंकार व्यर्थ होकर ही बिखर जाता है। तब एक निर्मल गर्व का भाव होता है जिसका हीनता-बोध से सम्बन्ध नहीं होता। वह अहंकार से बिल्कुल ही और वस्तु है।

प्रेमचन्द जी के उस पत्र के नीचे मैंने अपने को कृतार्थ भाव से हीन स्वीकार किया, और मैंने उसको प्रेमचन्द जी का आशीर्वाद ही माना उस समय किसी भी प्रकार मैं उसको अपनी योग्यता का सर्टिफ़िकेट नहीं मान सका। फिर भी आशीर्वाद का पात्र बन सका, यही गर्व क्या मेरे लिए कम था। मैंने पाया है, गुरुजनों का आशीर्वाद मन के काठिन्य को, कल्मष को धोता है। पर उसे आशीष के रूप में ही ग्रहण करना चाहिए। अन्यथा वही शाप भी हो सकता है।

उसके बाद से पत्र-व्यवहार आरम्भ हो गया। फिर जो कहानी※ भेजी उसको प्रकाशन के लिए अस्वीकार करते हुए उन्होंने खुलकर लिखा — कहानी में 'यह' होना चाहिए, कहानी 'ऐसी' होनी चाहिए। मेरी धृष्टता देखो, कि मैंने शंका की कि, कहानी में क्यों 'यह' होना चाहिए, और क्यों कहानी 'ऐसी' ही होनी चाहिए। छोटे मुंह बड़ी बात करते मुझे शर्म आनी चाहिए थी; पर प्रेमचन्द जी ने ज़रा भी वह शर्म मेरे पास न आने दी। इतना ही नहीं, बल्कि मुझे तो यह मालूम होता है कि उस प्रकार की निर्लज्ज शंका के कारण तो मानो और भी उन्होंने मुझे अपने पास ले लिया। शंकाओं के उत्तर में एक प्रकार से उन्होंने यह भी मुझे सुझाया और याद रखने को कहा कि 'मुझे निर्भ्रान्त न मानना। कहानी हृदय की वस्तु है, नियम की वस्तु नहीं है। नियम हैं और वे उपयोगी होने के लिए हैं। हृदय के दान में जब वे अनुपयोगी हो

* 'परीक्षा।' ※ 'आतिथ्य।'

जायँ तब बेशक उन्हें उल्लंघनीय मानना चाहिए। लेकिन —।' उनका ज़ोर इस अंतिम 'लेकिन' पर अवश्य रहता था। नियम बदलेंगे, वे टूटेंगे भी, पर इस 'लेकिन' से सावधान रहना होगा। प्रेमचन्दजी इस 'लेकिन' की और उससे आगे की ज़िम्मेदारी स्वयं न लेकर मानो निर्णायक के ऊपर ही छोड़ देते थे। मानो कहते हों — 'उधर बहुत खतरा है, बहुत खटका है। मेरी सलाह तो यही है, यही होगी कि उधर न बढ़ा जाय। फिर भी यदि कोई बढ़ना चाहता है तो वह जाने, उसका अन्तःकरण जाने। कौन जाने कि मुझे खुशी ही हो कि कोई है तो, जो खतरा देखकर भी (या ही) उधर बढ़ना चाहता है।' कई बार उन्होंने कहा है — 'जैनेन्द्र, हम समाज के साथ हैं, समाज में हैं।' यह इस भाव से कहा कि मानो कहना चाहते हों कि — 'जो हीन-दृष्टि इतना तक नहीं देखता उसे तर्क में पड़ने की अपनी ओर से मैं पूरी छुट्टी देता हूँ!'

(३)

इस भाँति दूर-दूर रहकर भी चिट्ठी-पत्री द्वारा परस्पर का अपरिचय बिल्कुल जाता रहा था। कुंभ के मेले पर इलाहाबाद जाना हुआ। वहाँ प्रेमचंद जी का जवाब भी मिल गया। लिखा था — 'अमीनुद्दौला पार्क के पास लाल मकान है। लौटते वक्त आओ ही। ज़रूर आओ।'

सन् '३० की जनवरी थी। खासे जाड़े थे। बनारस से गाड़ी लखनऊ रात के कोई ४ बजे ही जा पहुँची थी। अँधेरा था और शीत भी कम न थी। ऐसे वक्त अमीनुद्दौला पार्क के पासवाला, लाल मकान मिल तो जायगा ही, पर मुमकिन है असुविधा भी कुछ हो! लेकिन दरअसल जो परेशानी उठानी पड़ी उसके लिए मैं बिल्कुल तैयार न था।

क्या मैं जानता न था कि मैं प्रेमचन्द जी के यहाँ जा रहा हूँ? जी हाँ, वही जो साहित्य के सम्राट् हैं; घर-घर जिसके नाम की चर्चा है, उनके-से मशहूर आदमी हैं कितने! मैं जानता था और बड़ी खुशी से हर किसी को जतलाने को उत्सुक था कि मैं उनके, उन्हीं के यहाँ जा रहा हूँ।

लेकिन मैं अपने को कितना भी ज्ञानी जानता होऊँ, और अखबार में छपने लायक़ दो-एक कहानियाँ भी लिख चुका होऊँ पर यह जानना मुझे बाक़ी था कि मैं कितना भूला, भोला — कितना मूर्ख हूँ। महत्ता के साथ मेरे दिमाग़ में जैसे अगले क़दम पर ही महल आ जाता था। जो महल में प्रतिष्ठित नहीं है, क्या ऐसी भी कोई महत्ता हो सकती है? पर मुझे जानना शेष था कि महल और चीज़ है, महत्ता और चीज़ है। उन दोनों में कोई बहुत सगा सम्बन्ध नहीं है। महत्ता मन से बनती है, महल पत्थर का बनता है। अतः इन दोनों तत्वों में मित्रता अनिवार्य नहीं। किन्तु इस सद्ज्ञान से मैं तब तक सर्वथा शून्य था।

पाँच बजे के लगभग अमीनुद्दौला पार्क की सड़क के बीचोबीच आ खड़ा हो

गया हूँ, समान सामने निर्जन एक दुकान के तख्तों पर रखा है। इक्का दुक्का शरीफ़ आदमी टहलने के लिए आ जा रहे हैं। मैं लगभग प्रत्येक से पूछता हूँ — जी, माफ़ कीजिएगा। प्रेमचन्द जी का मकान आप बतला सकते हैं? नज़दीक ही कहीं है। जी हाँ, प्रेमचन्द।

सज्जन विनम्र, कुछ सोच में पड़ गए। माथा खुजलाया, बोले — प्रेमचन्द! कौन प्रेमचन्द?

'जी वही आला मुसन्निफ़। नावलिस्ट। वह एडिटर भी तो हैं, साहब। मशहूर आदमी हैं।'

'ऐं-ऐं पि .... रे .... म .... च .... न्द!' और सज्जन विनीत असमंजस में पड़कर मुझसे क्षमा माँग उठे। क्षमा माँग, बिदा ले, छड़ी उठा, मुझे छोड़ वह अपनी सैर पर बढ़ गए।

उस सड़क पर ही मुझे छः बज आए। साढ़े छः भी बजने लगे। तब तक दर्जनों सज्जनों को मैंने क्षमा किया। लगभग सभी को मैंने अपने अनुसंधान का लक्ष्य बनाया था। लेकिन मेरे मामले में सभी ने अपने को निपट असमर्थ प्रगट किया। मैं उनकी असमर्थता पर खीझ तक भी तो न सका क्योंकि वे सचमुच ही असमर्थ थे।

आस पास मकान कम न थे और लाल भी कम न थे। और जहाँ मैं खड़ा था, वहाँ से प्रेमचन्द जी का मकान मुश्किल से बीस गज़ निकला; लेकिन उस रोज संभ्रांत श्रेणी से प्रेमचन्द जी तक के उस बीस गज़ के दुर्लन्घ्य अन्तर को लाँघने में काफ़ी देर लगी। और क्या इसे एक संयोग ही कहूँ कि अन्त में जिस व्यक्ति के नेतृत्व का सहारा थामकर मैं उन बीस गज़ों को पार कर प्रेमचन्द जी के घर पर आ लगा वह कुलशील की दृष्टि से समाज का उच्छिष्ट ही था?

मैंने अचानक ही उससे पूछा था — भाई, प्रेमचन्दजी का घर बता सकते हो?

उसने कहा — मुंशी प्रेमचन्द?

किन्तु मैं किसी प्रकार के मुंशीपन की मार्फ़त तो प्रेमचन्द जी को जानता न था। मैंने कहा — अच्छा, मुंशी ही सही।

'वह तो है' यह कहकर वह आदमी उठा और मेरे साथ बताने चल दिया। मैंने कहा — ठहरो, ज़रा समान ले लूँ। वह व्यक्ति इस पर मेरे साथ साथ आया, बिना कुछ कहे सुने मेरे हाथ से समान उसने ले लिया। और प्रेमचन्द जी के मकान के जीने के आगे उसे रखकर बोला — घर यह है। अब गुहार लो।

मैंने आवाज़ दी। वह आवाज़ इस योग्य न रही होगी कि दूसरी मंजिल पर चढ़कर द्वार-दीवार लाँघती हुई भीतर तक पहुँच जाय। इसलिए उस व्यक्ति ने तत्पर होकर पुकारा — बाबू जी! बाबू जी!

थोड़ी देर बाद जीने के ऊपर से आवाज़ आई — कौन साहब हैं?

'मैं जैनेन्द्र।'

'आओ भाई'।

(४)

ज़ीने के नीचे से झाँकने पर मुझे जो कुछ ऊपर दीखा उससे मुझे बहुत धक्का लगा। जो सज्जन ऊपर खड़े थे उनकी बड़ी घनी मूँछें थीं; पाँच रुपये वाली लाल-इमली की चादर ओढ़े थे जो काफ़ी पुरानी और चिकनी थी; बालों ने आगे आकर माथे को कुछ ढँक-सा लिया था और माथा छोटा मालूम देता था। सिर ज़रूरत से छोटा प्रतीत हुआ। मामूली धोती पहने थे जो घुटनों से ज़रा नीचे तक आ गई थी। आँखों में खुमारी भरी दीखी। मैंने जान लिया कि प्रेमचन्द यही हैं। इस परिज्ञान से बचने का अवकाश न था। पर उनको ही प्रेमचन्द जानकर मेरे मन को कुछ सुख उस समय नहीं हुआ। क्या जीते जो प्रेमचन्द इनको ही मानना होगा? इतनी दूर से, इतनी आश बाँध कर क्या इन्हीं मूर्ति के दर्शन करने मैं आया हूँ? एक बार तो जी में आया कि अपने मन के असली रमणीक प्रेमचन्द के प्रति आस्था क़ायम रखनी हो तो मैं यहाँ से लौट ही क्यों न जाऊँ? प्रेमचन्द के नाम पर यह सामने खड़ा व्यक्ति साधारण, इतना स्वल्प, इतना देहाती मालूम हुआ कि —

इतने में उस व्यक्ति ने फिर कहा — आओ भाई, आ जाओ।

मैं एक हाथ में बक्स उठा ज़ीने पर जो चढ़ने लगा कि उस व्यक्ति ने झटपट आकर उस बक्स को अपने हाथ में ले लेना चाहा। बक्स तो ख़ैर मैंने छिनने न दिया; लेकिन तब वह और दो-एक छोटी-मोटी चीज़ों को अपने हाथ में थामकर ज़ीने से मुझे ऊपर ले गए।

घर सुव्यवस्थित नहीं था। आँगन में पानी निरुद्देश्य फैला था। चीज़ें भी ठीक अपने-अपने स्थान पर नहीं थीं। पर पहली निगाह ही यह जो कुछ दीखा, दीख सका। आगे तो मेरी निगाह इन बातों को देखने के लिए ख़ाली ही नहीं रही। थोड़ी ही देर में मुझे भूल चला कि यह तनिक भी पराई जगह है। मेरे भीतर की आलोचनाशक्ति न कुछ देर में मुरझा सोई।

सब काम छोड़कर प्रेमचन्द जी मुझे लेकर बैठ गए। सात बज गए, साढ़े-सात बज गये, आठ होने आए, बातों का सिलसिला टूटता ही न था। इस बीच मैं बहुत कुछ भूल गया। यह भूल गया कि यह प्रेमचन्द हैं, हिन्दी के साहित्य सम्राट हैं। यह भी भूल गया कि मैं उसी साहित्य के तट पर भौंचक खड़ा अनजान बालक हूँ। यह भी भूल गया कि क्षण भर पहले इस व्यक्ति की मुद्रा पर मेरे मन में अप्रीति, अनास्था उत्पन्न हुई थी। देखते-देखते बातों-बातों में मैं एक अत्यन्त घनिष्ट प्रकार की आत्मीयता में घिर कर ऊपरी सब बातों को भूल गया।

उस व्यक्ति की बाहरी अनाकर्षकता उस क्षण से जाने किस प्रकार मुझे अपने आपमें सार्थक वस्तु जान पड़ने लगी। उनके व्यक्तित्व का बहुत कुछ आकर्षण उसी

अ-कोमल आनबान में था। अपने ही जीवन-इतिहास की वह प्रतिमा थे। उनके चेहरे पर बहुत कुछ लिखा था जो पढ़ने योग्य था। मैं सोचा करता हूँ कि बादाम की मीठी गिरी के लिए, उस गिरी की मिठास के लिए, उस मिठास की रक्षा के लिए क्या यह नितान्त उचित और अनिवार्य नहीं है कि उसके ऊपर का छिलका खूब कड़ा हो। मैं मानता हूँ कि उस छिलके को कड़ा होने का अवकाश, वैसी सुविधा न हो ; बादाम को कभी बादाम बनने का सौभाग्य भी नसीब न हो।

इस जगह आकर प्रेमचन्द की मेरी अपनी काल्पनिक मूर्तियाँ जो अतिशय छटा-मयी और प्रियदर्शन थीं एकदम ढह कर चूर-चूर हो गईं और मुझे तनिक भी दुःख नहीं होने पाया। माया सत्य के प्रकाश पर टूट बिखरे तो दुःख कैसा। आते ही एक डेढ़ घंटे के क़रीब बातचीत हुई और फलतः प्रेमचन्द के प्रति मेरी आस्था इतनी पुष्ट हो गई कि उसके बाद किसी भी वेष-भूषा में, रंग-रूप में वह उपस्थित क्यों न होते, अकुंठित भाव से उनके चरण छुए बिना मैं न रहता।

मैं यह देखकर विस्मित हुआ कि आधुनिक साहित्य की प्रवृति से वह कितने घनिष्ट रूप में अवगत हैं। योरोपीय साहित्य में जानने योग्य उन्होंने जाना है। जान-कर ही नहीं छोड़ दिया, उसे भीतर से पहचाना भी है और फिर रखा और तौला है। वह अपने प्रति सचेत हैं, Consistent हैं, स्वनिष्ठ हैं।

मैंने कहा — बङ्गाली साहित्य हृदय को अधिक छूता है — इससे आप सहमत हैं ? तो इसका कारण क्या है ?

प्रेमचन्द जी ने कहा — सहमत तो हूँ। कारण, उसमें स्त्री-भावना अधिक है। मुझ में वह काफ़ी नहीं है।

सुनकर मैं उनकी ओर देख उठा। पूछा — स्त्रीत्व है, इसीसे वह साहित्य हृदय को अधिक छूता है ?

बोले हाँ तो। वह जगह-जगह Reminiscent (स्मरणशील) हो जाता है। स्मृति में भावना की तरलता अधिक होती है, संकल्प में भावना का काठिन्य अधिक होता है। विधायकता के लिए दोनों चाहिए —

कहते-कहते उनकी आँखें मुझसे पार कहीं देखने लगी थीं। उस समय उन आँखों की सुर्ख़ी एक दम ग़ायब होकर उनमें एक प्रकार की पारदर्शी भर गई थी। मानो अब उनकी आँखों के सामने जो हो, स्वप्न हो। उनकी वाणी में एक प्रकार की भीगी कातरता बजने लगी। वह स्वर मानो उच्छ्वास में निवेदन करता हो कि 'मैं कह तो रहा हूँ पर जानता मैं भी कुछ नहीं हूँ। शब्द तो शब्द हैं; तुम उनपर मत रुकना। उनके अगोचर में जो भाव ध्वनित होता हो उसी में पहुँच कर जो पाओगे, पाओगे। वहीं पहुँचो, हम तुम पर रुको नहीं। राह में जो है बाधा है। लाँघते जाओ लाँघते जाओ। उल्लंघित होने में ही बाधा की सार्थकता है।'

बोले — जैनेन्द्र, मुझे कुछ ठीक नहीं मालूम। मैं बङ्गाली नहीं हूँ। वे लोग

भावुक हैं। भावुकता में जहाँ पहुँच सकते हैं, वहाँ मेरी पहुँच नहीं। मुझमें उतनी देन कहाँ ? ज्ञान से जहाँ नहीं पहुँचा जाता, वहाँ भी भावना से पहुँचा जाता है। वहाँ भावना से ही पहुँचा जाता। लेकिन जैनेन्द्र, मैं सोचता हूँ काठिन्य भी चाहिए है —

कह कर प्रेमचन्द जैसे कन्या की भाँति लज्जित हो उठे। उनकी मूँछें इतनी घनी थीं कि बेहद। उनमें सफ़ेद बाल तब भी रहे होंगे। फिर भी मैं कहता हूँ, वह कन्या की भाँति लज्जा में घिर गए। बोले — जैनेन्द्र, रवीन्द्र, शरत् दोनों महान् हैं। पर हिन्दी के लिए क्या वही रास्ता है; शायद नहीं। हिन्दी राष्ट्रभाषा है। मेरे लिए तो वह राह नहीं ही है।

उनकी वाणी में उस समय स्वीकारोक्ति (Confession) ही बजती मुझे सुन पड़ी। गर्वोक्ति की तो वहाँ सम्भावना ही न थी।

बातों का सिलसिला अभी और भी चलता लेकिन भीतर से ख़बर आई कि अभी डॉक्टर के यहाँ से दवा तक लाकर नहीं रखी गई है, ऐसा हो क्या रहा है ! दिन कितना चढ़ गया, क्या इसकी भी खबर नहीं है ?

प्रेमचन्द अप्रत्याशित भाव से उठ खड़े हुए। बोले — ज़रा दवा ले आऊँ, जैनेन्द्र। देखो, बातों में कुछ ख़्याल ही न रहा।

कहकर इतने ज़ोर से क़हक़हा लगाकर हँसे कि छत के कोनों में लगे मकड़ी के जाले हिल उठे। मैं तो भौंचक रहा ही। मैंने इतनी खुली हँसी जीवन में शायद ही कभी सुनी थी।

बोले — और तुम भी तो अभी शौच नहीं गये होगे। वाह, यह खूब रही ! और हँसी का वह क़हक़हा और भी द्विगुणित वेग से घर भर में गूँज गया। अनंतर, मेरे देखते-देखते लपककर स्लीपर पहने, आले में से शीशी उठाई और उन्हीं कपड़ों दवाई लेने बाहर निकल गये।

मेरे मन पर प्रेमचन्द के साक्षात्कार की पहली छाप यह पड़ी कि यह व्यक्ति जो भी है, उससे तनिक भी अन्यथा दीखने का इच्छुक नहीं है। इसे अपने महत्व या दूसरी के सम्मान में आसक्ति नहीं है। इस व्यक्ति को अपने सम्बन्ध में इतना ही पता है कि कोटि-कोटि आदमियों के बीच में वह भी एक आदमी है। उससे अधिक कुछ होने का, या पाने का वह दावेदार न बनेगा। मानवोचित सम्मान का हक़दार वह है, और बस; उससे न कम न ज़्यादा।

उन दिनों अपने सरस्वती प्रेस, काशी से 'हंस' निकालने का निश्चय हो रहा था। मैंने पूछा कि प्रेस छोड़कर, अपने गाँव का घर छोड़कर, यहाँ लखनऊ में नौकरी करें, ऐसी क्या आपके साथ कोई लाचारी है ?

उनसे यह मेरी पहली मुलाक़ात थी। हममें कोई समानता न थी। मेरा यह प्रश्न धृष्टतापूर्ण समझा जा सकता था। लेकिन मैंने कहा न कि पहले ही अवसर पर उनके प्रति मैं अपनी सब दूरी खो बैठा था। मैं लाख छोटा होऊँ, पर प्रेमचन्द

जी इतने बड़े थे कि अपनी उपस्थिति में वह मुझे तनिक भी अपने तईं हीन अनुभव नहीं होने देते थे। प्रश्न के उत्तर में निस्संकोच और अकुंठित भाव से अपनी आर्थिक अवस्था अथवा दुरवस्था सब कह सुनाई। तब मुझे पता चला कि यह प्रेमचन्द जो लिखते हैं केवल लिखते ही नहीं हैं, उसको मानते भी हैं, उस पर जीते भी हैं। असहयोग में उन्होंने नौकरी छोड़ दी थी। कुछ दिनों तो वह 'असहयोग' ही एक काम रहा। फिर क्या करें? कुछ दिनों कानपुर विद्यालय में अध्यापकी की। फिर काशी विद्यापीठ में आये। आंदोलन तब मध्यम पड़ गया था। सोचने लगे, कहीं ऐसा तो नहीं है कि मैं और मेरा वेतन विद्यापीठ पर बोझा हो रहा हो। इस तरह के सोच विचार में उसे छोड़ दिया। अब क्या करें?

क्यों, मैंने कहा — आपके हाथ में तो क़लम थी। फिर प्रश्न कैसा कि क्या करें?

नहीं जैनेन्द्र, वह बोले — तुम्हारा ख्याल ठीक नहीं है। यह मुल्क विलायत नहीं है। विलायत हो जाय, यह भी शायद मैं नहीं चाहूँगा।

फिर बताया कि लिखने पर निर्भर रहकर काम नहीं चलता। मन भी नहीं भरता, खर्च भी पूरा नहीं होता। तबीयत बेचैनी हो जाती है। फिर किन-किन हालतों में से गुज़रना पड़ा, यह भी सुनाया। आखिर यहाँ-वहाँ से कुछ पूंजी बटोरकर प्रेस खोला। पर बाज़ारवालों से निपटना न आता था। प्रेस एक गले का कौर बन गया जो न निगला जाय, न उगलते ही बने। अपना लेना पटे नहीं, देनदारों को देना सो पड़े ही। ऐसी हालत में प्रेमचन्द जी जैसे व्यक्ति की गति अकथनीय हो गई। और कुछ न सूझा, तो प्रेस में ताला डाल घर बैठे रहे। प्रेस न चले तो न, पर जान को कब तक घुलाया जाय? पर ऐसी हालत में पैसे का अभाव ही चारों ओर दीखने लगा। और उस अभाव से घिर कर तबीयत घुटने लगी।

अब बताओ जैनेन्द्र, वह बोले — क्या अब भी नौकरी न करता? अब यह है कि रोटी तो चल जाती है। प्रेस प्रवासीलाल चलाते हैं। और बोले कि प्रेस से एक मासिक पत्र निकालना तय किया है, 'हंस'। क्या राय है?

मैंने पूछा—क्यों तय किया है?

प्रेस का पेट भरना है कि नहीं। छपाई का काम काफ़ी नहीं आता और फिर हमारा यह साहित्य का शग़ल भी चलता रहेगा।

मैंने कहा—अच्छा तो है।

बोले—'हंस' को कहानियों का अखबार बनाने का इरादा है। उम्मीद तो है कि चल जाना चाहिए! ईश्वरीप्रसाद जी को जानते तो हो न? नहीं? ख़ैर, शाम को 'हंस' का कवर-डिज़ाइन लाएंगे। ज़िंदादिल आदमी हैं, मिलकर खुश होंगे। कहानियों का एक अखबार हिन्दी में हो, इसका वक़्त आ गया है। क्यों?

'हंस' के सम्बन्ध में उनको मिथ्या आशाएँ न थीं पर वह उत्साहशील थे। 'हंस' के समारंभ को लेकर वह उस समय नवयुवक की भाँति अपने को अनुभव करते थे।

पहली मुलाक़ात में मैं वहाँ ज़्यादा देर नहीं ठहरा। सवेरे गया, शाम को चल दिया। लेकिन इसी बीच में प्रेमचन्द जी की अपनी निजता और आत्मीयता पूरी तरह प्रस्फुटित होकर मेरे सामने आ गई।

(५)

खाना खा-पीकर बोले जैनेन्द्र, चलो दफ़्तर चलते हो ?

मैं चलने को उद्यत था ही। जिस ढंग से उन्होंने इक्केवाले को पुकारा, उसको पटाया, इक्के में बैठते-बैठते उसके कुशल-क्षेम की भी कुछ ख़बर ले ली, जिस सहजभाव से उन्होंने उससे एक प्रकार की अपनी समकक्षता ही स्थापित कर ली — वह सब कहने की यह जगह शायद न हो, लेकिन मेरे मन पर वह बहुत ही सुन्दर रूप में अंकित है।

रास्ते में एकाएक बोले — कहो जैनेन्द्र, सामुद्रिक शास्त्र के बारे में तुम्हारी क्या राय है ?

मैंने पूछा — आप विश्वास करते हैं ?

बोले — क्या बताऊँ; लेकिन दफ़्तरी एक दोस्त हैं, अच्छा हाथ देखना जानते हैं। भाई उनकी बताई कई बातें ऐसी सही बैठी हैं कि मैं नहीं कह सकता, यह सारा शास्त्र पाखंड है।

मैंने कहा—तो आप विश्वास करते हैं ! मैं तो कभी नहीं कर पाया।

बोले—इतने लोग इतने काल से ईमानदारी के साथ इस ओर अनुसंधान में लगे रहे हैं, उनके परिणामों की हम अवज्ञा कर सकते हैं ?

मुझे यह सुनकर विस्मय हुआ। मैंने कहा—तो विश्वास करना ही होगा ? आप परमात्मा में जो विश्वास नहीं करते हैं।

प्रेमचन्द जी गम्भीर हो गये। बोले—जैनेन्द्र, मैं कह चुका हूँ, मैं परमात्मा तक नहीं पहुँच सकता। मैं उतना विश्वास नहीं कर सकता। कैसे विश्वास करूँ, जब देखता हूँ, बच्चा बिलख रहा है, रोगी तड़प रहा है। यहाँ भूख है, क्लेश है, ताप है। वह ताप इस दुनिया में कम नहीं है। तब उस दुनिया में मुझे ईश्वर का साम्राज्य नहीं दीखे, तो यह मेरा क़सूर है ? मुश्किल तो यह है कि ईश्वर को मानकर उसे दयालु भी मानना होगा। मुझे वह दयालुता नहीं दीखती। तब उस दयासागर में विश्वास कैसे हो ? जैनेन्द्र, तुम विश्वास करते हो ?

मैंने कहा—उससे बचने का रास्ता मुझे कहीं नज़र नहीं आता।

प्रेमचन्द्र जी मौन हो गये। उनकी आँखों की पुतलियाँ स्थिर हो गई और वहीं दूर गड़ गईं। उस मग्न मौन की गम्भीरता ऐसी थी कि हम सब उसमें दब ही जायँ।

आफ़िस पहुँचकर उन मित्र को मेरा हाथ दिखलाया गया। उन्होंने काफ़ी युक्तिपूर्ण बातें कहीं। मेरे लिए दुष्कर था कि कह डालूं कि जो कुछ बताया गया,

वह ग़लत है। आफ़िस से लौटते वक़्त प्रेमचन्द जी ने पूछा — कहो जैनेन्द्र, अब क्या कहते हो ?

मैंने कहा — सामुद्रिक शास्त्र पर मेरी आस्था की बात पूछते हो ? वह ज्यों-की-त्यों है यानी दृढ़ नहीं हुई।

यह बात सुनकर जैसे प्रेमचन्द जी को दुःख हुआ। दूसरों के अनुभव-ज्ञान की यह उन्हें अवज्ञा ही प्रतीत हुई। प्रेमचन्द जी के मन में यों मूलतत्व — अर्थात्, ईश्वर के सम्बन्ध में चाहे अनास्था ही हो, लेकिन मानव-जाति द्वारा अर्जित वैज्ञानिक हेतुवाद पर और उसके परिणामों पर उनको पूरी आस्था थी। असम्मान उनके मन में नहीं था। वह कुछ भी हों, कट्टर नहीं दूसरों के अनुभवों के प्रति उनमें ग्रहण-शील वृत्ति थी। धर्म के प्रति उपेक्षा और सामुद्रिक शास्त्र में उनका यथा-किंचित् विश्वास — ये दोनों वृत्ति उनमें युगवत् देखकर मेरे मन में कभी-कभी कुतूहल और जिज्ञासा भी हुई है, लेकिन मैंने उनके जीवन में अब तक इन दोनों परस्पर विरोधात्मक तत्वों को निभते देखा है। वह अत्यन्त स-प्रश्न थे, किन्तु तभी अत्यन्त श्रद्धालु भी थे। कई छोटी-छोटी बातों को ज्यों-का-त्यों मानते और पालते थे, कई बड़ी-बड़ी बातों में साहसी सुधारक थे।

उसी शाम रुद्रनारायण जी भी आए थे। टॉल्स्टाय के लगभग सभी ग्रन्थ उन्होंने अनुवाद कर डाले थे। पर छापने को कोई प्रकाशकः न मिलता था। इतनी लगन और मेहनत अकारथ जा रही थी। छोटा-मोटा प्रकाशक तो इस काम को उठाता किस भरोसे पर, पर साधन-संपन्न बड़े प्रकाशक भी किनारा दे रहे थे। इस स्थिति पर प्रेमचन्द भी खिन्न थे। उनका मन वहाँ था जहाँ साहित्य की असली नब्ज़ है। बाज़ार की यथार्थताओं पर उनका मन मलिन हो जाता था।

रात को जब चलने की बात आई तब बोले — तो आज ही तुम चल भी दोगे ? मैं सोचे बैठा था कुछ रोज़ ठहरोगे।

उनके शब्दों में कोई स्पष्ट आग्रह नहीं था। आग्रह उनके स्वभाव में ही नहीं था। किसी के जाने-आने की सुविधा-व्यवस्था के बीच में वह कभी अपनी इच्छाओं को नहीं डालते थे। किसी के काम में अड़चन बनने से वह बचते थे। यहाँ तक कि लोगों से मिलते-जुलते असमंजस होता था कि कहीं मैं उनका हर्ज न कर रहा होऊँ। आज के कर्मव्यस्त युग में यह उनके स्वभाव की विशेषता बहुत ही मूल्यवान थी। चाहे साहित्य-रसिकों को यह थोड़ी बहुत अखरे ही।

(६)

फिर सन् '३० का राष्ट्रीय आंदोलन आ गया जिसमें बहुत लोग जेल पहुँचे। इस बीच 'हंस' निकल गया ही था। प्रेमचन्द जी उसके तो सम्पादक ही थे, इधर-उधर भी लिखते थे; आंदोलन में योग देते थे; और 'ग़बन' उपन्यास तैयार कर रहे थे। यह भाग्य ही हुआ कि वह जेल नहीं गए। उनका जेल के बाहर रहना ज़्यादा कठिन

तपस्या थी। जेल में मैंने जो उनसे पत्र पाए उनसे मैंने जाना कि प्रेमचन्द जी में मैंने क्या निधि पाई है। आरम्भ में ही प्रेमचन्द जी ने सूचना दी — 'मेरी पत्नी जी भी पिकेटिंग के जुर्म में दो महीने की सजा पा गई हैं। कल फ़ैसला हुआ है। इधर पन्द्रह दिन से इसी में परीशान रहा। मैं जाने का इरादा ही कर रहा था पर उन्होंने खुद जाकर मेरा रास्ता बंद कर दिया।'

उनके पत्रों में हिन्दी साहित्य की विहंगम आलोचना रहा करती थी, कुछ अपने मन की और स्थिति की, सुख-दुःख की बातें रहा करती थीं। एक पत्र में लिखा —

'.... 'ग़बन' अभी तैयार नहीं हुआ, अभी सौ पृष्ठ और होंगे। यह एक सामाजिक घटना है। मैं पुराना हो गया हूँ और पुरानी शैली को निभाए जाता हूँ। कथा को बीच से शुरू करना या इस प्रकार शुरू करना कि जिसमें ड्रामा का चमत्कार पैदा हो जाय, मेरे लिए मुश्किल है।'

मंगलाप्रसाद पारितोषिक पर लिखा—'पुरस्कारों का विचार करना मैंने छोड़ दिया। अगर मिल जाय तो ले लूंगा, पर इस तरह जैसे पड़ा हुआ धन मिल जाय। (अमुक) को या (अमुक) पा जाँय, मुझे समान हर्ष होगा।'

आगे लिखा—'मैं तो कोई स्कूल नहीं मानता। आपने ही एक बार प्रसाद स्कूल, प्रेमचन्द-स्कूल की चर्चा की थी। शैली में ज़रूर कुछ अन्तर है मगर वह अन्तर कहाँ है यह मेरी समझ में खुद नहीं आता। .... प्रसाद जी के यहाँ गम्भीरता और कवित्व अधिक है। Realist हममें से कोई भी नहीं है। हममें से कोई भी जीवन को उसके यथार्थ रूप में नहीं दिखाता बल्कि उसके वांछित रूप ही में दिखाता है। मैं नग्न यथार्थवाद का प्रेमी भी नहीं हूँ।'

❀ ❀ ❀

किसी को अपनाने का उनका तरीक़ा ही अलग था। इस पत्र में मुझे अपनाया क्या बनाया ही गया है। पर सम्पादकीय रवादारी देखते ही बनती है। मैं तो इस पर पानी पानी होकर रह गया था। तिस पर यह कि पहली ही मुलाक़ात के बाद यह लिखा गया था। —

'प्रिय जैनेन्द्र जी !

मैं थर-थर काँप रहा हूँ कि आप 'हँस' में पुस्तकों की आलोचना न पावेंगे तो क्या कहेंगे। मैंने आलोचना भेज दी थी। कह दिया था इसे अवश्य छापना। पर मैनेजर ने पहले तो कई लेख इधर-उधर से छाप डाले और पीछे से स्थान की कमी पड़ गई। मेरी एक कहानी जो राष्ट्रीय रंग में थी, रह गई। आपकी कहानी भी रह गई। अब वे सब फ़रवरी के अंक में जा रही हैं, क्षमा कीजिएगा।

'ग़बन' छप गया है। बाईंडिंग होते ही पहुँचेगा। उस पर मैं आपकी दोस्ताना राय चाहूँगा।

भवदीय,

धनपत राय'

उनकी व्यावसायिक स्थिति और मानसिक चिन्ता का अन्दाज इस पत्र से कीजिए —

'प्रिय जैनेन्द्र,

तुम्हारा पत्र कई दिन हुए मिला। मैं आशा कर रहा था देहली (घर) से आ रहा होगा पर आया लाहोर (जेल) से! खैर, लाहोर (जेल) मुलतान (जेल) से कुछ कम दूर है। उससे कई दिन पहले मुलतान मैंने एक पत्र भेजा था। शायद वह लौट कर आ गया हो, तुम्हें मिल गया हो। अच्छा मेरी गाथा सुनो। 'हंस' पर ज़मानत लगी। मैंने समझा था आर्डिनेन्स के साथ ज़मानत भी समाप्त हो जायगी। पर नया आर्डिनेन्स आ गया और उसी के साथ ज़मानत भी बहाल कर दी गई। जून और जुलाई का अंक हमने छापना शुरू कर दिया है, पर मैनेजर साहब जब नया डिक्लेरेशन देने गये तो मैजिस्ट्रेट ने पत्र जारी करने की आज्ञा न दी, ज़मानत माँगी। अब मैंने गवर्मेंट को एक स्टेटमेंट लिखकर भेजा है। अगर ज़मानत उठ गई तो पत्रिका तुरन्त ही निकल जायगी। छप, कट, सिलकर तैयार रखी है। अगर आज्ञा न दी तो समस्या टेढ़ी हो जायगी। मेरे पास न रुपये हैं, न प्रॉमेसरी नोट, न सिक्योरिटी। किसी से क़र्ज़ लेना नहीं चाहता। यह शुरू साल है, चार-पाँच सौ वी० पी० जाते, कुछ रुपये हाथ आते। लेकिन वह नहीं होना है।

'इस बीच मैंने 'जागरण' को ले लिया है। जागरण के बारह अंक निकले लेकिन ग्राहक संख्या दो सौ से आगे न बढ़ी। विज्ञापन तो व्यासजी ने बहुत किया लेकिन किसी वजह से पत्र न चला। उन्हें उस पर लगभग पन्द्रह सौ का घाटा रहा। वह अब बन्द करने जा रहे थे। मुझसे बोले, यदि आप इसे निकालना चाहें तो निकालें। मैंने उसे ले लिया। साप्ताहिक रूप में निकालने का निश्चय कर लिया है। पहला अंक जन्माष्टमी से निकलेगा। तुम्हारा इरादा भी एक साप्ताहिक निकालने का था। यह तुम्हारे लिए ही सामान है। मैं जब तक इसे चलाता हूँ। फिर यह तुम्हारी ही चीज़ है। धन का अभाव है, 'हंस' में कई हज़ार का घाटा उठा चुका हूँ। लेकिन साप्ताहिक के प्रलोभन को न रोक सका। कोशिश कर रहा हूँ कि सर्वसाधारण के अनुकूल पत्र हो। इसमें भी हज़ारों का घाटा ही होगा। पर करूँ क्या। यहाँ तो जीवन ही एक लम्बा घाटा है। यह कुछ चल जायगा तो प्रेस के लिए काम की कमी की शिकायत न रहेगी। अभी तो मुझे ही पिसना पड़ेगा, लेकिन आमदनी होने पर एक सम्पादक रख लूँगा। अपना काम केवल एडिटोरियल लिखना होगा!

'कर्मभूमि' के तीस फ़ार्म छप चुके हैं, अभी क़रीब छः फ़ार्म बाक़ी हैं। अब उसे जल्द समाप्त करता हूँ। सबसे पहले तुम्हारे पास भेजी जायगी और तुम्हारे ही ममता-शून्य फ़ैसले पर मेरी कामयाबी या नाकामी का निर्णय है।

'........इधर पण्डित श्रीरामशर्मा का शिकार, स्वामी सत्यदेव जी की कहानियों

का संग्रह, डॉ० रवीन्द्रनाथ को षोडशी आदि पुस्तकें निकली हैं। बाबू वृन्दावनलाल जी का कुण्डलीचक्र बड़े शौक़ से पढ़ा। लेकिन पढ़कर मन उभरा नहीं। गर्मी नहीं मिली, न चुटकी, न खटक। शायद मुझमें भावशून्यता का दोष हो।'

❀ ❀ ❀

एक उलहने का पत्र देखिए—

'प्रिय जैनेन्द्र,

'आदाब अर्ज़ ! भई बाह ! मानता हूँ। जून गया, जुलाई गया और अगस्त का मैटर भी जानेवाला है। जुलाई बीस तक निकल जायगा। लेकिन हजूर को याद ही नहीं। क्यों याद आये। बड़े आदमी होने में यही तो ऐब है। रुपए तो अभी कहीं मिले नहीं। लेकिन यश तो मिल ही गया है। और यश के धनी धन के धनी से क्या कुछ (कम) मग़रूर और भुलक्कड़ होते हैं।

'अच्छा, दिल्लगी छोड़ो। यह बात क्या है ? तुम क्यों मुझसे तने बैठे हो ? न कहानी भेजते हो, न खत भेजते हो। कहानी न भेजो, खत तो भेजते रहो। मैं तो इधर बहुत परीशान रहा। याद नहीं आता अपनी कथा कह चुका हूँ। बेटी के पुत्र हुआ और उसे प्रसूत ज्वर ने पकड़ लिया। मरते-मरते बची। अभी तक अधमरी-सी है। बच्चा भी किसी तरह बच गया। आज बीस दिन हुए यहाँ आ गई है। उसकी माँ भी दो महीने उसके साथ रही। मैं अकेला रह गया था। बीमार पड़ा, दाँतों ने कष्ट दिया। महीनों उसमें लगे। दस्त आए और अभी तक कुछ-न-कुछ शिकायत बाक़ी है। दाँतों के दर्द से भी गला नहीं छूटा। बुढ़ापा स्वयं रोग है। और अब मुझे उसने स्वीकार करा दिया कि अब मैं उसके पंजे में आ गया हूँ।

'काम की कुछ न पूछो। बेहूदा काम कर रहा हूँ। कहानियाँ केवल दो लिखी हैं, उर्दू और हिंदी में। हाँ, कुछ अनुवाद का काम किया है।

'तुमने क्या कर डाला, अब यह बताओ। (वह प्रबंध) निभा जाता है या नहीं ? कोई नई चीज़ कब आ रही है। बच्चा कैसा है, भगवतीदेवी कैसी हैं, माता जी कैसी हैं ? महात्मा जी कैसे हैं ? सारी दुनिया लिखने को पड़ी है, तुम खामोश हो !

'सरस्वती' में वह नोट तुमने देखा ? आज .... मालूम हुआ कि यह (अमुक) जी की दया है। ठीक है। मैं तो खैर बूढ़ा हो गया हूँ और जो कुछ लिख सकता था लिख चुका और मित्रों ने मुझे आस्मान पर भी चढ़ा दिया। लेकिन तुम्हारे साथ यह क्या व्यवहार ! भगवती प्रसाद वाजपेयी की कहानी बहुत सुन्दर थी। और इन (चतुरसेन) को हो क्या गया है .... कि 'इस्लाम का विष-वृक्ष' लिख डाला। इसकी एक आलोचना तुम लिखो और वह पुस्तक मेरे पास भेजो। इस कम्युनल प्रॉपेगेंडा का ज़ोरों से मुक़ाबला करना होगा। ....'

उनकी कैसी ही अवस्था हो, पर साहित्य में कदर्य और कदर्थ का विरोध करने में उन्हें हिचक न होती थी।

M. 6. 3/R.N. 733.

परिस्थितियों ने उन पर कभी रहम नहीं किया। प्रेमचन्द जी ने भी कभी उनसे रहम नहीं माँगा। वह जूझते ही रहे। सारी उम्र इसी में गुज़री फिर भी नई विपत्तियों का सामना करते उन्हें डर न होता था। वह बचते न थे, कर्तव्य से कतराते न थे। उन्हें पैसे का लोभ न था, हाँ घाटे का डर तो था ही। आमदनी चाहे कौड़ी न हो पर ऊपर से घाटे का भूत तो मुंह फाड़कर खाने न दौड़े। इतना ही चाहिए। पर इतना भी नहीं हुआ। इस घाटे ने उनकी कमर तोड़ दी। 'हंस' चलाया, 'जागरण' चलाया। दोनों में भावना सेवा की भी थी। मैं कह सकता हूँ कि उनमें व्यवसाय की भावना नहीं के बराबर थी। पर दोनों उनका मन और तन तो लेते ही रहे, तिस पर उनसे धन भी माँगते रहे। धन उनके पास देने और देते रहने को कहाँ था। आखिर सिनेमा की ओर से आए निमन्त्रण को उन्हें सुनना पड़ा। २०-४-३४ को उन्होंने पत्र लिखा —

'प्रिय जैनेन्द्र,

'तुम्हारा पत्र ऐन इन्तज़ार की हालत में मिला। तुमसे सलाह करने की खास जरूरत आ पड़ी है। अभी न बताऊँगा, जब आओगे, तभी उस विषय में बातें होंगी। मगर तुम्हें क्यों सस्पेंस की हालत में रखूँ? बम्बई की एक फ़िल्म कंपनी मुझे बुला रही है। वेतन की बात नहीं, कन्ट्राक्ट की बात है। ८,०००) साल। मैं उस अवस्था को पहुँच गया हूँ जब मेरे लिए इसके सिवा कोई उपाय नहीं रह गया है कि या तो वहाँ चला जाऊँ या अपने उपन्यास को बाजार में बेचूँ। मैं इस विषय में तुम्हारी राय ज़रूरी समझता हूँ। कम्पनी वाले हाज़री की कोई क़ैद नहीं रखते। मैं जो चाहे लिखूँ, उनके लिए चार-पाँच सिनेरियो तैयार कर दूँ। मैं सोचता हूँ कि मैं एक साल के लिए चला जाऊँ। वहाँ साल भर रहने के बाद कुछ ऐसा कन्ट्राक्ट कर लूँगा कि मैं यहीं बैठे-बैठे तीन-चार कहानियाँ लिख दिया करूँ और चार-पाँच हज़ार रुपये मिल जाया करें। उससे जागरण-हंस-दोनों मज़े में चलेंगे और पैसों का संकट कट जायगा। फिर हमारी दोनों की चीज़ें धड़ल्ले से निकलेंगी। लेकिन तुम यहाँ आ जाओगे तब क़तई राय होगी। अभी तो मन दौड़ा रहा हूँ।'

इसके कुछ ही दिन बाद दूसरा पत्र मिला—'भले आदमी, मकान छोड़ा था तो डाकिए से इतना कह दिया होता कि मेरी चिट्ठियाँ फ़लाँ पते पर भेज देना। बस बोरिया बक़चा सँभाला और चल खड़े हुए। मैंने तुम्हारे जवाब में एक बड़ा-सा डिटेल्ड ख़त लिखा था। वह शायद मुर्दा चिट्ठियों के दफ़्तर में पड़ा होगा। .... (मैंने शायद तुम्हें लिखा है, कि) मुझे बम्बई कम्पनी बुला रही है? क्या सलाह है? मुझे तो कोई हरज नहीं मालूम होता अगर वेतन ७,८ सौ मिले। साल दो साल करके चला आऊँगा। मगर अभी मैंने जवाब नहीं दिया है। उनके दो तार आ चुके हैं। प्रसादजी की सलाह है, 'आप बम्बई न जायँ।' तुम्हारी भी अगर यही राय है तो मैं न जाऊँगा। जौहरी जी कहते हैं, जरूर जाइये। और चिरसङ्गिनी दरिद्रता भी कहती है कि जरूर

चलो। जीवन का यह भी एक अनुभव है।'

आखिर वह फ़िल्मी लाइन में गए ही। लेकिन अनुभव ने बताया कि वहाँ के योग्य वह न थे। फ़िल्म और प्रेमचन्द, दोनों में पटना सम्भव न हुआ। वहाँ से उन्होंने लिखा —

'मैं, जिन इरादों से आया था उनमें एक भी पूरा होता नज़र नहीं आता। ये प्रोड्यूसर जिस ढंग की कहानियाँ बनाते आए हैं, उस लीक से जौ भर नहीं हट सकते। Vulgarity को ये Entertainment Value कहते हैं। अद्भुत ही में इनका विश्वास है। राजा-रानी, उनके मन्त्रियों के षड्यन्त्र, नक़ली लड़ाई। बोसेबाज़ी। ये ही उनके मुख्य साधन हैं। मैंने सामाजिक कहानियाँ लिखी हैं जिन्हें शिक्षित समाज भी देखना चाहे। लेकिन उनको फ़िल्म करते इन लोगों को सन्देह होता है कि चलें या न चलें। यह साल तो पूरा करना है ही। क़र्जदार हो गया था, क़र्ज पाट दूँगा, मगर और कोई लाभ नहीं। उपन्यास (गोदान) के अन्तिम पृष्ठ लिखने बाक़ी हैं। उधर मन ही नहीं जाता। (जी चाहता है) यहाँ से छुट्टी पाकर अपने पुराने अड्डे पर जा बैठूँ। वहाँ धन नहीं है, मगर सन्तोष अवश्य है। यहाँ तो जान पड़ता है, जीवन नष्ट कर रहा हूँ।'

उनका एक फ़िल्म निकला था, 'मज़दूर'। उसका ज़िक्र करते हुए पत्र में लिखा —

'मज़दूर तुम्हें पसन्द न आया। यह मैं जानता था। मैं इसे अपना कह भी सकता हूँ, नहीं भी कह सकता हूँ। इसके बाद ही एक रोमाँस जा रहा है। वह भी मेरा नहीं है। मैं उसमें बहुत थोड़ा-सा हूँ। 'मज़दूर' में भी इतना ज़रा-सा आया हूँ कि नहीं के बराबर। फ़िल्म में डाइरेक्टर सब कुछ है। लेखक क़लम का बादशाह ही क्यों न हो, यहाँ डाइरेक्टर की अमलदारी है। और उसके राज्य में उसकी हुकूमत नहीं चल सकती। हुकूमत माने तभी वह वह रह सकता है। वह यह कहने का साहस नहीं रखता, 'मैं जनरुचि को जानता हूँ, आप नहीं जानते।' इसके विरुद्ध डाइरेक्टर ज़ोर से कहता है, मैं जानता हूँ, जनता क्या चाहती है। और हम यहाँ जनता की सलाह करने नहीं आए हैं। हमने व्यवसाय खोला है, धन कमाना हमारी ग़रज़ है। जो चीज़ जनता माँगेगी वह हम देंगे।' इसका जवाब यही है—'अच्छा साहब, हमारा सलाम लीजिए। हम घर जाते हैं।' वही मैं कर रहा हूँ। मई के अन्त में काशी में बन्दा उपन्यास लिख रहा होगा। और कुछ मुझ में नई कला न सीख सकने की भी सिफ़त है। फ़िल्म में मेरे मन को सन्तोष नहीं मिला। सन्तोष डाइरेक्टरों को नहीं मिलता, लेकिन वे और कुछ नहीं कर सकते, झख मारकर पड़े हुए हैं। मैं और कुछ कर सकता हूँ, चाहे वह बेगार ही क्यों न हो। इसलिए चला जा रहा हूँ। मैं जो प्लॉट सोचता हूँ, उसमें आदर्शवाद घुस आता है और कहा जाता है उसमें Entertainment Value नहीं होता। इसे मैं स्वीकार करता हूँ। मुझे आदमी भी ऐसे मिले

जो न हिन्दी जानें न उर्दू । अंग्रेज़ी में अनुवाद करके उन्हें कथा का मर्म समझाना पड़ता है और काम कुछ नहीं बनता । मेरे लिए अपनी वही पुरानी लाइन मज़े की है । जो चाहा लिखा ।

' ....मेरा जीवन यहाँ भी वैसा ही है जैसा काशी में था । न किसी से दोस्ती न किसी से मुलाक़ात । मुल्ला की दौड़ मस्जिद । स्टूडियो गये, घर आये । हिन्दी के दो-चार प्रेमी कभी-कभी आ जाते हैं । बस । .... '

इस भाँति फ़िल्म की लाइन से किनारा लेकर उन्हें लौट आना पड़ा । इसके बाद कुछ बहुत ज़्यादा दिन उन्हें इस दुनिया में रहने के लिए नहीं मिले ।

(७)

मुझे याद है, मुल्तान जेल में उनका एक पत्र मिला था । लिखा था — 'कभी-कभी यहाँ बहुत सूना मालूम होता है, जैनेन्द्र । जी होता है, तुम कुछ लोगों से गले मिल लूं और फिर ज़िन्दगी से रुख़सत हो जाऊँ । तुम इतनी दूर पड़े हो कि मैं तड़फड़ा कर रह जाता हूँ । .... '

उस पत्र को पढ़कर मुझे सुख नहीं हुआ था । मालूम हुआ था जैसे जीवन में रसानुभूति उन्हें स्वल्प रह गई है । धन की, प्रतिष्ठा की, पदमर्यादा की उन्हें लालसा न थी ; फिर भी साहित्यिक दिशा में उनकी आकांक्षाएँ उड़ती ही थीं । साहित्य को लेकर लोक-संग्रहात्मक कार्यों और योजनाओं की ओर रह-रह कर उनकी रुचि जाती थी । पर व्यवहार-दक्षता का उनमें अभाव था और वातावरण इतना जागृत न था कि उनका आवाहन करे, उनका उपयोग ले ले । अतः इच्छाएँ उनमें उठतीं और वे फलवती न हो पातीं । परिणामतः एक व्यर्थता, निष्फलता, पराजय का भाव उनमें घर करता जाता था ।

यह अनुभव करके उनको साहित्य के सार्वजनिक कार्यों की ओर खींच कर लाने की कुछ विधि की गई, पर वह प्रयोग भी विशेष सफल नहीं हुआ । इधर शरीर में रोग घर कर चला था । जीवन के इस ह्रास ने उसमें योग दिया । वह धीमे-धीमे जीवन के उस किनारे जा लगने लगे । न कह सकूंगा कि मन की साध उनमें बुझ गई थी । बुझी न थी, पर उस पर अविश्वास की, जैसे एक पराभव के भाव की राख छा गई थी । ज़िन्दगी के हाथों कम थपेड़े उन्होंने नहीं खाए थे । वे सब उनके चेहरे पर, उनकी देह पर लिखे थे । वे चोटें किस हद तक हो सकीं प्रेमचन्द के मानस में से शुद्ध (Sublimate) होकर साहित्य के रूप में प्रस्फुट हुई थीं । पर तलछट भी अवशेष बचा ही था । उसी ने उनके मन को किसी क़दर खट्टा बना रखा था । अन्त समय में भी वह खटास पूरी तरह उनको नहीं छोड़ सकी ।

किन्तु इस सम्बन्ध की चर्चा इस स्थल पर विशेष न हो सकेगी । यहाँ मैं उनके एक पत्र का उल्लेख करने का लोभ संवरण नहीं कर सकता जो उनके मन के उद्विग्न स्नेह को फ़व्वारे की भाँति ऊपर खिला देता है । वह माता जी के देहान्त पर उन्होंने

मुझे लिखा था। माता जी की मृत्यु पर तो शायद मैं नहीं भी रोया, पर इस पत्र पर आँखें भीग ही आईं —

'प्रिय जैनेन्द्र,

'कल तुम्हारा पत्र मिला। मुझे यह शंका पहले ही थी। इस मर्ज़ में शायद ही कोई बचता है। पहले ऐसी इच्छा उठी कि दिल्ली आऊँ। लेकिन मेरे दामाद तीन दिन से आए हुए हैं और शायद बेटी जा रही है। फिर यह भी सोचा कि तुम्हें समझाने की तो कोई बात है नहीं। यह तो एक दिन होना ही था। हाँ, जब यह सोचता हूँ कि वह तुम्हारे लिए क्या थीं, और तुम उनके काल में आज भी लड़के से बने फिरते थे, तब जी चाहता है तुम्हारे गले मिलकर रोऊँ। उनका वह स्नेह, वह तुम्हारे लिए जो कुछ थीं वह तो थी हीं, मगर उनके लिए तो तुम प्राण थे, आँख थे, सब कुछ थे। बिरले ही भागवानों को ऐसी माताएँ मिलती हैं। मैं देख रहा हूँ, तुम दुःखी हो, तुम्हारा मुँह सूखा हुआ है, संसार सूना-सूना-सा लग रहा है और चाहता हूँ यह दुःख आधा-आधा बाँट लूँ, अगर तुम दो। मगर तुम दोगे नहीं। उस देवी का इतना ही तो तुम्हारे पास है, मुझे देकर कहाँ जाओगे? इसे तो तुम सारे का सारा अपने सबसे निकट के स्थान में सुरक्षित रखोगे।

'काम से छुट्टी पाते ही अगर आ सको तो ज़रूर आ जाओ। मिले बहुत दिन हो गए। मन तो मेरा ही आने को चाहता है, लेकिन मैं आया तो तीसरे दिन रस्सी तुड़ाकर भागूंगा। तुम — मगर अब तो तुम भी मेरे जैसे हो, भाई। अब वह बेफ़िक्री के मज़े कहाँ!

'और सच पूछो तो मेरी ईर्ष्या ने तुम्हें अनाथ कर दिया। क्यों न ईर्ष्या करता। मैं सात वर्ष का था तब माता जो चली गईं। तुम सत्ताईस वर्ष के होकर माता वाले बने रहो, यह मुझसे कब देखा जाता। अब जैसे हम वैसे तुम। बल्कि मैं तुमसे अच्छा। मुझे माता की सूरत भी याद नहीं आती। तुम्हारी माता तुम्हारे सामने हैं और बोलती नहीं, मिलती नहीं!

'और तो सब ठीक है। चतुर्वेदी जी ने कलकत्ते बुलाया था कि नोगुची जापानी कवि का भाषण सुन जाओ। यहाँ नोगुची हिन्दू-युनिवर्सिटी आए, उनका व्याख्यान भी हो गया। मगर मैं न जा सका। अक़्ल की बातें सुनते और पढ़ते उम्र बीत गई। ईश्वर पर विश्वास नहीं आता, कैसे श्रद्धा होती है। तुम आस्तिकता की ओर जा रहे हो। जा नहीं रहे, पक्के भगत बन रहे हो। मैं सन्देह से पक्का नास्तिक होता जा रहा हूँ।

'बेचारी भगवती अकेली हो गई।'

'सुनीता' जाने कहाँ रास्ते में रह गई। यहाँ कहीं बाज़ार में भी नहीं। चित्रपट के पुराने अंक उठा कर पढ़े, पर मुश्किल से तीन अध्याय मिले। तुमने बड़ा ज़बर-दस्त Ideal रख दिया। महात्मा जी के एक साल में स्वराज्य पाने वाले आन्दोलन

की तरह। मगर तलवार पर पाँव रखना।

'तुम्हारा—धनपत राय'

[इस पत्र के अन्तिम पैरे के कारण यह कह देना आवश्यक है कि 'सुनीता' पूरी पढ़ने पर प्रेमचन्द जी उससे सहमत न हो सके थे।]

(८)

प्रेमचन्द जी के स्वभाव में बहिर्मुखता जरूरत से कम थी। उनके जीवन का सार्वजनिक-पक्ष इसलिए अन्त समय तक कुछ अक्षम ही बना रहा। अन्तर्मुखता भी धार्मिक प्रकार की न थी, उसके प्रकार को कुछ बौद्धिक कहना होगा। वह शंका से आरम्भ करते थे और इस भाँति एक समस्या खड़ी करके उसका समाधान पाने आगे बढ़ते थे। फिर भी लोक-जीवन में जिन मूलभूत नैतिक धारणाओं की स्वीकृति उन्होंने देखी, उन धारणाओं पर प्रेमचन्द जी अडिग विश्वास से डटे रहे।

बातचीत में उनके साथ अत्यन्त घनिष्ठ बातों का प्रसंग भी अक्सर आ गया है। पारिवारिक अथवा व्यक्तिगत वृत्तों को ऐसे समय उन्होंने निश्छल विश्वास के साथ खोलकर कह दिया है। उस सबके आधार पर मैं कह सकता हूँ कि उनका जीवन लगभग एक आदर्श सद्गृहस्थ का जीवन था। बुद्धि द्वारा उन्होंने स्वतन्त्र और निर्बाध चिन्तन के जीवन-व्यवसाय को अपनाया सही, पर कर्म में वह अत्यन्त मर्यादा-शील रहे। आर्टिस्ट के संकुचित-पच्छिमी अर्थों में उन्होंने आर्टिस्ट बनने की स्पर्द्धा नहीं की। यही मर्यादाशील प्रामाणिकता उनके साहित्य की धुरी है। उनके साहित्य में जीवन की आलोचना तीव्र है, चहुँमुखी है। किन्तु एक सर्वसम्मत आधारशिला है जिसको उन्होंने मज़बूती से पकड़े रखा और जिस पर एक भी चोट उन्होंने नहीं लगने दी।

जीवन को, विशेष कर लोक-जीवन की समस्याओं को, सर्वथा बौद्धिक और नैतिक-मानसिक रूप देने का परिणाम ही यह हुआ कि वह जीवन के सफल चित्रकार, भाष्यकार, व्याख्याकार हो सके तब उस जीवन को आन्दोलित करके उसमें नवचेतन और निर्माण-प्रेरणा डालने में उतने सफल नहीं हो सके। वह जननायक, लोकसंयोजक नहीं हो सके। बात यह है कि उनके साहित्य में लोकपक्ष की जितनी प्रधानता मालूम होती है, ठीक उतनी ही गौणता उस पक्ष को उनके जीवन में प्राप्त थी। वह अन्त तक अपने आप में एक संस्था नहीं बने, कोई संस्था नहीं बनाई। उनके उपन्यासों में (गोदान को छोड़कर लगभग सब में) संस्थाएँ बनी हैं और उन संस्थाओं द्वारा लोक-जीवन के प्रश्नों का; उनके सुधार का, समाधान दिया गया है। पर प्रेमचन्द जी के जीवन के प्रकाश्य पक्ष में उसका अभाव नज़र आता है।

आगामी साहित्य-समीक्षक और इतिहास-विवेचक को भीतरी कारण के प्रकाश में इस गाँठ को समझना और खोलना होगा।

वह भीड़ से बचते थे। भीड़ को दिशा देने की उनमें क्षमता न थी। बात यह

थी कि भीड़ में पड़ कर वह उस भीड़ को समझते रह जाते थे। वह भीड़ के नहीं थे। सभा-सम्मेलन में वह मुश्किल से ही जाते थे। वे सभा और सम्मेलन उनको पाकर भी विशेष लाभान्वित होते थे, यह नहीं कहा जा सकता। उनकी उपस्थिति अवश्य किसी भी सभा और किसी भी सम्मेलन के लिए गौरव का विषय थी पर ऐसा लगता था कि प्रेमचन्द जी उस सभा में भाग क्या ले रहे हैं, मानो उस सभा का तमाशा देख रहे हैं।

दिल्ली में प्रान्तीय साहित्य-सम्मेलन किया और सभापति बनाया प्रेमचन्द जी को; पर वह आने को ही राज़ी न हों। चिट्ठी दी, तार दिये। आखिर माने ही तो तार में लिखा—Well, I accept with protest.

सार्वजनिक सभाओं के प्रति जब यह रुख था तब उधर उलटा ही हाल था। इससे कुछ ज़्यादा रोज पहले की बात न थी। एक सबेरे गली में दीखता क्या है कि कन्धे पर कम्बल डाले, खरामा खरामा, चले आ रहे हैं प्रेमचन्दजी। महात्मा भगवान दीन जी और पण्डित सुन्दरलाल जी भी तब घर पर थे। सुन्दरलाल जी चबूतरे पर से दातून करते-करते बोले—देखना जैनेन्द्र, यह प्रेमचन्द जी तो नहीं आ रहे हैं।

मैंने कहा—वही तो हैं!

प्रेमचन्द जी के पास आने पर मैंने अचरज से पूछा—यह क्या क़िस्सा है? न तार न चिट्ठी, और आप करिश्मे की भाँति आविर्भूत हो पड़े!

बोले—तार की क्या ज़रूरत थी। बारह आने पैसे कोई फ़ालतू हैं। और देखो, तुम्हारे मकान का पता लग गया कि नहीं!

बात यह थी कि मैंने एक कार्ड में लिखा था कि क्या आप आ सकेंगे? आएँ तो अच्छा रहे। सो प्रेमचन्द जी ने सुनाया कि—भई! तुम्हारी चिट्ठी प्रेस पहुँचने पर कोई दो बजे मिली। टाइमटेबिल देखा, ट्रेन पाँच बजे जाती थी। इससे पहिले और कोई गाड़ी थी नहीं। उसी से चला आ रहा हूँ।

मैंने कहा—यह क्या ग़ज़ब करते हैं। पहले से कुछ खबर तो दी होती! इस तरह से तो आपको बड़ी दिक्क़त हुई होगी। ग़नीमत मानिए कि दिल्ली बम्बई नहीं है। और ऐसे क्या आप दिल्ली से बेहद वाक़िफ़ हैं?

बोले—नहीं जी, सोचा तुम्हारा मकान मिल ही जायगा, सो बारह आने बचाओ क्यों न। और मकान मिल गया कि नहीं। और दिल्ली—ज़िन्दगी में पहली मर्तबा आया हूँ।

ज़िन्दगी में पहली बार! मैंने अविश्वास के भाव से कहा—आप कहते क्या हैं। तिस पर आप हैं सम्राट्!

प्रेमचन्द जी क़हक़हा लगा उठे। यह बात सच थी। नौकरी के सिलसिले में वह अपने इर्द-गिर्द के ज़िलों में ही घूमे थे। दूर जाने का न कुछ काम पड़ा, न कुछ

पड़ने दिया। सैर की धुन उनमें कभी थी नहीं। अपने सामने के ही कर्तव्य को वह महत्व देते रहे थे और उसी के पालन में अपनी सिद्धि मानते थे। यह बात मेरे लिए अभूतपूर्व और अत्यन्त आश्चर्यकारक थी। इक्यावन-बावन वर्ष की अवस्था में प्रेमचन्द जी जैसा सर्वविश्रुत व्यक्ति दिल्ली में आकर यह कहे कि वह पहली बार यहाँ आया है — यह अनहोनी बात नहीं तो और क्या है!

तब चार पाँच रोज़ प्रेमचन्द जी यहाँ रहे। उन दिनों लिखना-लिखाना तो होना क्या था। पंडित सुन्दरलाल जी थे, महात्मा भगवानदीन जी थे। प्रेमचन्द जी को चाहनेवाले और माँगनेवाले उर्दू-हिन्दी के और लोगों की कमी न थी। चर्चाओं में और पार्टियों में वे दिन ऐसे बीते कि पता भी न लगा। उन्हीं दिनों की और यहाँ की ही तो बात है कि वह पंजाबी सज्जन मिले जिन्होंने प्रेमचन्द जी को पाकर पकड़ ही तो लिया। उनकी कहानी दिलचस्प है और शिक्षाप्रद है।

स्थानीय हिन्दी-सभा की ओर से प्रेमचन्द जी के सम्मान में सभा की जा रही थी। उन्हें अभिनन्दनपत्र भेंट होने वाला था। उस वक़्त एक पंजाबी सज्जन बड़े परेशान मालूम होते थे। वह कभी सभा के मन्त्री के पास जाते थे, कभी इनके या उनके पास जाते थे। प्रेमचन्द जी के पास जाने की शायद हिम्मत न होती थी। प्रेमचन्द जी को उसी रात दिल्ली से जाना था। सभा का काम जल्दी हो जाना चाहिए और वह जल्दी किया जा रहा था। प्रेमचन्द जी ने अपना वक्तव्य कहने में शायद दो मिनट लगाए। सभा की कार्यवाही समाप्तप्राय थी। तभी वह पंजाबी सज्जन उठे और सभा के सामने हाथ जोड़कर बोले — मैं प्रेमचन्द जी को आज रात किसी हालत में नहीं जाने दूँगा। उनके साथ इस सारी सभा को मैं कल अपने यहाँ आमंत्रित करना चाहता हूँ।

लोगों को बड़ा विचित्र मालूम हुआ। तैयारी सब हो चुकी थी और प्रेमचन्द जी का इरादा निश्चित था। लेकिन वह सज्जन अपनी प्रार्थना से बाज़ न आए। वह बारबार हाथ जोड़ते थे और अपनी बात सुनाना चाहते थे। किन्तु सभा के लोग इस विघ्न पर कुछ अधीर थे और उन सज्जन के साथ शायद ही किसी को सहानुभूति थी। प्रेमचन्द जी भी इस भावुकता के प्रदर्शन से बहुत प्रभावित नहीं थे।

किन्तु उन सज्जन को कोई चीज़ न रोक सकी। उन्होंने हाथ जोड़ कर कहा कि मेरी अरदास आप लोग सुन लीजे फिर जो चाहे आप कीजियेगा। जब से अखबार में प्रेमचन्द जी के यहाँ आने की खबर पढ़ी तभी से उनके ठहरने की जगह पाने की कोशिश करता रहा हूँ। वह जगह नहीं मिली। अब इस सभा में मैं उनको पा सका हूँ। मैं उनकी तलाश करता हुआ दर्शनों की इच्छा से लखनऊ दो बार गया। एक बार बनारस भी गया। तीनों बार वह न मिल सके। कई बरस पहले की बात है। मैं कमाने के ख्याल से पूरब की तरफ़ गया था। पर भाग्य की बात कि मेरे पास जो था सब खत्म हो गया। मैं घूमता-घामता स्टेशन पर आया। मुझे कुछ सूझता न था।

आगे क्या होगा। सब अंधेरा मालूम होता था। जेब में दो रुपये और कुछ पैसे बचे थे। प्रेमचन्द जी के अफ़सानों को मैं शौक से पढ़ा करता था। यूं ही टहलता हुआ व्हीलर की दुकान पर एक रिसाले के स्पेशल नम्बर के सफ़े लौटने-पलटने लगा। उसमें प्रेमचन्द जी का नेक अफ़साना नज़र आया। मैंने रुपया फेंक रिसाला खरीद लिया और प्रेमचन्द जी की उस 'मन्त्र' कहानी को पढ़ गया। पढ़कर मेरे दिल की पस्ती जाती रही। हौसला खुल गया। मैं लौट कर आया और हार न मानने का इरादा कर लिया। तब से मेरी तरक़्क़ी ही होती गई है और आज यहाँ आपकी खिदमत में हूँ। तभी से मैं उस 'मन्त्र' कहानी के मंत्रदाता प्रेमचन्द की तलाश में हूँ। अब यहाँ पा गया हूँ तो किसी तरह छोड़ नहीं सकता। मेरी बीबी बीमार है, वह उठ बैठ नहीं सकतीं, चल फिर नहीं सकतीं। वह कब से प्रेमचन्द जी के दर्शन की आस बाँधे बैठी हैं। और फिर हाथ जोड़कर उन्होंने कहा — अब फ़ैसला आप सब साहबान के हाथ है।

प्रेमचन्द जी की प्रवृत्ति रुकने की नहीं थी, लेकिन उनको रुकना पड़ा। यह घटना मेरे लिए तो आँख खोल देने वाली ही थी। यह और इस तरह की और-और बातों से प्रेमचन्द जी के दिल्ली-प्रवास के दिन सहज में बीत गये। प्रेमचन्द जी प्रसन्न मालूम होते थे। लेकिन एक बात जानकर मैं साश्चर्य असमंजस में पड़ गया। बातों-बातों में प्रगट हुआ कि इधर के बीस-तीस वर्ष में यह पहले सात दिन गये हैं, जब उन्होंने कुछ काम नहीं किया।

मैंने अत्यन्त विस्मयापन्न भाव से पूछा—आप हर रोज़ बिना नाग़ा काम करते हैं?

बोले — हाँ, सबेरे के कुछ घंटों में तो करता ही हूँ।

तब मैं जान सका कि किस अक्षुण्ण साधना के बल पर वह व्यक्ति दुनिया के राग-रंगों के प्रति अलिप्त और उदासीन रह सकता था; और कि किस भाँति उसकी कीर्ति उसकी कठोर तपस्या के मोल उसको मिली थी। उस समय मुझे संदेह हो आया कि पार्टियों और दावतों का यह समारोह भी कहीं भीतर-भीतर उसकी आत्म-ग्लानि का कारण तो नहीं हो रहा है। जो औरों के लिए सम्मान था वह बड़ी आसानी से इस व्यक्ति के लिए बोझ भी हो सकता था। तब उनकी ऊपरी प्रसन्नता देखकर मेरा मन तनिक भी आश्वस्त नहीं हुआ कि पार्टियों और सम्मान-भोजों के आधिक्य से सचमुच ही प्रेमचन्द के मन को पीड़ा नहीं हो रही है।

यहाँ एक पार्टी में हसन निज़ामी साहब ने प्रेमचन्द जी का अभिनंदन करते हुए कहा था कि — 'शायद ही कोई प्रेमचन्द जी का अफ़साना, या मज़मून होगा जो उर्दू में निकला हो और मैंने न पढ़ा हो। मैं ढूँढ़-ढूँढ़कर उनकी चीज़ पढ़ता हूँ। हालात में उतार चढ़ाव होते रहते हैं। दौर रंग बदलता है। ज़माना था कि लोगों की तबीयतें बदली हुई थीं। सब पर फ़िरक़ेवाराना रंग सवार था। कौन था जो न बहका हो। पर प्रेमचन्द तब साबित-क़दम रहे। उनकी निगाह वैसी ही सही और

साफ़ रही। वह किसी झोंके से नहीं डिगे ....'

हसन निज़ामी साहब की तरफ़ से आकर ये शब्द और भी मानी रखते हैं और इन शब्दों में प्रेमचन्द जी की अलक्ष्य और मूक सेवा का और भी सही अनुमान हुआ और मेरी श्रद्धा बढ़ गई।

लेकिन यह बात सच है कि बड़े शब्दों से कहीं अधिक उन्हें छोटी-सी सचाई छूती थी। जहाँ ज़िन्दगी थी, वहाँ प्रेमचन्द जी की निगाह थी। जहाँ दिखावा था, उसके लिए प्रेमचन्द के मन में उत्सुकता तक न थी। कुतुबमीनार, नई सेक्रेटरियट बिल्डिंग्ज़, कौंसिल-चेम्बर्स, यह अथवा वह महापुरुष — इसको देखने-जानने की लालसा उनकी प्रवृत्ति में न थी। यों हम-तुम हमाँ-शमाँ से वह बेरोक मिलने को उद्यत रहते थे।

पहली बात उनमें त्रुटि तक पहुँच गई थी। जब शांतिनिकेतन जाने की बात आई तो उनका मन उसे पूरी तरह ग्रहण न कर सका। मैंने कहा — चलना चाहिए।

बोले — मैं तो वहाँ स्वर्ग की सैर करूँ, यहाँ घर के लोग तकलीफ़ में दिन काटें, क्या यह मेरे लिए ठीक है? और सबको ले चलूं, इतना पैसा कहाँ है। और जैनेन्द्र, महाकवि रवीन्द्रनाथ तो अपनी रचनाओं द्वारा यहाँ भी हमें प्राप्त हैं। क्या वहाँ मैं उन्हें अधिक पाऊँगा?

मैंने फिर भी कहा — शान्तिनिकेतन को अधिकार हो सकता है कि वह आपको चाहे, आपने कर्म ऐसे किए हैं कि आप मशहूर हों। तब आप कर्मफल से बच नहीं सकते। चलिए न।

बोले—हाँ, जैनेन्द्र, यह सब ठीक है। लेकिन मैं अपने यहीं पड़ा हूँ, तुम जाओ।

मैंने कहा — हाँ, मैं तो जाऊँगा।

बोले — ज़रूर-ज़रूर जाओ। मैं तो खुद कहनेवाला था कि तुम्हें जाना चाहिए। जैनेन्द्र, जवान और बूढ़े में यही तो फ़र्क है!

इधर जीवन के अन्तिम पर्व की ओर उन्हें थोड़ा-बहुत साहित्यिक उद्देश्य के नाते से सभा समाजों में जाने को उकसाया जा सका था। यहाँ दिल्ली साहित्य-सम्मेलन के जलसे में वह आ गए थे। आ तो गए थे लेकिन अपने को पूरी तरह निरुपयोगी भी अनुभव कर रहे थे। बोले — जैनेन्द्र, सम्मेलन के जलसे में मैं आ गया। 'अब बताओ क्या करूँ। मैं उनको क्या कहता। चुप रह जाता था। क्या उनको मैं बताता कि उनका स्थान क्या है और कहाँ है, और लोगों की क्या-क्या आशाएँ उनके साथ बँधी हैं? लेकिन सच यह है, ऐसे मौक़ों पर अपनी उपस्थिति वह अयाचित अनुभव करते थे। जब लोग शब्दों को लेकर या पदों को लेकर आपस में बहस-तहस और छीन झपट करते थे तब उनका कहीं थोड़ी ठण्डी हवा खाने का जी होता था। कहा करते थे कि इनको भी थोड़ी ठण्डी हवा इस समय खा लेना चाहिए।

साहित्य के भविष्य के बारे में बातें हुआ करती थीं। सोचा, कुछ बौद्धिक आदान-

प्रदान का, परस्पर के सहयोग-क्षेत्र का विस्तार होना चाहिए। प्रान्तीय मर्यादाएँ ऐक्य-विकास पर बन्धन न होनी चाहिए। राष्ट्र एक है, उस ऐक्य को गहराई में अनुभूत करना होगा। इस ओर जो प्रयत्न हुए (यथा, भारतीय साहित्य-परिषद्) उसके समारंभ में प्रेमचन्द जी ने उत्साहपूर्वक भाग लिया। पर उसमें भी उन्हें रस कम हो गया। वह अपने सहयोगियों से आशाएँ ऊँची रखते थे। वह मानव प्रकृति का मूल्य यथार्थ से कुछ अधिक ऊँचा आँकते थे। परिणामतः जब-जब वह समाज में आए, तभी-तब विरक्ति की भावना लेकर उन्हें फिर अपने में ही लौट जाना पड़ा।

(६)

साधारणतया कोमलता की धारा उनमें अन्तःसलिला सरस्वती के समान अप्रकाश्य ही में बहती थी। वह रचनाओं में जिस स्पष्टता से दीखती थी, व्यवहार में उतनी ही अगोचर हो जाती थी। फिर भी हठात् वह फूटकर ऐसे प्रगट हो उठी है कि प्रेमचन्द जी को भी चकित रह जाना पड़ा है।

एक बार की बात है। दिन अधिक नहीं हुए। सन् '३४ का साल होगा। बनारस में बेनियापार्क वाले मकान में रहते थे। सबेरे का वक्त था। जाड़े ढल रहे थे। नीचे के कमरे में धूप की किरणें तिरछी पड़ रही थीं। मैं जल्दी निवृत्त हो चुका था और उनकी एक पांडुलिपि देख रहा था। इतने ही में प्रेमचन्द जी ऊपर से आये। पूछा — तुम नहा चुके ?

मैंने कहा — नहा चुका।

मुझे आज देर हो गई। — कहते-कहते वह नीचे फ़र्श पर बैठ गए।

शाम को — रात तक — चर्चा चलती रही थी कि सत्य का स्वरूप कहाँ तक स्थिर मानना होगा और कहाँ तक निरन्तर परिवर्तनीय। उस स्थिरता और परिणमन में परस्पर क्या अपेक्षा है। लोकाचार विकासशील है या नहीं, अथवा उसकी निश्चित मर्यादा-रेखाएँ और निश्चित आधार तत्व हैं। वही चर्चा किसी न किसी रूप में अब भी उठ आई। बात-बात में प्रेमचन्द जी बोले — भई जैनेन्द्र, वह किताब powerful (ज़बर्दस्त) है।

कुछ दिन हुए रूसी उपन्यास 'यामा' उनके यहाँ देखा था। उसी की ओर संकेत था। मैंने तब तक वह पढ़ा न था।

बोले — कहीं-कहीं तो जैनेन्द्र, मुझसे पढ़ा नहीं गया। दिल इतना बेक़ाबू हो गया। एक जगह आँसू रुकना मुश्किल हुआ।....

देखता क्या हूँ कि जैसे वह प्रसंग अब भी उनके भीतर छिड़ गया है और उसी प्रकार आँसू रुकना किसी क़दर मुश्किल हो रहा है।

बोले — उस जगह मुझसे आगे पढ़ा हो न गया, जैनेन्द्र, किताब हाथ से छूट गई। और पुस्तक के उस प्रसंग का वह अनायास ही वर्णन करने लगे।

मैं सुनता रहा।

धूप कमरे में तिरछी आ रही थी। उनके चेहरे पर सीधी तो नहीं पड़ रही थी फिर भी वह चेहरा सामने पड़ता था और उजला दीखता था। मैं कानों से सुनने से अधिक उस कथा को आँखों से देख रहा था। प्रसंग बेहद मार्मिक था। प्रेमचन्द जी, मानों अवशभाव से, आपा खोए से, कहते जा रहे थे।

सहसा देखता हूँ, वाक्य अधूरा रह गया है। वाणी मूक हो गई है। आँख उठा कर देखा, — उनका चेहरा एकाएक मानो राख की भाँति सफ़ेद हो आया है। क्षण भर में सन्नाटा हो गया। मुझे जाने क्या चीज़ छू गई। पल भर में मानो एक मूर्छा व्याप गई। और पल बीते-न-बीते मैंने देखा, प्रेमचन्द का सौम्य मुख एकाएक बिगड़ उठा है। जैसे भीतर से कोई उसे मरोड़ रहा हो। जबड़े हिल आए, मानो कोई भूचाल उन्हें हिला गया। सारा चेहरा तुड़-मरुड़ कर जाने कैसा हो चला। और फिर, देखते-देखते उन आँखों से तार-तार आँसू झर उठे। उस समय चेहरा फिर शांत हो गया था और आँसू झर-झर झर रहे थे।

यह क्या कांड हो गया! मानो प्रेमचन्द जी बहुत ही लज्जित थे। लड़खड़ाती वाणी में बोले — जैनेन्द्र .... आगे उनसे बोला न गया। मानो वह जैनेन्द्र से क्षमा माँगना चाहते थे। उनका अपने ऊपर से क़ाबू बिल्कुल टूट चुका था। आँसू रुकना न चाहते थे। ओह, कहीं हिचकी ही न बँध जाय!

किन्तु मिनट दो मिनट में वह प्रकृतिस्थ हुए। गालों और मूछों पर से टपकते आँसुओं को उन्होंने पोंछा नहीं। एक क्षीण लज्जित मुस्कान में मुस्काए। कठिनाई से बोले — मुझसे आगे नहीं पढ़ा गया, जैनेन्द्र!

यह व्यक्ति जो जाने किन-किन मुसीबतों में हँसता हुआ निकल आया है, जो अपने ही दुःख के प्रति इतना निर्मम रहा है, वह पुस्तक के कवि कल्पित पात्र के दुःख के प्रति इतना तादात्म्य अनुभव कर सकता है कि ऐसी अवशता से रो उठे! मेरे लिए यह अनुभव अनूठा था। इसके प्रकाश में मैं देख सका कि प्रेमचन्द की अंतस्थ वृत्तियाँ कितनी सूक्ष्मस्पर्शी हैं। जो काल के दुर्द्धर्ष थपेड़ों से अचल रहेगा वही किसी की सच्ची वेदना, सच्चे त्याग पर एकाएक गलकर किस भाँति बह भी सकता है — मैंने तब जाना।

पुस्तक के उस प्रसंग की बात यहाँ न हो सकेगी। साधारणतया वह कितना वीभत्स, इतना अश्लील मालूम होता था! पर उस प्रकार की विषम स्थिति में घिरो हुई, ढँकी हुई वहाँ थी एक प्रकार की आध्यात्मिक सौन्दर्य की झलक। अन्धेरे में थी इसलिए मानो उसकी चमक और भी उज्जवल थी। प्रेमचन्द जी की आँख उसी पर पहुँची और मुग्ध हो गई।

मानवी भावनाओं का, परनिमित्त स्नेह का, दैन्य प्रेमचन्द जी में न था। जिसको कलाकार समझा और जाना जाता है, उसमें इसकी सम्भावना रहती है। कलाकार इतना आत्म-ग्रस्त हो जाता है कि औरों के प्रति उपेक्षावृत्ति धारण कर ले। प्रेमचन्द

जी आत्मग्रस्त न थे। वह बल्कि परव्यस्त थे।

प्रेमचन्द जी ने एक बड़ी दिलचस्प आपबीती सुनाई। एक निरंकुश युवक ने किस प्रकार उन्हें ठगा और किस सहज भाव से वह उसकी ठगाई में आते रहे, इसका वृत्तान्त बहुत ही मनोहर है। पहले-पहल तो मुझे सुनकर अचरज हुआ कि मानव प्रकृति के भेदों को इतनी सूक्ष्मता से जानने और देखने वाला व्यक्ति ऐसा अजब धोखा कैसे खा गया। लेकिन मैंने देखा कि जो उनके भीतर कोमल है वही कमजोर है। उसको छूकर आसानी से उन्हें ऐंठा जा सकता है।

उसी उनकी रग को पकड़ कर उस चालाक युवक ने प्रेमचन्द जी को ऐसा मूंड़ा कि कहने की बात नहीं। सीधे-सादे रहने वाले प्रेमचन्द जी के पैसे के बल पर उन्हीं की आँखों के नीचे उस जवान ने ऐसे ऐश किये कि प्रेमचन्द आँख खुलने पर स्वयं विश्वास न कर सकते थे। प्रेमचन्द जी से उसने अपना विवाह तक करवाया, बहू के लिए ज़ेवर बनवाये, और प्रेमचन्द जी सीधे तौर पर सब कुछ करते गये।

कहते थे — भई जैनेन्द्र सर्राफ़ को अभी पैसे देने बाक़ी हैं। उससे जो सोने की चूड़ियाँ बहू के लिए दिलाई थीं, उनका पता तो मेरी धर्म पत्नी को भी नहीं है। अब पता देकर अपनी शामत ही बुलाना है। पर देखो न जैनेन्द्र, यह सब फ़रेब था। वह लड़का ठग निकला। अब ऊपर ही ऊपर जो दो-एक कहानियों के रुपये पाता हूँ उससे सर्राफ़ का देना चुकता करता जाता हूँ। देखना कहीं घर में न कह देना। मुफ़्त की आफ़त मोल लेनी होगी। बेवक़ूफ़ बने, तो उस बेवकूफ़ी का दंड भी हमें भरना होगा।

उस चतुर युवक ने प्रेमचन्द जी की मनुष्यता को ऐसे झाँसे में पकड़ा और उसे ऐसा निचोड़ा कि और कोई होता तो उसका हृदय हमेशा के लिए हीन और कठिन और छूछा पड़ गया होता। पर प्रेमचन्द जी का हृदय इस धोखे के बाद भी मानो और धोखा खाने की क्षमता रखता था। उस हृदय में मानवता के लिए सहज विश्वास की इतनी अधिक मात्रा थी।

सन्देह नहीं कि कड़वे और तीखे अनुभव पर अनुभव पाते रहने के कारण स्वभाव में वह कुछ कठिन और अनुदार और शंकाशील भी हो चले थे। फिर भी मानो उनका सहज औदार्य अनायास उनके अनुभव कठिन कलक्युलेशन पर विजय पा लेता था।

(१०)

यहाँ उनके साहित्य की विवेचना अभीष्ट नहीं है। उस साहित्य के स्रस्टा साहित्यकार को ही समझने की इच्छा है।

हरेक के लिए एक चीज ज़रूरी है — वह, असंलग्नता। काल का जो प्रवाह हमारे सामने होकर चीज़ों को अदलता-बदलता चला जा रहा है, मनुष्य

उस प्रवाह का शिकार ही नहीं है, वह उसके प्रति यत्किंचित असंलग्नता धारण करके कुछ निर्माण भी करता है, अर्थात अपनी ओर से उस प्रवाह को कुछ दिशा प्रदान भी करता है। मनुष्य इसी शक्ति के कारण मनुष्य है अन्यथा वह पूर्णतः पशु ही रहता।

तटस्थ होकर घटनाओं को और व्यक्तियों को और तत्वों को देखने की यह शक्ति प्रेमचन्द में प्रचुर मात्रा में थी। उनके विश्वास नुकीले न थे। वह दूसरों पर अपना आरोप करके देखने के मोह में न थे। जो जहाँ था, उसको वहीं रहने देते थे। मानो उसको उसी की आँखों से देखना चाहते थे। कलाकार का वही इष्ट है यह सबको उन्हीं के भीतर से देख सके, तो और क्या चाहिए। प्रेमचन्द जी इस इष्ट की साधना में असावधान न थे। इसी दृष्टि का विकास अध्यात्म की समत्व दृष्टि है। '....ब्राह्मणे गवि हस्तिनि, शुनि चैव श्वपाके च पंडितः समदर्शिनः।'

काल में रहकर भी कालातीत स्थिति में अपने को अनुभव करने की यह साधना बहुत हितकारी है। मर्त्यलोक में भी यही साधना अमरता की ओर ले जाती है। प्रेमचन्द जी साहित्य में पाई जाने वाली विविधता; सब पात्रों के प्रति लगभग समान भाव से होने वाला न्याय; उसमें व्याप्त सहानुभूति; उस साहित्य की प्रासादिकता और मनोरंजकता — सब इसी साधना के फल हैं। इस साधना के अभाव में स्वप्न निरा स्वप्न हो जाता है; और यथार्थता के साथ उसका विरोध तीव्र से तीव्रतर होता चला जाता है। वैसी साधनाहीन कल्पना में से रोमांटिक (रंगीन) साहित्य का जन्म होता है। उसके मूल में यथार्थ की कठोरता, अप्रितता से हठात् बचने की प्रवृत्ति है। वह दुर्बलता की द्योतक है। मैं मानता हूँ कि आधुनिक हिन्दी साहित्य के प्रेमचन्द पहले प्रणेता हैं। जो यत्नपूर्वक यथार्थता के दबाव से बचने के लिए रोमांस की गली में भूल-कर मौज करने नहीं गये। रोमांस को उन्होंने छोड़ ही दिया, सो भी नहीं। उस अर्थ में, रोमांस कभी छूटता है? कोई लेखक कल्पना को कैसे छोड़ सकता है? कल्पना बिना लेखक क्या। लेकिन अपने हृद्गत रोमांस को उन्होंने व्यवहार पर, वास्तव पर घटाकर देखा और दिखाया। उन्होंने यथार्थ को ही आदर्श की ओर उभारने की कोशिश की। उनके साहित्य की खूबी यह नहीं है कि उनका आदर्श अंतिम है, अथवा सर्वथा स्वर्गीय है। उसकी विशेषता तो यह है कि उस आदर्श के साथ व्यवहार का असामंजस्य नहीं है। वह आदर्श स्वयं में कम ऊँचा है तो इसलिए भी कम ऊँचा है कि वह नीचे-वालों को उठाकर उनके साथ-साथ रहना चाहता है। इस समन्वय की पुष्टता के कारण वह पुष्ट है।

एक बात और याद रखने की है। प्रेमचन्द जब साहित्य में आये तो वह साहित्य, सर्वथा नहीं तो अधिकांश रूप में अवश्य, व्यक्ति के लिए एक शग़ल था, मनो-विनोद का एक साधन और व्यवसाय था। प्रेमचन्द जी आरम्भ में उसके प्रति इसी नाते की धारणा पर साहित्य में प्रसिद्ध हुए, शनैः-शनैः ही साहित्य के प्रति उनके मनोभाव

उत्तरोत्तर गंभीर और पवित्र होते गए। अपने साथ साथ वे हिन्दी पाठकों को भी उस प्रकार की मनोवृत्ति में उठाते चले गए। हमको यह याद रखना चाहिए कि 'चन्द्रकांता-संतति' या 'नरेन्द्रमोहिनी' के पाठक से उन्होंने आरम्भ किया था। उस पाठक के भरोसे वह लेखक बने, और उन्हें लेखक बने रहना था। पाठक वही था लेकिन उसे 'भूतनाथ, से 'गोदान' तक ले चलना था। प्रेमचन्द के इस ऐतिहासिक दायित्व को भूलने से न चलेगा। महावीर प्रसाद जी द्विवेदी को विवेचक पाठक से काम पड़ा। वह काम इतना गुरु-गंभीर न था। उसमें विवाद से और तर्क से और योग्यता से काम चल सकता था। अधिक से अधिक वह इस या उस तर्क-धारा, विचार-धारा को मोड़ने का काम था। पर प्रेमचंद के ज़िम्मे तो समूचे व्यक्तित्व को, समूचे हिन्दी वर्ग को, एक तल से उठाकर दूसरे संस्कारी तल तक ले चलने का काम आया। वह काम समूचे व्यक्तित्व, समूची आत्मा को माँगता था। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने हिंदी एक विशेष tradition (परम्परा) प्रदान की। उसे रूढ़ शिथिलता से उबार कर भारतेन्दु ने हिन्दी को हवा लगने दी। पर उन traditions की अपर्याप्ता, अनुपयुक्तता इधर-उधर प्रकट हो चली थी। भारतेन्दु के साहित्य में जीवन मानो नाटकीय रंगस्थली है। पर बीसवीं सदीं का विज्ञान और वितर्क-संकुल जीवन उससे अधिक जटिल चीज़ हो चली। हिंदी को उस भारतेन्दु की साहित्य-परम्परा से आगे बढ़कर इस जीवन-जटिलता का और उसके वैविध्य-वैषम्य का आकलन करने के लिए समर्थ होना था। यह काम परम्परा को तोड़ने से नहीं होता। परम्परा टूटती नहीं है, टूट सकती ही नहीं है। उनको पचाकर आगे बढ़ा जाता है; उन्हीं को विस्मृत किया जाता है, उभारा जाता है। यह काम आलोचना-विलोचना के वश का नहीं है। यह काम स्रष्टा का है, उसके लिए है। साहित्यिक परम्पराओं का निर्माण और संस्कार इतना अधिक विधायक कर्म है कि ध्विंसेच्छा अथवा सुधारागृह उसके लिए असंगत वृत्तियाँ हैं; उसके लिए तो अपने सम्पूर्ण जीवन का निवेदन ही चाहिए। इस युग में प्रेमचंद जी के ऊपर यह दायित्व पड़ा और उन्होंने निबाहा, ऐसा मेरा वश्वास है। मनोविनोद से उठते-उठते हम साहित्य के प्रति एक मिशन-भाव, एक पूजाभाव तक आ गए हैं और प्रेमचन्द जी ने हिंदी पाठक-लेखक के इस मानसिक विकास में महत्वपूर्ण योग दिया है।

उनकी रचनाओं को निर्माणकाल के अनुक्रम से देखने पर स्पष्टता से पता चलता है कि यह आगे बढ़ते हुए समय का साथ देने में अपने को लाँघने से भी नहीं चूके। कहीं वह राह में ठहर नहीं गए, साथ देते ही गए। जो उनकी पहली कहानियाँ और पहले उपन्यास हैं, वह पिछली कहानियाँ और पिछले उपन्यास नहीं हैं — इसका कारण यही है कि वह प्रगति से पिछड़ने को तैयार न थे। जब कहानियों में मनोविज्ञान की धुन सवार हुई तब वह उस नई माँग और नए फ़ैशन के प्रति अवज्ञाशील नहीं हुए। जब और जिस तरह की नई जिज्ञासा, नई माँग पाठक में

जगी तब प्रेमचन्द भी उसके प्रति जागरूक और उत्तर में तत्पर दीखे। युग के प्रतिनिधि लेखक के यही लक्षण हैं। वह निरन्तर वर्द्धमान, निरन्तर परिणमनशील है। उन्होंने पाठक को बिछुड़ने नहीं दिया, उसको घेरे ही रखा। इसमें पाठक असन्तुष्ट भी हुआ तो हो, प्रेमचन्द जी उसके हित को अपने मन से भुलानेवाले न थे। यही कारण है कि 'सेवासदन' की सुसम्पूर्णता और सुसम्बद्धता (Complete causal wholeness) 'गोदान' में नहीं है। गोदान चित्र की भाँति असमाप्त और काल-प्रवाह के सामन थोड़ा बहुत अनिर्दिष्ट है। पिछली रचनाएँ पहले की भाँति नैतिक उद्देश्य के ढँकने से ढँकी सुरक्षित और बन्द नहीं हैं, मानो कहीं अनढँकी और खुली रह गई हैं — इसका कारण यही है। पाठक आदेश नहीं चाहता निर्देश नहीं चाहता, विस्तृति और जागृति केवल चाहता है तो प्रेमचन्द जी भी पिछली रचनाओं में निर्देश नहीं देंगे, उन्मुक्त विस्मृति देंगे।

Subjective (आत्मापेक्षी) दृष्टि से प्रेमचन्द जी अपनी साहित्य-सृष्टि में निरन्तर गतिमान और प्रगतिशील रहे हैं। अपने भीतर जीवन का प्रवाह उन्होंने रुकने नहीं दिया। Objective (पदार्थापेक्षी) दृष्टि से मैं उनके साहित्य पर विचार भी करना नहीं चाहता हूँ। इस लिहाज से किसी को कोई रचना अच्छी लग सकती है और दूसरा किसी दूसरी रचना पर अटक सकता है। लेकिन उस माप से प्रेमचन्द के साहित्य का विभाजन उपयोगिता पूर्वक किया जायगा, सही ; पर उस भाँति उस प्रेमचन्द-तत्व को पहुँचना दुष्कर होगा जो उस समूचे साहित्य को एकता की सम्भावना देता है और जो उस सृष्टि का मूल है।

(११)

प्रेमचन्द जी भौतिकतावादी नहीं, बुद्धिवादी थे। उनका आधार विवेक, अर्थात विभेद-विज्ञान था। फिर भी आज के युग को पच्छिमी प्रवृत्ति से उनको आशंका थी। उनके जीवन में, उनके साहित्य में उस आशंका के लक्षण अति प्रकट हैं, और उसके प्रति खुली चेतावनी और खुली चुनौती है। उसमें घोषित है कि त्राण शक्ति में नहीं, सेवा में है। महिमा उद्दण्ड विभूति में नहीं, शान्त समर्पण में है। सिद्धि सुख पर ईर्ष्या कहने में नहीं, वेदना के साथ सहानुभूति करने में है। Social polity का समाधान में नहीं, गाँव में है। बहुत कुछ चारों ओर बटोर कर संग्रह करने जीवन का स्वास्थ्य बढ़ेगा नहीं, घटेगा ; उपयोगिता भी बढ़ेगी नहीं, घटेगी; और आन्तरिक आनन्द तो इस भाँति घिर कर, घुटकर पीला और निष्प्राण हो ही जायगा।

(१२)

मुझे एक अफ़सोस है। वह अफ़सोस यह है कि मैं उन्हें पूरे अर्थों में शहीद क्यों नहीं कह पाता हूँ। मरते सभी हैं हूँ। यहाँ बचना किसको है। आगे-पीछे सबको जाना है। पर मौत शहीद की ही सार्थक है, क्योंकि यह जीवन के विजय को घोषित करती

है। आज यही ग्लानि मन में घुट-घुट कर रह जाती है कि प्रेमचन्द शहादत से क्यों वंचित रह गए। मैं मानता हूँ कि प्रेमचन्द शहीद होने योग्य थे। उन्हें शहीद ही बनना था।

और यदि नहीं बन पाए हैं वह शहीद, तो मेरा मन तो इसका दोष हिंदी संसार को भी देता है।

मरने से एक सवा महीना पहले की बात है। प्रेमचन्द खाट पर पड़े थे। रोग बढ़ गया था, उठ चल न सकते थे। देह पीली, पेट बढ़ा था, पर चेहरे पर शांति थी।

मैं तब उनकी खाट के बराबर काफ़ी-काफ़ी देर बैठा रहा हूँ। उनके मन के भीतर कोई खीझ, कोई कड़वाहट, कोई मैल उस समय करकराता मैंने नहीं देखा। देखते तो उस समय वह अपने समस्त अतीत जीवन पर पीछे की ओर भी होंगे, और आगे अज्ञात में कुछ तो कल्पना बढ़ाकर देखते ही होंगे। लेकिन उन दोनों को देखते हुए वह सम्पूर्ण शांत भाव से खाट पर चुपचाप पड़े थे। शारीरिक व्यथा थी, पर मन निर्विकार था।

ऐसी अवस्था में भी (बल्कि, ही) उन्होंने कहा — जैनेन्द्र, लोग ऐसे समय याद किया करते हैं, ईश्वर। मुझे भी याद दिलाई जाती है। पर अभी तक मुझे ईश्वर को कष्ट देने की जरूरत नहीं मालूम हुई है।

शब्द हौले-हौले, थिरता से कहे गए थे और मैं इस अत्यंत शांत नास्तिक संत की शक्ति पर विस्मित था।

मौत से पहिली रात को मैं उनकी खटिया के बराबर बैठा था। सबेरे सात बजे उन्हें इस दुनिया पर आँख मीच लेनी थी। उसी सबेरे तीन बजे मुझसे बातें होती थीं। चारों ओर सन्नाटा था। कमरा छोटा और अंधेरा था। सब सोये पड़े थे। शब्द उनके मुँह से फुसफुसाहट में निकलकर खो जाते थे। उन्हें कान से अधिक मन से सुनना पड़ा था।

तभी उन्होंने अपना दाहिना हाथ मेरे सामने कर दिया। बोले — दाब दो।

हाथ पीला क्या सफेद था। और फूला हुआ था। मैं दबाने लगा।

वह बोले नहीं, आँख मींचे पड़े रहे। रात के बारह बजे 'हंस' की बात होकर चुकी थी। अपनी आशाएं, अपनी अभिलाषाएं, कुछ शब्दों से और अधिक आँखों से वह उस समय मुझ पर प्रगट कर चुके थे। 'हंस' की और साहित्य की चिंता उन्हें तब भी दबाए थी। अपने बच्चों का भविष्य भी उनकी चेतना पर दबाव डाले हुए था। मुझमें उन्हें कुछ ढारस था।

अब तीन बजे उनके फूले हाथ को अपने हाथ में लिए मैं सोच रहा था कि क्या मुझ पर उनका ढारस ठीक है? रात के बारह बजे मैंने उनसे कुछ तर्क करने की धृष्टता भी की थी। वह चुभन मुझे चुभ रही थी। मैं क्या कहूँ? क्या करूँ?

इतने में प्रेमचन्द जी बोले — जैनेन्द्र!

बोलकर, चुप, मुझे देखते रहे। मैंने उनके हाथ को अपने दोनों हाथों से दबाया। उनको देखते हुए कहा — आप कुछ फ़िकर न कीजिए, बाबूजी। आप अब अच्छे हुए। और काम के लिए हम सब लोग हैं ही।

वह मुझे देखते रहे, देखते रहे। फिर बोले — आदर्श से काम नहीं चलेगा —

मैंने कहना चाहा — आदर्श ....

बोले — बहस न करो — कहकर करवट लेकर आँखें मींच लीं।

उस समय मेरे मन पर व्यथा का पत्थर ही मानो रख दिया। प्रकार-प्रकार की चिन्ता-दुश्चिन्ता उस समय प्रेमचन्द जी के प्राणों पर बोझ डाल कर बैठी हुई थी। मैं या कोई उसको उस समय किसी तरह नहीं बटा सकता था। चिन्ता का केन्द्र यही था कि 'हंस' कैसे चलेगा। नहीं चलेगा तो क्या होगा। 'हंस' के लिए तब भी जीने की आस उनके मन में थी और 'हंस' न जियेगा यह कल्पना उन्हें असह्य थी। पर हिन्दी संसार का अनुभव उन्हें आश्वस्त न करता था। 'हंस' के लिए जाने उस समय वह कितना न झुक-गिरने को तैयार थे।

मुझे योग्य जान पड़ा था कि कहूँ कि — 'हंस' मरेगा नहीं। लेकिन वह बिना झुके भी क्यों न जिए? वह आपका अखबार है, तब वह बिना झुके ही जियेगा।

लेकिन मैं कुछ भी न कह सका और कोई आश्वासन उस साहित्य-सम्राट को आश्वस्त न कर सका।

थोड़ी देर में बोले — गर्मी बहुत है, पंखा करो।

मैं पंखा करने लगा। उन्हें नींद न आती थी, तकलीफ़ बेहद थी। पर कराहते न थे, चुपचाप आँख खोल कर पड़े थे।

दस-पन्द्रह मिनट बाद बोले — जैनेन्द्र, जाओ सोओ।

क्या पता था अब शेष घड़ियाँ गिनती की हैं। मैं जा सोया।

और सबेरा होते-होते ऐसी मूर्च्छा उन्हें आई कि फिर उससे जगना न हुआ।

❀ ❀ ❀

हिन्दी संसार उन्हें तब आश्वस्त कर सकता था, और तब नहीं तो अब भी आश्वस्त कर सकता है। मुझे प्रतीत होता है, प्रेमचन्द जी का इतना ऋण है कि हिन्दी संसार सोचे — कैसे वह आश्वासन उस स्वर्गीय आत्मा तक पहुँचाया जावे।

२५ | दया नरायन निगम

मेरे लिए प्रेमचन्द के बारे में कोई सुसंबद्ध लेख लिखना आसान काम नहीं है। उनका खयाल आते ही सालहा साल की सैकड़ों पुरानी बातें याद आने लगती हैं और मैं उनमें गुम-सा हो जाता हूँ।

तीस साल के करीब मेरा उनका दोस्तों जैसा नहीं बल्कि सचमुच भाइयों-जैसा सम्बन्ध रहा। बौधिक रूप में हम दोनों हर बात में सहमत नहीं तो एक दूसरे से सहानुभूति रखनेवाले ज़रूर थे और वह अक्सर व्यावहारिक बातों में मेरी राय को बड़ा महत्व देते थे।

अजीब बात है कि गो वह उम्र में मुझसे कुछ बड़े थे लेकिन शुरू से आखिर तक वह मुझे बड़े भाई की तरह समझते रहे। जिन दिनों हर वक्त की बेतकल्लुफी और हँसी-दिल्लगी रहती थी उस वक्त भी वह मेरी बातों की बड़ी कद्र करते और मेरा बहुत लिहाज़ रखते थे। यहाँ तक कि मेरे अज़ीज़ उनके अज़ीज़ और मेरे दोस्त उनके दोस्त हो गये। मैंने भी उनके किसी मामले में दखल देने में कभी आगा-पीछा नहीं किया। बहुत से मामलों में तो जो मेरी राय होती उसी पर वह अमल करते।

कई साल तक एक साथ रहने का इत्तिफ़ाक़ रहा और यह मेरी ज़िन्दगी का बेहतरीन ज़माना था। नौबतराय नज़र, दुर्गासहाय सुरूर और कई दोस्त और आत्मीय शाम के वक्त दो-तीन घण्टे के लिए यकजा हो जाते और तब जीवन का कोई प्रश्न और दीन-दुनिया की कोई समस्या ऐसी न बचती जिस पर हम निस्संकोच होकर विचार न करते। संसार की घटनाओं पर बहसें होतीं। हर मामले पर टीका-टिप्पणी होती, हर मसले की छानबीन की जाती। एक दूसरे को नुक्ताचीनी होती, खूब मज़ाक होता, क़हक़हे पर क़हक़हे उड़ते। ग़रज़ अब इन सोहबतों की याद दिल से मिटाये से भी नहीं मिट सकती। अफ़सोस अब यह बातें कहाँ नसीब 'हो सकती हैं। मगर इनका लुत्फ हमेशा बाकी रहेगा।

ऐ रफ्तगाने महफिले मा
रफ्तेद वले न अज़दिले मा*

❀ ❀ ❀

जिन्दगी के आखिरी हिस्से में हमलोग एक अरसे से अपने-अपने झमेलों में कुछ ऐसे फँसे रहे कि कहाँ हर वक्त का साथ और कहाँ दो-चार दिन का साथ रहना भी मुश्किल हो गया। मगर इस सौहार्द और प्रेम की क्या प्रशंसा की जाय कि महीनों, वर्षों में जब कभी मिलने का मौका होता तो ऐसा मालूम होता कि पुराना ज़माना एक बार फिर लौट आया और अगर कोई ग़लतफ़हमी या मनमुटाव भी होता तो दो ही ख़त में साफ़ हो जाता और फिर पुरानी मुहब्बत और बेतकल्लुफी का नक्श उभर आता।

अप्रैल सन् १६३६ के प्रगतिशील लेखक सम्मेलन में दो दिन तक लखनऊ में जो साथ रहने का आनन्द रहा उसकी छाप दिल पर हमेशा बाकी रहेगी। तमाम मजमें में हमीं दो आदमी ऐसे थे जिनको किसी तीसरे आदमी की ज़रूरत न थी। सभापति-पद से दिये गये भाषण के चाहनेवाले बहुत से लोग थे लेकिन उसको प्रकाशित करने का गौरव उन्होंने 'ज़माना' को ही दिया। कांग्रेस की नुमाइश की भी सैर हुई और क़दम-क़दम पर फ़िकरेबाज़ियाँ रहीं। कानपुर के हिन्दी कवि हृदयेश भी साथ थे।

जुलाई सन् १६३६ ई० में बीमार होकर आखिरी मर्तबा लखनऊ आये तब भी मुझी को याद करके बुलाया और जब मैं पहुँचा तो इस तरह दिल खोलकर मिले जैसे कोई बिछड़ा हुआ भाई बड़े लम्बे वियोगी के बाद मिलता है। चन्द रोज़ में कई डाक्टरों से मशविरा हुआ। राय बहादुर हरगोविन्द सहाय ने बहुत ध्यान देकर डाक्टरी मुआइना किया और निहायत हमदर्दी से रोग की गम्भीरता समझायी। मेरा दिल तो उसी वक्त बैठ गया। प्रेमचन्द भी समझ गये लेकिन लड़का साथ था और उसके खयाल से नाउम्मीदी ज़ाहिर न की। चन्द ही रोज के अन्दर तीन दफा लखनऊ देखने गया। जब इलाज से कोई फ़ायदा न हुआ तो वह फिर बनारस वापस गये और इस मर्तबा ऐसे गये कि वहीं के हो रहे।

❀ ❀ ❀

मौत से पन्द्रह दिन पहले तार देकर मुझे बनारस बुलाया। तमाम रास्ता एक मानसिक स्थिति में कटा जिसमें आशा और भय दोनों ही बातें मिली हुई थीं। सुबह को आखिरी मुलाकात का समाँ उम्र भर न भूलेगा। वही प्रेमचन्द जी जो अपनी सुर्ख़ सफ़ेद सूरत के लिहाज से हज़ारों में एक थे, ऐसे पीले और कमज़ोर हो गये थे कि मुश्किल से पहचान पड़ते थे। धंसी हुई आँखें, बैठे हुए गाल, कांटे की तरह सूखे हुए

* ऐ हमारी महफ़िल से जाने वाले, तू चला तो गया पर हमारे दिल से नहीं गया।

हाथ-पाँव देखकर आँखों के सामने अँधेरा छा गया। उनके न थमनेवाले क़हक़हे बात करने की भी मुहलत न देते थे, मगर अब आँसुओं का तार बँधा हुआ था। न उठने की ताक़त थी और न बैठने की सकत। लेटे ही लेटे हाथ पकड़ लिया और गले से चिपटा लिया जैसे कोई डरा हुआ बच्चा बिलख-बिलख कर सीने से चिमटने की कोशिश करे। इतने कमज़ोर हो गये थे कि बात करने में भी थकन होती थी ताहम दम ले लेकर आहिस्ता आहिस्ता बातें करते ही रहे। मैंने मना करना चाहा तो कहने लगे कि दुबारा मुलाकात की उम्मीद नहीं, वर्ना तुम्हारा कहना न टालता। और जो कोई आता है निराश करनेवाली बातों से परेशान कर जाता है। बीबी की तरफ इशारा करके कहा कि अगर यह ढाढ़स न बँधाये रहतीं तो कब का मर चुका होता। वाक़ई मिसेज़ प्रेमचन्द ने इन दिनों बड़ी हिम्मत से काम लिया और दिल-शिकन हालात में भी कभी एक लमहे के लिए भी अपने दिली सदमे को उनपर ज़ाहिर न होने दिया। अगर कभी उन्होंने मायूसी की बात भी की तो समझा-बुझा कर तसल्ली दे दी। इसीलिए कहते थे कि उनके बगैर खुदा मालूम मेरा क्या हाल होता। सचमुच इस विपत्ति में उनकी धर्मपत्नी ने जिस धीरज और हिम्मत से काम लिया उसकी तारीफ़ नहीं हो सकती। मगर उनकी इच्छा शक्ति और साहस भी कुछ काम न आया। होनी अटल थी, होकर रही।

प्रेमचन्द के आचार-व्यवहार के बारे में बहुत कुछ लिखा जा चुका है। मुल्क के नामवर लेखक, बड़े-बड़े साहित्यकार और वाक़िफहाल दोस्त-अहवाब उनकी ज़िन्दगी में मुख्तलिफ पहलुओं पर रोशनी डाल चुके हैं। मैं सिर्फ यह चाहता हूँ कि जीवन की विभिन्न समस्याओं पर उनके विचार और भावनाएँ और दृष्टिकोण मित्रों के सामने पेश करूँ और कुछ जीवन-सम्बन्धी घटनाओं और तथ्यों को भी, जो आम तौर पर लोगों को पता नहीं है, संक्षेप में बतला दूँ।

प्रेमचन्द का असली नाम और वल्दियत और सकूनत वगैरह तो सबको मालूम हैं। यह भी सब जानते हैं कि वह सन् १८८० में पैदा हुए थे। उनके आरम्भिक जीवन की कठिनाइयों का हाल भी दूसरे लेखों में आ चुका है। इण्ट्रेस पास कर लेने के बाद वह गवर्नमेण्ट सेण्ट्रल ट्रेनिंग कालेज इलाहाबाद में दाखिल हुए और सन् १९०३-४ के सेशन में शिक्षा प्राप्त करके उन्होंने अप्रैल सन् १९०४ में जूनियर इंगलिश टीचर्स सर्टिफिकेट का इम्तिहान अव्वल दर्जे में पास किया। उसके सर्टि-फिकेट दिनांक १ जुलाई १९०५ ई० में, जिसपर मिस्टर जे० सी० कैम्स्टर, प्रिन्सिपल और मिस्टर बेकन इंसपेक्टर आफ स्कूल्स इलाहाबाद सर्किल के हस्ताक्षर हैं, नीचे लिखी यह पंक्ति ध्यान देने योग्य है।

Not qualified to teach mathematics. conduct satisfactory and regular. He worked earnestly and well.

अर्थात् गणित पढ़ाने की योग्यता नहीं है। आचरण संतोषजनक रहा और काम

नियमित ढंग से और जी लगाकर किया।

सन् १९०४ में इलाहाबाद युनिवर्सिटी का पुराना स्पेशल वर्नाकुलर इम्तिहान भी उर्दू-हिन्दी दोनों ही पास किया। इण्टरमीडिएट की परीक्षा कई बार दी लेकिन हर बार गणित में फेल हो गये। आखिरकार जब यह विषय अनिवार्य नहीं रह गया और वैकल्पिक हो गया तो सन् १९१६ में द्वितीय श्रेणी में उसको भी पास कर लिया। उस वक्त वह गवर्नमेण्ट स्कूल बस्ती में असिस्टेण्ट टीचर थे। इण्टरमीडिएट में उनके विषय यह थे: अंग्रेज़ी, तर्कशास्त्र, फ़ारसी और आधुनिक काल का इतिहास।

तीन साल के बाद सन् १९१९ में जब वह गोरखपुर में टीचर थे तो इलाहाबाद युनिवर्सिटी की बी० ए० की परीक्षा भी द्वितीय श्रेणी में पास की। इस बार उनके विषय थे: अंग्रेज़ी, फारसी और इतिहास।

सन् १९०५ से १९०८ तक गवर्नमेण्ट स्कूल कानपुर में असिस्टेण्ट टीचर रहे इस बीच काफी दिनों तक ज़माना के एडीटर के साथ और फिर उसके करीब ही एक दूसरे मकान में ही रहें। कानपुर से महोबा ज़िला हमीरपुर में डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के सब डिप्टी इंस्पेक्टर आफ स्कूल्स नियुक्त होकर गये और महोबा में बराबर ६ साल तक रहे और यहीं अपनी कुछ प्रसिद्ध कहनियाँ लिखीं — आल्हा, रानी सारन्धा, विक्रमादित्य का तेग़ा, और बुन्देलों की बहादुरी के बहुत से दूसरे किस्से जो अपना जवाब नहीं रखते इसी काल की रचना है। मगर महोबा में वह बीमार हो गये। चुनांचे सन् १९१४ में तबादले की दरख़्वास्त दी। खयाल तो यह था कि कोई अच्छी जगह मिलेगी लेकिन तबादला बस्ती में हुआ जहाँ जुलाई सन् १९१४ से ढाई साल तक बराबर रहे। पहले सब डिप्टी इंसपेक्टर आफ़ स्कूल्स रहे फिर जब लगातार दौरों का बोझ बर्दाश्त न हो सका और स्वास्थ्य खराब रहा तो विवश होकर फिर मास्टरी पर लौटे और जुलाई सन् १९१५ में गवर्नमेण्ट स्कूल बस्ती के असिस्टेण्ट टीचर हो गये। यहाँ से अगस्त सन् १९१६ में नार्मल स्कूल गोरखपुर के असिस्टेण्ट मास्टर बनाकर भेजे गये। गोरखपुर में अपेक्षाकृत प्रसन्न रहे। कुछ ही दिनों में नार्मल स्कूल के हेड-मास्टर साहब भी उनके प्रशंसक हो गये और कई पढ़े-लिखे दोस्तों का साथ हो गया। रघुपतिसहाय साहब फिराक और महावीरप्रसाद जी पोद्दार से यहीं मुलाकात और दोस्ती हुई। यहीं उनका बड़ा लड़का पैदा हुआ। यहीं वह कांग्रेस के असहयोग आन्दोलन में शामिल हुए। दो साल तक यह नार्मल स्कूल बोर्डिंग हाउस के सुपरिटेण्डेण्ट भी रहे जिसके लिए वेतन के अलावा उन्हें १५ रु० मासिक भत्ता मिलता था। गोरखपुर में वह मार्च १९२१ तक रहे। एक मर्तबा बीच में वह फिर ज्यादा बीमार हो गये थे जिसके कारण उन्हें कई मास की छुट्टी लेनी पड़ी। कई जगह इलाज के लिए गए और कानपुर भी आये थे।

आखिर फरवरी सन् १९२१ में उन्होंने असहयोग आन्दोलन के सिलसिले में

सरकारी नौकरी से इस्तीफ़ा दे दिया और पोद्दार जी के सहयोग से एक चरखे की दुकान खुलवायी। लेकिन जब उसमें इच्छानुसार सफलता न मिलती तो मार्च सन् १६२१ में बनारस चले गये और उसी महीने वह कानपुर आये और वहाँ महाशय काशीनाथ जी, मैनेजर मारवाड़ी स्कूल की कोशिश से उक्त स्कूल के टीचर हो गये। इस दफा उन्होंने मेस्टन रोड में मकान लिया जहाँ अगस्त सन् १६२१ में उनका दूसरा लड़का पैदा हुआ। काशीनाथ जी बड़े देशभक्त और सहानुभूतिपूर्ण व्यक्ति थे थे मगर स्कूल के प्रबन्ध में उनसे प्रेमचन्द की अनबन हो गयी। इस तरह मार्च सन् १६२२ में वह यहाँ से इस्तीफ देकर फिर बनारस चले गये और लमही में अपने मकान पर रहने लगे जो बनारस शहर से साढ़े तीन मील की दूरी पर ही है। यहाँ उन्होंने कई हज़ार रुपये की लागत से एक पक्का मकान बनवाया और यहीं आबाद होकर साहित्यिक काम करने का निश्चय किया। लेकिन हिन्दी के प्रसिद्ध संरक्षक श्रीयुत शिवप्रसाद जी गुप्त की प्रेरणा से उन्होंने हिन्दी पत्रिका 'मर्यादा' की सम्पादकी सम्हालना स्वीकार किया। उसके सम्पादक बाबू सम्पूर्णानन्द को असहयोग के सिलसिले में जेल जाना पड़ा तो गुप्त जी ने प्रेमचन्द जी को याद किया। डेढ़ साल तक वह यह काम करते रहे और जब सम्पूर्णानन्द जी जेल से लौटे तो गुप्त जी ने प्रेमचन्द को काशी विद्यापीठ में टीचर नियुक्त कर दिया। इस तरह सरकारी नौकरी से इस्तीफा देने के बाद गुप्त जी ने प्रेमचन्द जी की सहायता का बराबर ध्यान रखा। 'मर्यादा' में उन्हें डेढ़ सौ रुपया मासिक मिलते थे लेकिन विद्यापीठ में सिर्फ़ सवा सौ की तनख्वाह मिली। बहरहाल, एक साल तक यह काम भी किया। उसके बाद उन्होंने स्वतन्त्र होकर ज़िन्दगी बसर करने के खयाल से तीन लोगों के साझे में (जिनमें से एक फिराक़ साहब और दो उनके सम्बन्धी थे) सरस्वती प्रेस कायम किया। उसमें खुद उन्होंने साढ़े चार हज़ार रुपया लगाया लेकिन जब काफी मुनाफा न हुआ तो धीरे-धीरे प्रेस की सारी जिम्मेदारी उन्हीं पर आ पड़ी। अब वह ऐसे व्यावसायिक संघर्ष में पड़ गये जो उनके स्वभाव से मेल न खाता था। नुकसान बराबर होता रहा और आखिरकार फिर उन्हें दूसरों की नौकरी का सहारा लेने पर मजबूर होना पड़ा। इस बीच में और इससे पहले भी कई बार 'ज़माना' में आने का इरादा हुआ। तरह तरह की योजनाएँ बनीं लेकिन एक तरफ अर्थ की कमी, और दूसरी तरफ उनकी अपनी स्पष्ट आवयश्कताओं के कारण कोई योजना सफल न हो सकी तो सन् १६२५ में हिन्दी की प्रसिद्ध प्रकाशन संस्था गंगा पुस्तक माला लखनऊ में शायद १०० रुपये मासिक पर उन्होंने लिट्रेरी असिस्टेण्ट की नौकरी कबूल कर ली। यहाँ दस महीने तक काम किया लेकिन गुज़ारा न हुआ तो अप्रैल सन् १६२६ में फिर बनारस लौटे और जून सन् १६२८ तक वहीं रहे। जुलाई सन् १६२८ में मुंशी बिशननारायण भार्गव, मालिक नवलकिशोर प्रेस की कद्रदानी ने उन्हें फिर लखनऊ खींच बुलाया। मुंशी साहब प्रेमचन्द जी की हिन्दी कहानियों के भक्त हो चुके थे।

उन्होंने दो सौ रुपये मासिक पर अपनी प्रसिद्ध हिन्दी पत्रिका 'माधुरी' की एडीटरी उनको सौंप दी। चुनांचे जुलाई सन् १९२८ से नवम्बर सन् १९३१ तक वह नवल-किशोर प्रेस में रहकर तरह तरह के काम करते रहे। मुंशी बिशननारायण साहब एक विद्या प्रेमी नवयुवक थे और गो उन्होंने वैरागियों जैसा स्वभाव पाया था तो भी कुछ रईसाना शौक भी उनके साथ लगे हुए थे। मिज़ाज में हद से ज़्यादा मुरव्वत थी, हृदय उदार और दिमाग़ जमा-खर्च की उलझनों से मुक्त था। वह हर विभाग का प्रबन्ध बहुत ही अच्छा करना चाहते थे, मगर धीरज और लगन से किसी की तरफ न झुकते थे और प्रेस घाटे पर चल रहा था। माधुरी का सम्पादकीय स्टाफ भी काफी से ज्यादा था। इसलिए कारखाने को उन्नत करने के विचार से प्रेमचन्द को पुस्तकों की रचना के विभाग में ले लिया गया जहाँ उन्होंने कई छपने वाली पुस्तकों का संशोधन करने के अलावा आरम्भिक कक्षाओं के लिए उर्दू-हिन्दी रीडरें भी तैयार कीं। इसी सिलसिले में उन्हें मिर्ज़ा असकरी साहब और हज़रत अली लख-नवी के साथ काम करने का मौका मिला। मगर मुंशी बिशननारायण साहब की अकाल मृत्यु ने तमाम मंसूबे खत्म कर दिये और रियासत कोर्ट आफ वार्ड के सुपुर्द हो गयी जिसके शासनकाल में इन बढ़े-चढ़े नामी-गरामी लोगों की कद्रदानी की कोई गुंजा-इश न रही। मिस्टर मनरो डिप्टी कमिश्नर से कहा-सुना गया लेकिन यहाँ उन महाशयों ने मौका देखकर पहले से फैसला करा लिया था। इस तरह नवम्बर सन् ३१ में प्रेमचन्द जी का नवलकिशोर प्रेस से भी सम्बन्ध-विच्छेद हो गया। मगर चूँकि लड़के लखनऊ ही में पढ़ रहे थे इसलिए अप्रैल सन् १९३३ तक आपको भी लखनऊ रहना पड़ा। उसके बाद वह फिर बनारस चले आये और एक साल यानी मई सन् १९३४ तक अपने प्रकाशन गृह सरस्वती प्रेस का काम देखते-भालते रहे।

इसी बीच में वह उर्दू से बिलकुल निराश से होकर पूरी तरह हिन्दी की तरह झुक गये। लिखने-पढ़ने के अलवा उन्होंने हर मुमकिन तरीके से प्रेस को बढ़ाना चाहा। जनवरी सन् १९३० में हंस नाम का एक हिन्दी मासिक पत्र जारी किया। मगर छः महीने भी मुश्किल से गुजरने न पाये थे कि जून सन् १९३० में आर्डिनेन्स के मातहत उससे एक हज़ार की ज़मानत माँगी गयी जिस पर आपने परचा बन्द कर दिया। मगर छः महीने बाद जब यह आर्डिनेन्स रद्द हो गया तो आपने जनवरी सन् १९३१ में उसे दुबारा जारी कर दिया। मगर दो ही तीन अंक निकले होंगे कि 'कातिल' शीर्षक एक कहानी के प्रकाशन के अभियोग में फिर ज़मानत माँगी गयी। मगर मिस्टर पन्नालाल, कलक्टर बनारस, की सिफारिश पर सरकार ने अपने हुक्म को वापस ले लिया और हंस फिर बदस्तूर निकलता रहा। अक्टूबर सन् १९३५ में हिन्दी साहित्य परिषद् ने उसे अपने प्रबन्ध में ले लिया और जून १९३६ तक यह पत्र परिषद् के ही तत्वावधान में निकलता रहा। लेकिन जून १९३६ के अंक में सेठ गोविन्ददास का एक नाटक प्रकाशित हुआ जिसे सरकार ने आपत्ति-

जनक समझा और हंस से फिर ज़मानत माँगी। परिषद् ने ज़मानत देने से इनकार करके परचा बंद करने का ऐलान कर दिया। मुंशी प्रेमचन्द को यह कार्रवाई अच्छी नहीं मालूम हुई। उन्होंने हंस को परिषद् से अपने हाथ में वापस लेकर जारी रखा।

अगस्त सन् '३२ में उन्होंने जागरण नाम के एक हिन्दी साप्ताहिक की ज़िम्मेदारी भी अपने सर ले ली जो श्रीयुत विनोदशंकर व्यास की देखरेख में जारी हुआ था। प्रेमचन्द जी समझते थे कि इस साप्ताहिक से कार्यालय को मदद मिलेगी और उनका भी जीवनयापन हो जाएगा, लेकिन दो ही साल के अन्दर उन्हें आठ-दस हज़ार का घाटा हुआ जिससे मजबूर होकर उन्हें आखिरकार उसे बन्द करना पड़ा। इसी बीच कुछ कर्मचारियों ने भी उन्हें धोखा दिया। गरज प्रेस पर बहुत सा कर्ज हो गया जिसकी अदायगी के लिए उनको अपनी इच्छा के प्रतिकूल जून सन् '३४ में बम्बई जाकर अजन्ता सिनेटोन की नौकरी करनी पड़ी। साढ़े सात सौ रुपये मासिक वेतन तय हुआ और बाकायदा लिखा-पढ़ी हो गयी। लेकिन बम्बई में उनका स्वास्थ्य ठीक नहीं रहा और काम के सम्बन्ध में भी उन्हें बड़ी निराशा का सामना करना पड़ा। आप तो यह समझ कर गये थे कि अच्छे-अच्छे ड्रामे तैयार करके मुल्क में अच्छी गम्भीर और साहित्यिक फिल्में जारी करेंगे। लेकिन वहाँ कुछ और नकशा नज़र आया। मालिक लोग अपनी मर्जी के मुताबिक ऐसी तसवीरें बनवाते हैं जो आम जनता को पसन्द होती हैं और बड़े-से-बड़े लेखक के तैयार किये हुए प्लाट में मनमानी काट-छाँट कर देते हैं और लेखक को दम मारने का मौका नहीं रहता। कुछ और भी बातें हुई जो शायद सिनेमा कम्पनियों की अपनी विशेषता हैं लेकिन जिनसे आपको घृणा थी। इसलिए आपने अनुबन्ध से पहले ही अपने आप को मुक्त कर लिया और मार्च सन् १९३५ में यह सिससिला तोड़कर बनारस आ गये और अपना शेष जीवन यहीं समाप्त कर दिया।

प्रेमचन्द को बड़े अरसे से पेट की शिकायत थी। सरकारी नौकरी के आरम्भिक दिनों में भी वह महोबा में बहुत बीमार हो गये थे। उसके बाद यह शिकायत कमोबेश बराबर जारी रही। वह ज़्यादा एहतियात या परहेज़ के आदी न थे और न अपनी सेहत की ज़्यादा परवाह या कोई खास फिक्र करते थे। बम्बई की आबोहवा उन्हें बिलकुल रास न आयी और यहाँ उनका हाज़मा और भी कमज़ोर हो गया। आखिर जून सन् १९३६ में यह शिकायत हद से आगे बढ़ गयी और आखिरकार जलोदर हो गया जिससे बावजूद इलाज के वह फिर ठीक न हुए। जब वह लखनऊ गये तो मर्ज बहुत आगे बढ़ चुका था और उनकी तबीयत भी इलाज से उखड़ चुकी थी। पेट बहुत कमज़ोर हो चुका था, कोई चीज़ हज़म न होती थी और उठना-बैठना भी मुहाल हो गया था।

बनारस पहुँचकर होमियोपैथिक इलाज हुआ, मगर रोग में कोई सुधार न हुआ बल्कि हालत खराब होती गयी। आखिरकार ७ अक्टूबर को सुबह से दस्त आने

शुरू हो गये। शाम तक कई दस्त आये और कमज़ोरी और भी ज्यादा बढ़ गयी। तमाम रात बेचैनी से कटी। सुबह हुई, मुँह धोने को मंजन और पानी माँगा लेकिन लड़का मुँह धुलाने आया तो हालत कुछ की कुछ हो चुकी थी और वह हिल भी न सकते थे। घबराकर बीबी चिल्ला उठीं कि क्या आप मुँह भी न धोएँगे ? वह मुश्किल से कुछ इशारा कर सके। चन्द हिचकियाँ लीं और हमेशा के लिए सो गये। डाक्टर आया, नब्ज़ देखी, मगर आत्मा शरीर से दूसरे लोक को जा चुकी थी।

ऐ रह नवर्दे आलमे बाला चिगूनई
मा बे तू ख़स्ताएम तू बे मा चिगूनई[1]

•

[1]-ऐ दूसरे लोक के यात्री, (बता) तू किस हालत में है। तेरे बिना हम टूटे हुए हैं, हमारे बिना तू कैसा है ?

२६ | धनी राम प्रेम

जब तक रुपया हमारी जेब में रहता है तब तक हम उसे अच्छी तरह जानने की कोशिश नहीं करते। जो चीज़ हमारे निकट है, जो हमारी है, भला उसे भी क्या जानना ? लेकिन जब वही रुपया खो जाता है तो हम उसकी एक-एक बात याद करने की कोशिश करते हैं। उसका सन कौन-सा था, उस पर छाप किसकी थी, आदि सारी बातों की ओर हमारा ध्यान जाता है। यही बात स्वर्गीय प्रेमचन्दजी के विषय में हुई। हिन्दी-संसार ने — और विशेषकर हिन्दी-साहित्यिक संसार ने — उनके जीवन काल में उनका मूल्य न जान पाया ; उनका वह आदर न किया, जो उनके योग्य था और जिसके करने से उसके करने वालों का ही गौरव दीखता। मुझे यह देखकर बड़ा कौतूहल और दुःख होता है कि आज जो उनकी प्रशंसा के पुल बाँध रहे हैं और चन्दे एकत्र करने आदि की बातें खूब ज़ोरों से कर रहे हैं, उनमें से बहुतों ने उनके जीवन काल में उन पर नीच से भी नीच लांछन लगाये थे और टोपी उछालने की कोशिश की थी। खैर, मैं ईश्वर से यही मनाता हूँ कि उनके भावों का परिवर्तन सच्चा और स्थायी हो।

बाबूजी के विषय में बहुत कुछ लिखा जा चुका है। साहित्य, व्यक्तित्व, शिक्षा, गृहस्थी आदि कोई ही ऐसा पहलू शायद बच रहा हो, जिस पर पूर्ण प्रकाश न डाला जा चुका हो। परन्तु उनकी स्मृति में जितनी ही श्रद्धांजलियाँ चढ़ाई जायँ, थोड़ी हैं। मझे उनके साथ रहने और उन्हें समझने का कई बार अवसर मिल चुका है। सन् १९२० में असहयोग के समय तक मैं उनके सारे उपन्यास और कहानियाँ पढ़ चुका था और उन्हें पढ़कर यह इच्छा बलवती हो गई थी कि उनसे भेंट करके उन्हीं की तरह कुछ लिखूं। अलीगढ़ में असहयोग-प्रचार का कार्य करने के बाद किसी राष्ट्रीय विद्यालय में फिर से शिक्षा प्राप्त करने का विचार पैदा हुआ। सुना, कानपुर में मारवाड़ी विद्यालय के हेडमास्टर श्री प्रेमचन्द ही हैं। बस, वहाँ जाने का निश्चय हो गया। मैं समझता था, प्रेमचन्दजी बहुत बड़े आदमी होंगे। भला एक साधारण

विद्यार्थी के पत्रों का उत्तर क्यों देंगे। परन्तु साहस करके एक पत्र लिख ही तो दिया और साथ में रख दी, एक अपनी लिखी हुई छोटी-सी कहानी। चार दिन बाद ही उत्तर आ गया और संशोधन के साथ कहानी भी। उत्तर में लिखा था, 'प्रियवर, तुम्हारे पत्र का उत्तर देने में दो दिन की देरी हो गई। वह इसलिए कि गाँधीजी मेरे स्कूल में आये थे। तुम कहानियाँ अच्छी लिख सकते हो। मेरी सलाह है कि कुछ अच्छी अँगरेज़ी की कहानियाँ और उपन्यास समय मिलने पर पढ़ते रहा करो।' मुझे अच्छी तरह याद है कि किस प्रकार मैं उस पत्र को अपने मित्रों को दिखाकर प्रेमचन्दजी के विशाल-हृदय की सराहना करता फिरता था। उस पत्र ने उनके प्रति मेरी श्रद्धा और भी बढ़ा दी और वह शीघ्र ही मुझे कानपुर खींच ले गई। कानपुर में, मेरे दुर्भाग्य से, उनका साथ मुझे अधिक दिनों तक न मिल सका, क्योंकि थोड़े दिन बाद ही वे कानपुर छोड़कर बनारस चले गये और मैं जेल चला गया।

उसके बाद कई वर्ष योंही बीत गए। जब सन् १९३१ में मैं विलायत से लौटकर आया और 'चाँद' के लिए कहानी भेजने को एक पत्र लिखा, तो उत्तर आया कि, 'अरे, मैं नहीं जानता था कि अपना धनीराम ही 'डा० धनीराम प्रेम, लन्दन' है। तुम्हारी कहानियाँ पढ़कर कुछ खिचाव होता था, लेकिन यह नहीं समझा था कि इसका कारण यह है।' उसके बाद पत्र-व्यवहार होता रहा। 'चाँद' में थोड़े दिन रहकर ही जब मैं बम्बई आ गया तो मैंने उन्हें लिखा कि मैं साहित्य से अलग होना चाहता हूँ। उसके उत्तर में उनका पत्र पहुँचा 'अरे भाई, कहीं यह हो सकता है कि इतने खेल खेल कर तुम साहित्य से आसानी से नाता तोड़ दो। मैं इस बात का अनुरोध करता हूँ कि तुम कम से कम दो घंटे रोज़ साहित्य के लिए अवश्य दो।' और यह उन्हीं का अनुरोध था कि मैं फँसे रहने पर भी हिन्दी में कुछ न कुछ लिखता रहा हूँ। नहीं तो शायद अब तक मेरा सम्बन्ध हिन्दी-साहित्य से कभी का टूट गया होता। जहाँ तक मेरा खयाल है, इसी प्रकार प्रेमचन्दजी ने हिन्दी-साहित्य के क्षेत्र में दर्जनों नवयुवकों का प्रवेश कराया और उन्हें वहाँ जमाया। यह भी हिन्दी के लिए उनकी एक बड़ी भारी सेवा थी।

जब से उन्होंने कानपुर का मारवाड़ी विद्यालय छोड़ा था, तबसे हम दोनों ने एक दूसरे को देखा नहीं था। इस बात को लगभग १० वर्ष हो गए थे। मैं सुन रहा था कि किसी फ़िल्म कम्पनी के लिए कहानी लिखने के लिए प्रेमचन्दजी बम्बई आने वाले हैं। इसकी कोई सूचना उन्होंने स्वयं नहीं भेजी थी। एक दिन बड़े तड़के एक महाशय मोटर लेकर मेरे घर आए और कहा कि 'प्रेमचन्दजी आपको बुला रहे हैं।' कुछ विस्मय, कुछ हर्ष और कुछ संकोच के साथ मैं होटल की ओर चल दिया, जहाँ वे ठहरे थे। यह स्पष्ट था कि गाड़ी से उतरकर होटल में सामान रखा ही गया था कि उन्होंने सबसे पहले मुझे ही बुलाया।

दस वर्ष के बाद फिर उनके दर्शन हुए। मुझे उनमें ज़रा भी परिवर्तन दिखाई

न दिया। वही सादगी, वही मुसकराता हुआ मुख-मंडल, वही अट्टहास। समय ने शरीर पर चिह्न अवश्य बना दिए थे। मैं समझता था कि वे मुझे न पहचान सकेंगे, क्योंकि दस वर्ष में मैं बालक से युवक हो गया था और रहन-सहन आदि में बहुत कुछ परिवर्तन हो गया था। परन्तु वे मुझे देखते ही पहचान गए। पाँच छः दिन उनका साथ रहा। मारवाड़ी सम्मेलन तथा कई अन्य संस्थाओं की ओर से उनका स्वागत हुआ। मुझे लगभग सभी सभाओं में शामिल होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था और यह देखकर मुझे अभिमान होता था कि अन्य भाषा-भाषियों के हृदयों में भी उनका कितना सम्मान था।

उन्होंने 'सेवासदन' का फ़िल्म-अधिकार महालक्ष्मी सीनेटोन को दिया था। मैंने जब उनसे इस विषय पर वार्तालाप किया तो मेरा कहना था, 'आप इस सीनेटोन कं० को अपने सब से अधिक लोकप्रिय उपन्यास का अधिकार न दें। क्योंकि मैं नानूभाई वकील आदि को अच्छी तरह जानता हूँ। ये लोग आपकी कृति का सत्यानाश कर डालेंगे।'

कुछ देर तक वे चुप रहे। फिर बड़े दुःख के साथ बोले — 'भाई, तुम तो आर्थिक परिस्थितियों के थपेड़ों से वाक़िफ़ हो!'

मैं चुप हो गया। उनकी बात ठीक थी। साहित्यिक के रूप में उन्होंने क्या कमाया और लोगों ने उनकी क्या क़द्र की? संयुक्तप्रान्त और दिल्ली के धनकुबेरों ने अपने रुपयों से रद्दी-से-रद्दी फ़िल्म ख़रीदकर बम्बई की कम्पनियों को मालामाल कर दिया, परन्तु उनमें से किसी एक ने भी प्रेमचन्दजी की कहानियाँ ख़रीदकर फ़िल्म न बनायी। बम्बई में गुजराती और मराठी कम्पनियाँ बहुधा अपनी भाषा के लेखकों से कहानियाँ लिखवाकर हिन्दी में अनुवाद करा लेती हैं। लेकिन हिन्दी-भाषा-भाषियों में अपनी भाषा के लिए वह स्वाभिमान कहाँ?

लोगों ने प्रेमचन्दजी की कड़ी आलोचना की थी, उस फ़िल्म के लिए, जिसमें उनका हाथ बहुत कम था। उन्होंने केवल अपने उपन्यास का अधिकार बेचा था। दुर्भाग्य से उन्हें ऐसा डाइरेक्टर और सीनेरियो लेखक मिला, जो साहित्य से बिल्कुल ही कोरा है। ऐसी हीरोइन मिली, जो सुमन का पार्ट करने के लिए नितान्त अयोग्य थी।

कुछ दिनों के बाद प्रेमचन्दजी अजण्टा कम्पनी में स्थायी रूप से आ गये और मेरे घर के पास ही रहने लगे। उस एक वर्ष में हम में बिल्कुल घर की-सी बात हो गई। इसके लिए, मैं यह कहे बिना नहीं रह सकता कि, माता शिवरानी देवी का स्नेहमय व्यवहार ही अधिक स्पष्ट था। इन्हीं दिनों में साहित्य-सम्बन्धी अनेक विषयों पर हममें ख़ूब खुलकर वार्तालाप हुआ, इन्हीं दिनों में हम लोगों ने भारत के प्रान्तीय साहित्य की एकता की स्कीम बनाई। उन्होंने 'हंस' को नया स्वरूप दिया और मैंने 'भारत का कहानी साहित्य' प्रकाशित किया।

बम्बई छोड़ने के बाद वे कुछ दिनों के लिए फिर यहाँ आये थे। वही हमारा अन्तिम मिलन था। सैकड़ों साहित्यिकों ने उनके साथ रहने, उनकी बातें सुनने और उनकी मैत्री प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त किया। मेरा उनसे झगड़ा भी हुआ। उनके प्रेस में छपने के लिए मैंने एक पुस्तक भेजी थी। दो महीने का वायदा था और छः महीने में भी वह पूरा न हुआ। काफ़ी पत्र-व्यवहार हुआ और कटु शब्दों का परिवर्तन। अन्त में मैंने वह अधूरी पुस्तक वापस मँगा ली। जब सारा झगड़ा समाप्त हो गया, तो उन्होंने मुझे एक व्यक्तिगत पत्र लिखा। वह उनका आखिरी लम्बा पत्र था इसके बाद एक और पत्र मुझे मिला था, परन्तु उसमें थोड़ी-सी लाइनें ही थीं। उस पत्र में उन्होंने लिखा था, 'इस देरी में मेरा कोई अपराध नहीं था। बात यह है कि प्रबन्ध में मैं बहुत कच्चा हूँ और दुर्भाग्य से इस कारण मेरे अपनों को ही दुःख अधिक पहुँचा है, प्रेस में से लोग रुपया खा गये हैं। तुम यहाँ आकर अगर देख सको तो मेरी मुश्किलों को समझोगे। शायद हम लोगों की क़िस्मत में कटु शब्द बदलना लिखा था। ख़ैर, अब हमारा व्यक्तिगत सम्बन्ध और भी सुदृढ़ होगा। जब हम मिलेंगे, तो यह धब्बा मिट जायगा।

धब्बा तो उनके पत्र से ही मिट गया था, परन्तु उनके दर्शन फिर न हो सके। मुझे इस बात की जीवन भर टीस रहेगी कि उस झगड़े के बाद हम एक बार भी न मिल सके। बम्बई के मारवाड़ी सम्मेलन ने प्रेमचन्द-दिवस के लिए जो सभा बुलाई थी, उसके सभापति के पद के आसन पर जब मैं बैठा तो मुझे दुःख से यह याद आ गई कि उसी सम्मेलन की सभा में उनका स्वागत हुआ था और फिर उसी सम्मेलन की सभा में उनको हम सदा के लिए बिदाई दे रहे हैं।

प्रेमचन्द सैकड़ों को स्नेह करते थे; उन्हें भी लाखों प्रेम करते थे। उनका बहुत कुछ खो गया है। जिस साहित्य को उन्होंने बनाया, उसका और माता शिवरानी का तो सर्वस्व ही खो गया है। परन्तु मुझ जैसे व्यक्ति भी रोकर यह कह रहे हैं — 'मेरा भी कुछ खो गया है!'

●

१७ | धीरेन्द्र वर्मा

आधुनिक हिन्दी साहित्य की प्रगति कुछ दिनों डाँवाडोल रहकर बीसवीं शताब्दी में पहुँचकर कुछ-कुछ स्थिर हो सकी। किन्तु इस शताब्दी में भी यूरोपीय महायुद्ध के पहले तक संस्कृत, अँग्रेज़ी और बँगला की छाप अपने साहित्य पर पर्याप्त रही। ये प्रभाव या तो साक्षात् अनुवादों के रूप में मिलते हैं या आधारभूत अथवा प्रभावित हिन्दी रचनाओं के रूप में। उधर यूरोप में महायुद्ध हो रहा था और इधर हिन्दी साहित्य अपने पैरों पर खड़ा होना सीख रहा था। आधुनिक हिन्दी साहित्य की भिन्न-भिन्न धाराओं में उपन्यास और कहानी की धारा सबसे प्रथम बाहरी प्रभाव हटाने में सफल हुई और इस नवयुग में अपने साहित्य को ले जाने का मुख्य श्रेय स्वर्गीय प्रेमचन्द जी को प्राप्त है।

प्रेमचन्द जी हिन्दी के प्रथम सर्वोत्कृष्ट मौलिक लेखक थे। उन्होंने हिन्दी पाठकों की अभिरुचि को चन्द्रकान्ता के गर्त्त से निकालकर सुदृढ़ साहित्यिक नींव पर स्थिर किया। बंकिम बाबू के अथवा अँग्रेज़ी उपन्यासों के अनुवादों की माँग को तो उन्होंने बिल्कुल ही रोक दिया। हिन्दी साहित्य के इस विशेष क्षेत्र में कादम्बरी या हितोपदेश के अनुवादों का लोकप्रिय होना तो सम्भव ही न था। इसके अतिरिक्त प्रेमचन्द जी ने समाज के असाधारण वर्गों की ओर से दृष्टि को हटवा कर मध्यम तथा निचली श्रेणी के लोगों की नित्यप्रति की समस्याओं की ओर हिन्दी पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया। किसान, मजदूर, क्लर्क दूकानदार और ज़मींदार, साहूकार, सरकारी अफ़सर और पूंजीपतियों से संघर्ष जैसे जीवित रूप में प्रेमचन्द जी ने चित्रित किया है, वैसा उनके पहले हिन्दी साहित्य में कभी नहीं हुआ था। वास्तव में प्रेमचन्द जी साम्यवाद के संदेशवाहक थे। उन्होंने इन विचारों की नींव निश्चित रूप से डाल दी।

शैलीकार की दृष्टि से भी प्रेमचन्द जी का स्थान हिन्दी साहित्य में असाधारण है। वह सरल, सुबोध, मुहावरेदार, सजीव गद्य-शैली का अभ्यास उर्दू लेखक के

रूप में पहले ही कर चुके थे। अपने इस अभ्यास को वह अपने साथ ही हिन्दी के क्षेत्र में लेते आये। हिन्दी शैली की सबसे बड़ी त्रुटि यह है कि वह प्रायः नुकीली और खुरदरी है। अभी वह काफ़ी मँज नहीं पाई है। मुहावरों से तो लोगों को जैसे चिढ़-सी है। बोलचाल की भाषा को यथासंभव बचाने का उद्योग किया जाता है। प्रसाद-गुण की रक्षा की ओर भी साधारणतया जितना ध्यान देना चाहिए उतना नहीं दिया जाता। इन त्रुटियों का प्रधान कारण यह है कि हिन्दी गद्य जितना लिखा जाना चाहिए उतना अभी लिखा नहीं गया है। वह अभी संस्कृत तथा परिमार्जित नहीं हो पाया है। शब्दों के प्रयोगों के चारों ओर अभी इतिहास नहीं इकट्ठा हो पाया है। इन बाधाओं के रहने पर भी प्रेमचन्द जी ने अपना रास्ता निकाला और दूसरों को उस पर चलने के लिये आमंत्रित किया।

किसी भी लेखक या कवि के प्रभाव का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि वह लोक-प्रिय हो और उसके आलोचक तक जान में या अनजान में उसका अनुकरण करने लगें। यदि इस कसौटी में कुछ भी तथ्य है तो प्रेमचन्द जी निःसंदेह आधुनिक हिन्दी साहित्य की अपनी धारा के सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि तथा प्रमुख लेखक थे और मुझे तो सन्देह है कि हमारे साहित्य की अन्य धाराओं में भी उनसे आगे बढ़ा हुआ कोई प्रतिनिधि लेखक अभी तक पैदा ही सका है। जिस तरह हरिश्चन्द्र उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में साहित्याकाश को चमका गये उसी तरह प्रेमचन्द बीसवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध को चमका कर चले गये। दोनों ही चन्द्र हिन्दी साहित्याकाश की अमर निधियाँ हैं।

●

धीरेन्द्र वर्मा

१८ | नन्द दुलारे बाजपेयी

[५ फरवरी १९५९ ई० को (भोपाल-इन्दौर) आकाशवाणी केन्द्रों से प्रसारित ।]

मँझोला कद, दुर्बल देह, गेहुँआ किन्तु झमाया हुआ रंग, गोर्की टाइप मूछें, दृढ़ मुख-मुद्रा, बेसँवारे बाल, खुला सिर, खद्दर का कुर्त्ता, थोड़ी ऊँची धोती और चप्पल, आयु लगभग ४५ वर्ष। प्रेमचन्द को मैंने काशी में सन् '२८ के आस-पास पहले पहल देखा था। उस समय मैं एम० ए० का विद्यार्थी ही था। मुझे स्मरण है, कि लाला भगवानदीन विद्यालय में कोई सभा थी। मैं स्वयं एक श्रोता था। प्रेमचन्द जी भाषण कर्त्ताओं में से एक थे। अपना परिचय आप ही देने पर उन्होंने हाथ मिलाने की मुद्रा प्रकट की। उस समय हाथ मिलाना मेरे लिये संभव न था, मैं विद्यार्थी जो था। मैंने नमस्कार किया, परन्तु प्रेमचन्द जी ने हाथ पकड़ ही तो लिया और उसे किंचित झकझोरते हुए मिले। इस प्रकार का व्यवहार पहला ही था। अपने से बड़ों से मिलते हुए हाथ मिलाने की क्रिया मुझे अपरिचित थी और हाथ झकझोरने का अनुभव भी कुछ कम नया न था। यह प्रेमचन्द जी से प्रथम मिलने की स्मृति रह गयी है।

उस दिन की सभा में प्रेमचन्द जी का भाषण भी हुआ था। क्या विषय था और क्या बोले थे, यह स्मरण नहीं; पर एक याद अवश्य रह गई है। किसी भी साहित्यिक शब्दावली का प्रयोग उन्होंने नहीं किया। ऐसे बोले जैसे कोई सामाजिक या राजनीतिक कार्यकर्ता देश और समाज के सम्बन्ध में बोलता है। अंतर यह था कि उनकी वाणी में विनम्रता थी, जोश पैदा करने का कोई लक्ष्य न था। कदाचित् वे साहित्यकार के कर्त्तव्य पर बोल रहे थे। उस समय उस भाषण का प्रभाव कुछ ऐसा पड़ा जो विश्वविद्यालयों के अध्यापकों की साहित्यिक चर्चा से भिन्न प्रकार का था। यह प्रतीत हुआ कि साहित्य के सम्बन्ध में दो पक्ष हो सकते हैं एक वह जो विश्वविद्यालयों में पढ़ाया जाता है और दूसरा वह जिसका बहुत सरल शब्दों में प्रेमचन्द जी ने निरूपण किया था।

प्रेमचन्द जी से भेंट दो चार महीने में एक बार हो जाती थी, पर उनके घर में

बहुत दिनों तक नहीं गया। १९२९ में "माधुरी" के संपादक होकर लखनऊ चले गए थे। एम० ए० पास करने के एक ही वर्ष पश्चात् सन् '३० में मैं प्रयाग से प्रकाशित होने वाले "भारत" का संपादक बनकर प्रयाग पहुँच गया था। प्रयाग में सुना कि प्रेमचन्द जी की पत्नी सत्याग्रह आन्दोलन में जेल चली गई हैं और वे भी जेल जाने की तैयारी में हैं। फिर यह भी सुना आर्थिक परिस्थितियों के कारण उन्होंने अपना जेल जाना स्थगित कर दिया है। परिवार में एक ही अर्थोपार्जन करनेवाले व्यक्ति वे थे, अन्यथा उन्हें जेल जाने से शायद ही कोई रोक सकता।

इसी समय मैं हिन्दी के कवियों और साहित्यिकों पर एक लेख-माला लिख रहा था। प्रसाद, निराला, पंत, मैथिलीशरण गुप्त आदि पर लिख चुका था। प्रेमचन्द पर सन् १९३१ में मेरा लेख "भारत" में ही प्रकाशित हुआ। मुझे स्मरण है कि उस लेख में वह धारावाहिक प्रशंसा नहीं थी जो प्रेमचन्द जी को तब तक मिल रही थी। उसमें कुछ कड़ाई से उनका मूल्यांकन किया गया था। परन्तु प्रेमचन्द जी का पत्र पाकर मैं आश्चर्य चकित हो गया। उन्होंने लिखा था — तारीफ तो बहुत से लोग करते हैं पर कमियों को दिखाने वाले नहीं मिलते। आपका मैं शुक्रगुजार हूँ, आपने कई मानों में मेरा उपकार किया। मैं ऐसी प्रतिक्रिया का अनुमान भी नहीं कर सकता था। प्रेमचन्द जी के बड़प्पन की छाप उस समय भी मुझ पर पड़ी।

काशी में "हंस" नामक पत्र प्रकाशित होने लगा था। प्रेमचन्द जी उसके भी सम्पादक थे। "हंस" का आत्मचरित्र विशेषांक प्रकाशित होनेवाला था। श्री प्रवासीलाल वर्मा का पत्र मुझे मिला, जो उन दिनों 'हंस' के व्यवस्थापक थे उन्होंने मेरा आत्मचरित्र माँगा था। मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। उस समय तक आत्मचरित्र से मैं असाधारण महापुरुषों के चरित्र का ही आशय लिया करता था। श्री प्रवासीलाल जी के पत्र से ज्ञात हुआ कि वे बहुत से नवयुवक साहित्यिकों के आत्मचरित्र भी 'हंस' के लिए माँग रहे थे। मुझे यह बात बहुत खटकी और मैंने उनके प्रस्ताव का विरोध करते हुए पत्र लिखा। इस विषय को लेकर एक लेखमाला "भारत" और "जागरण" पत्रों में प्रकाशित हुई। मेरा दृष्टिकोण यह था, कि आत्मचरित्र लिखने के लिये वस्तुतः आदर्श और ऊँचे चरित्र वाले व्यक्तियों को ही आगे बढ़ना चाहिये। इसका उत्तर देते हुए प्रेमचन्द जी ने जागरण में लिखा कि प्रत्येक मनुष्य के कुछ अनुभव होते हैं और वह उन्हें लिपिबद्ध करता है। उन अनुभवों से पढ़ने वालों को लाभ ही होता है। अतएव आत्म चरित्र लिखने के सभी अधिकारी हैं। आज तो मुझे स्पष्ट है कि यह दृष्टिकोण का ही अंतर था। पर उस समय मेरा दृढ़ मन था प्रेमचन्द जी गलती पर हैं और उसी स्तर पर मेरा लेख भी लिखा गया था। परन्तु जब उत्तर प्रत्युत्तर समाप्त हुआ और प्रेमचन्द जी की इस विषय की अंतिम .... पंक्तियाँ मैंने पढ़ीं तब मैं फिर से आश्चर्यान्वित हुआ। उन्होंने लिखा था, "अब गुस्सा थूक दीजिए। आपने बिगड़कर मन को शांत कर लिया। आइए हाथ मिला लें।"

इस घटना के पश्चात् मैं प्रेमचन्द जी को क्रमशः नजदीक से समझने लगा और उनसे मिलने के अवसर भी अधिक आने लगे। १९३३ में मैं प्रयाग छोड़कर काशी आ गया और "सूर सागर" का सम्पादन करने लगा। तब से लेकर प्रेमचन्द जी के जीवन के अंत समय तक उनसे अनेक बार भेंट हुई। कई बार हंस कार्यालय में, कई बार नागरी प्रचारिणी सभा में और एक आध बार उनके घर पर। "हंस" कार्यालय में जब जब गया प्रेमचन्द जी को कार्य व्यस्त ही पाया। कभी किसी निबन्ध को पूरा करते, कभी कोई कहानी लिखते कौर कभी कोई पत्र। घर पर वे प्रायः साहित्यिक चर्चा करते थे। एक दिन का स्मरण है मैंने उनसे पूंछा कि आप जैनेन्द्र के लेखन की इतनी प्रशंसा क्यों करते हैं जब कि आपके साहित्य सम्बन्धी विचारों और आदर्शों से वे इतने भिन्न हैं। उन्होंने कहा — जैनेन्द्र यदि अपने रहस्यवाद को छोड़ दें तो वे मेरे लेखन के बहुत कुछ समीप आ जायें, उनके भीतर मनुष्य के प्रति एक गहरी समवेदना है और यही समवेदना मुझे आकृष्ट करती है। इसी प्रकार जब प्रसाद जी का 'कंकाल' उपन्यास प्रकाशित हुआ तब प्रेमचन्द जी ने जो पत्र लिखा था उससे उनके हृदय की तलस्पर्शी सरलता का पता लगता है। वास्तव में प्रेमचन्द और प्रसाद के बीच कभी सौहार्द नहीं रहा। दोनों की लेखन-प्रणाली बिलकुल भिन्न थी। दोनों के साहित्यिक-आदर्श, पृथक थे। प्रसाद सम्पूर्ण भारतीय साहित्य और पश्चिमी साहित्य को भी एक ईकाई मानकर अपनी साहित्य सम्बन्धी रचना की प्रेरणा प्राप्त करते थे। प्रेमचन्द जी समाज के वैषम्य से उत्पीड़ित मनुष्य की वकालत करना ही साहित्य का प्रधान ध्येय मानते थे। लक्ष्य की इस भिन्नता के कारण दोनों में बात-चीत के बहुत थोड़े अवसर आते थे; किन्तु "कंकाल" के प्रकाशन के पश्चात् दोनों में गहरी आत्मीयता हो गई और जीवन के पिछले वर्षों में दोनों ही नित्य बेनिया-बाग़ के हाते में प्रायः रोज ही एक साथ घूमते और बातें करते दिखाई पड़ते थे। उस समय दोनों का ही स्वास्थ्य ढलता जा रहा था और कभी-कभी तो दूर से देखने पर दोनों सगे भाई से दिखाई देते थे।

प्रेमचन्द जी के अन्तिम दिनों की एक मर्मपूर्ण घटना स्मृति में अब भी बहुत ताजी है। प्रेमचन्द जी असाध्य रोग, जलोदर, से ग्रस्त होकर जगतगंज के अपने घर पर लेटे हुए थे। अपरान्ह के प्रायः चार बजे होंगे। उनकी पत्नी शिवरानी जी उनके पास आती जाती रहती थीं। मैं उनके सिरहाने बैठा उन्हें आश्वासन दे रहा था। इसी समय हकीम जी आ गये जो उन दिनों उनकी चिकित्सा करते थे। मुझे ऐसा जान पड़ा कि प्रेमचन्द जो को अब जीवन की आशा नहीं रह गयी है, परन्तु हकीम जी से उन्होंने जिस विनोद के साथ बातचीत आरम्भ की उसे देखकर मुझे आश्चर्य हुआ। मैंने स्पष्ट देखा — कि प्रेमचन्द जी एक ओर इस लोक को छोड़ने का निश्चय कर चुके हैं और दूसरी ओर इस लोक से जितना लेते बने, ले लेने का भी निश्चय किए हुए हैं। मैंने देखा कि हकीम जी से बातें करते-करते ठहाका लगाने की

स्थिति आ गई। उन्होंने हकीम जी से कुछ इस प्रकार कहा — खाँ साहब, आपकी बड़ी इनायत है, अब दवा देना बन्द कर दीजिये अन्तिम घड़ी नज़दीक आ गई है, अब तो आप भी विश्राम कीजिए और मुझे भी विश्राम करने दीजिए। थोड़े दिनों के लिए इतना पचड़ा क्यों? और जब हकीम जी अपनी औषधि के गुणों का वर्णन करने लगे तो प्रेमचन्द जी मेरी ओर दृष्टिपात कर ठहाका मारकर हँस पड़े। इस दृश्य में उनके जीवन और प्रकृति के बहुत से मूल्यवान तत्व उभर कर सामने आ गये।

●

१६ | प्यारेलाल शाकिर

मुंशी प्रेमचन्द से मेरी पहली मुलाकात कानपुर रेलवे स्टेशन पर सन् १६०७ ई० में हुई थी। मैं बन्नू (सूबाए सरहद) से मुंशी दयानरायन निगम के बुलाने पर कानपुर आ रहा था और वह मेरे स्वागत को स्टेशन पर आये थे। गाड़ी से उतरते ही मैं तो सामान उतरवाने की ग़रज़ से ब्रेक की तरफ चल दिया और मेरी बीवी-बच्चे एक तरफ प्लेटफार्म पर खड़े होकर मेरा इन्तज़ार करने लगे। मुंशी साहब इधर-उधर नज़र मारते हुए वहीं आ निकले और मेरी बीवी से बच्चों के पिता का नाम पूछा। जब उन्हें मालूम हुआ कि वह मेरे ही बच्चे हैं तो बड़े तपाक से मिले और हँस-हँस कर बातें करने लगे। थोड़ी देर के बाद मैं आया तो मेरी बीवी ने उनका परिचय कराया कि आप मुंशी नवाब राय हैं। कुछ देर तो प्लेटफार्म ही पर बातें होती रहीं, उसके बाद बाहर निकल कर गाड़ी पर सवार हुए। स्टेशन से नया चौक काफी दूर है लेकिन मुंशी प्रेमचन्द की वजह से दूरी ज़रा भी महसूस न हुई। वह रास्ते भर बेतकल्लुफी से बातें करते रहे, गोया बहुत पुराने मिलनेवाले हैं।

उस ज़माने में मुंशी प्रेमचन्द नवाब राय के नाम से लिखते थे और सिर्फ 'ज़माना' के लिए लिखते थे। लिखने का उन्हें कुछ ज्यादा शौक न था लेकिन चूँकि मुंशी दयानरायन निगम से उनके खास ताल्लुकात थे इसलिए जो कुछ लिखते थे वह 'ज़माना' के लिए होता था। पहले-पहल मैंने उनके लेख 'ज़माना' ही में देखे थे, और मैं उनके कलम के ज़ोर और प्रौढ़ दृष्टि का कायल था।

मेरे कानपुर आने से बरस डेढ़ बरस पहले उनका पहला उपन्यास 'हम खुरमाओ हम सवाब' लखनऊ से प्रकाशित हुआ था। जहाँ तक मुझे याद है मैंने उसको सन् १६०७ ई० में बन्नू ही में पढ़ा था और कुछ विशेषताओं के कारण उसको पसन्द भी किया था। कानपुर आने के बाद एक दिन जब मैंने उसकी चर्चा की तो वह क़ह-क़हा मार कर हँसने लगे। मुझे सख्त ताज्जुब हुआ। एक बार मैंने सोचा कि कहीं मेरे समझने में गलती तो नहीं हुई है मगर उन्होंने खुद ही मेरी उलझन को दूर कर

दिया और इस उपन्यास की रचना का उद्देश्य और लक्ष्य बतलाया। उन्हें खुद भी यह उपन्यास पसन्द था। उसके बाद उन्होंने इसको हिन्दी में तर्जुमा किया और इसका नाम 'प्रेमा' रखा। हिन्दी ज़बान में यह उनकी पहली किताब थी। इसके बाद मेरे कानपुर रहने के जमाने में उनकी दो किताबें और प्रकाशित हुईं। यानी 'कृष्णा' सन् १९०८ ई० में बनारस से और 'सोज़े वतन' सन् १९०९ ई० में कानपुर से। मेरे इलाहाबाद चले आने के बाद उनका एक और उपन्यास 'जलवये ईसार' के नाम से सन् १९१२ ई० में इलाहाबाद से प्रकाशित हुआ। इस वक्त तक जो कुछ उन्होंने लिखा नवाब राय के नाम से लिखा मगर नवाब राय को अदबी दुनिया में कोई खास पोज़ीशन हासिल न थी।

'सोज़े वतन' एक छोटी-सी किताब थी जिसमें पाँच छः कहानियाँ थीं और कीमत भी चार-पाँच आने से ज़्यादा न थी, लेकिन यही वह किताब है जिसने उन्हें प्रेमचन्द बना दिया। यह कहानियाँ जैसा कि किताब के नाम से ज़ाहिर है देश प्रेम और देश सेवा की भावना से अनुप्राणित थीं और आम तौर पर उनको बहुत पसन्द किया गया था। मुन्शी साहब का ताल्लुक तालीम के महकमे से था। 'सोज़े वतन' पर न सिर्फ एतराज़ हुआ बल्कि नौकरी तक के लाले पड़ गये। खुदा खुदा करके वह बला टल गयी और उसी के साथ मुन्शी जी की भी कायापलट हो गयी।

नवाब राय के बजाय अब उन्होंने अपने अफसानों के लिए प्रेमचन्द नाम अख्तियार किया। प्रेमचन्द के नाम से शुरू में तमाम अफसाने 'ज़माना' ही में छपे। कुछ अरसे बाद दो-चार अफसाने 'हमदर्द' देहली में भी शाया हुए। मैं उस ज़माने में 'अदीब' इलाहाबाद का एडीटर था। उनके अफसाने नवाब राय के नाम से 'अदीब' में भी शाया होते रहते थे। मैंने एक बार लिखा कि 'अदीब' के लिए जो अफसाने आप भेजते हैं उनमें अपना नाम प्रेमचन्द क्यों नहीं लिखते। उन्होंने जवाब दिया कि मैं मुन्शी दयानरायन निगम से वादा कर चुका हूँ कि प्रेमचन्द के नाम से किसी और परचे में न लिखूंगा। बिला वजह उनका दिल दुखाना मुझे मंजूर नहीं।

सन् १९१० या सन् १९११ का जिक्र है, मुन्शी साहब उस ज़माने में डिप्टी इंसपेक्टर स्कूल थे और हमीरपुर में रहते थे। किसी ख़ास जरूरत से मुझे कानपुर जाना पड़ा। इत्तिफ़ाक़ से बाज़ार में मुन्शी प्रेमचन्द से मुलाकात हो गयी। एक घण्टे तक साथ रहा। इसी एक घण्टे में दुनिया भर की बातें हो गयीं। मैंने 'सोज़े वतन' के बारे में कैफ़ियत दारियाफ्त की तो कहा 'क्या कहूँ बड़ी मुश्किल में फँस गया था, वह तो खैरियत गुजारी कि किताबें देकर पीछा छूट गया वर्ना जान पर आ बनी थी, इसके बाद 'जान बची लाखों पाये' — कहकर बड़े ज़ोर का क़हक़हा लगाया। फिर कहने लगे कि 'जानते हो वह बला कैसे नाज़िल हुई ?' मैंने कहा कि नहीं तो फिर एक क़हक़हा लगाया और इसके बाद फ़रमाया — 'मुन्शी दयानरायन निगम के यहाँ से पहली किताब

'सोज़े वतन' शाया हुई थी। मालूम नहीं क्या वजह हुई कि किताब पर मुद्रक और प्रकाशक का नाम नहीं छपा। ज़ाहिर है कि ऐसी गलती जान-बूझकर नहीं हुआ करती मगर सुनता कौन हैं, जाँच-पड़ताल हुई तो इसी सिलसिले में मेरा नाम भी खुल गया। खुद ही सोचो, एक सरकारी मुलाजिम और 'सोज़े वतन' जैसी बाग़ी किताब का लेखक ! तौबा तौबा ! वह तो अच्छा हुआ कि किताबों पर बला टल गयी वर्ना क्या अजब था कि माण्डले की हवा खानी पड़ती।' इतना कहकर फिर ऐसा जोर का क़हक़हा लगाया कि बज़ार वाले भी हक्का-बक्का हो गये।

कानपुर में कमोबेश डेढ़-दो साल तक मेरा उनका साथ रहा। क़रीब-क़रीब हर रोज़ मुलाकात होती थी और अपने दुख-दर्द की बात एक-दूसरे से कहते थे। उनके स्वभाव में असीम नम्रता और दया थी। अगरचे खुद भी कुछ खुशहाल न थे, तो भी दूसरों की तकलीफ का इस क़दर एहसास था कि फ़ौरन मदद को तैयार हो जाते थे। बनावट से उनको नफरत थी और साफ़दिली व साफ़गोई उनका प्रधान गुण। हद दर्जा ज़िन्दादिल, और हँसने-हँसानेवाले आदमी थे। हमेशा क़ह-क़हा मारकर हँसते थे और इस ज़ोर से हँसते थे कि देखनेवाले को भी हँसी आ जाती थी। एक दफा का जिक्र है कि मुन्शी दयानरायन निगम के यहाँ कुछ खास दोस्त जमा थे। मुन्शी नौबत राय नज़र, मुन्शी प्रेमचन्द और इन पंक्तियों का लेखक भी मौज़ूद था। करीब ही किसी छत पर ग्रामोफोन में बर्ट शेपर्ड का मशहूर लाफ़िंग सांग I Sat in a Corner बजने लगा। कुछ देर तो मुन्शी प्रेमचन्द खामोश रहे, फिर यह कहकर कि लीजिए मैं भी इसके क़हक़हे में इसका साथ देता हूँ क़हक़हा मारने लगे।

❀ ❀ ❀

मुन्शी प्रेमचन्द को अध्ययन का व्यसन था। शायद ही कोई विषय ऐसा हो जिस पर एकाध किताब उनकी नज़र से न गुज़री हो। उसके साथ ही स्मरण शक्ति बहुत अच्छी थी। किस्सा-कहानी की किताबें पढ़ना और उनको याद रखना तो कोई बड़ी बात नहीं लेकिन मुन्शी प्रेमचन्द शिक्षा और राजनीति-विषयक पुस्तकों और पत्र-पत्रिकाओं की महत्वपूर्ण बातों को इस तरह दुहरा दिया करते थे गोया पढ़कर सुना रहे हैं। राजनीतिक मामलों में उनका दिमाग़ खूब काम करता था। रिसाले 'ज़माना' में महत्वपूर्ण राजनीतिक घटनाओं पर हर महीने एक समीक्षा 'रफ्तारे 'ज़माना' के शीर्षक से प्रकाशित हुआ करती थी। यह समीक्षा 'ज़माना' की एक विशेषता थी और लोग उसे बड़े ध्यान और बड़ी रुचि से पढ़ते थे। सन् १९०७-८ की कुछ समीक्षाओं का बड़ा हिस्सा मुन्शी प्रेमचन्द ही लिखते थे। उन्होंने कुछ किताबों पर समालोचनाएँ भी लिखीं और वह समालोचनाएँ 'ज़माना' की सबसे अच्छी समालोचनाओं में शुमार की जा सकती हैं।

सन् १९०८ ई० के मध्य इण्डियन प्रेस इलाहाबाद के मालिक स्वर्गीय बाबू चिन्ता-

मणि घोष ने उन्हें बुलाया था। बातचीत करके कानपुर पहुँचे तो मालूम हुआ कि इण्डियन प्रेस एक उर्दू रिसाला जारी करना चाहता है जिसकी एडीटरी के लिए उसकी नज़र मुन्शी नवाब राय पर है। शर्तें वगैरह भी तय हो गयी थीं मगर उनके दोस्तों ने राय दी कि नौकरी छोड़कर इलाहाबाद जाना ठीक नहीं, बल्कि एक साल की छुट्टी ले लो। इस बीच पर्चा चल गया तो रहना वर्ना आकर फिर अपनी जगह सम्हाल लेना। यह सलाह मुन्शी प्रेमचन्द को पसन्द आयी। पत्र का नाम उन्होंने 'फ़िरदौस' तजबीज किया था और उसके लिए बहुत से लेख भी इधर-उधर से मंगा लिये थे लेकिन किन्हीं कारणों से वह योजना स्थगित हो गयी।

पाँच-छः बरस तक मेरा मुन्शी प्रेमचन्द से बाकायदा खतो किताबत का सिलसिला भी क़ायम रहा। उनकी तरह उनके खुतूत भी बहुत साफ होते थे। कानपुर में एक दफा वह मेरे यहाँ से एक किताब (कमिंग रेस) ले गये थे। किताब पढ़ी तो उन्हें बहुत पसन्द आयी, कहने लगे कि जी चाहता है इसका तर्जुमा कर डालूं। मैंने जवाब दिया, इसका उर्दू तर्जुमा लाहौर में हो चुका है और 'आने वाली कौम' के नाम से 'तरक्की' में धारावाहिक प्रकाशित हो चुका है और बहुत जल्द किताबी सूरत में भी आ जायगा। यह सुनकर फरमाया कि फिर मैं हिन्दी में अनुवाद किये देता हूँ। उन्होंने अनुवाद किया और 'पाताल लोक की सैर' नाम रखा। एक बार मैंने लखनऊ से खत लिखा तो इस तर्जुमे के मुताल्लिक भी दरियाफ्त किया कि उसका क्या हश्र हुआ। जवाब दिया कि अमुक प्रकाशक पाण्डुलिपि को ऐसा हज़म कर गया कि डकार तक न ली। पुस्तकों और पुस्तक विक्रेताओं की ज़ात से उन्हें हमेशा नुकसान पहुँचता रहा। लखनऊ और देहली में जब उनसे मुलाकात हुई तो उन्होंने उन्हीं लोगों का रोना रोया और नाम ले लेकर बताया कि फ़लां इतनी रकम दबाये बैठा है और फ़लां इतना रुपया हज़म करने पर तुला हुआ है।

उनका मशहूर नावेल 'बाज़ारे हुस्न' शाया हुआ तो चन्द माह बाद मैंने उसके मुताल्लिक उन्हें अपनी राय लिखी, जिसके लिए वह कई बार तक़ाज़ा कर चुके थे। मैंने उसी खत में यह भी लिखा था कि बाज़ लोगों का खयाल है कि आपने — 'वैनिटी फ़ेयर' का चरबा उतारा है, क्या यह ठीक है? उन्होंने जवाब दिया कि न मैंने चरबा उतारा न उसकी नक़ल की लेकिन यह दुरुस्त है कि उसको पढ़ने के बाद ही मुझे इसके लिखने का खयाल पैदा हुआ। भावना एक हद तक मिलती-जुलती है, लेकिन दोनों की राहें अलग-अलग हैं।

❀ ❀ ❀

जब मुंशी प्रेमचन्द बम्बई जाने की तैयारियाँ कर रहे थे तो मैंने उन्हें मशविरा दिया कि दूर के ढोल सुहावने ज़रूर होते हैं लेकिन अच्छा यही है कि इस इरादे से बाज़ रहिए वर्ना अपनी मिट्टी पलीद कीजिएगा। मैंने फ़िल्मी दुनिया के अन्दरूनी हालात उन पर ज़ाहिर किये और बताया कि डायरेक्टरों से किसी भलेमानस की पट

नहीं सकती। उन्होंने जवाब दिया कि सब कुछ तय हो चुका है, अब तो जाना ही पड़ेगा। कुछ और न सही तो इसी बहाने बम्बई की सैर हो जायगी।

* * *

मैं किसी निजी काम से एक दिन बनारस गया और उसी रात की गाड़ी से वापस चला आया। किसी ज़रिये से मुंशी प्रेमचन्द को पता चल गया कि मैं बनारस आया था। मुझे यह तो मालूम था कि उनकी तबीयत फ़िल्म की रंगीनियों से उचाट हो चुकी है लेकिन यह न जानता था कि वह बम्बई को छोड़ चुके हैं। उन्होंने शिकायत की कि आप से यह उम्मीद न थी कि बनारस आयें और मुलाकात किये बग़ैर चले जायें। फ़िल्मी दुनिया के बारे में लिखा कि बहुत कड़वा अनुभव हुआ। ऐसी सूरतें पैदा हो गयी थीं कि अलग हो जाने के सिवा और कोई चारा न था।

एक दिन फिरता-फिरता मैं मुंशी प्रेमचन्द के मकान की तरफ जा निकला, सोचा इधर आया हूँ तो उनसे भी मिल लेना चाहिए। ड्योढ़ी में दाखिल हुआ तो उन्हें तख्त पर अजब शान से देखा। पेट की बल औंधे पड़े हैं, दोनों टाँगें घुटनों से ऊपर उठी हुई हैं, सामने एक हिन्दी किताब खुली हुई है, कलम तेज़ी से चल रहा है और कलम की रफ्तार के साथ-साथ टाँगें भी बराबर हिल रही हैं। फ़ौरन खयाल हुआ कि इस वक्त किसी किताब की आलोचना लिखी जा रही है। अन्दर पहुँचते ही मैंने दरियाफ्त किया, कहिए किसकी तवाज़ो हो रही है ? हँसकर जवाब दिया, 'तवाज़ो तो किसी की नहीं हो रही, आज ज़रा रूठी रानी को मना रहा हूँ।' 'रूठी रानी' हिन्दी की एक छोटी-सी किताब थी जो उन्हीं दिनों प्रकाशित हुई थी। उसी को उन्होंने उर्दू में लिखा था और फिर वह किस्सा 'ज़माना' में क्रमशः प्रकाशित हुआ। मुंशी प्रेमचन्द को इसके बाद भी कई बार मैंने इसी शान से लिखते देखा; मेज़-कुर्सी पर बैठ कर लिखने का उन्हें बहुत कम इत्तिफ़ाक होता था। यह उनकी अदा थी जिसको ज़िन्दगी भर उन्होंने निबाहा।

मुंशी प्रेमचन्द के साथ उनके एक अज़ीज (नाम इस वक्त ज़ेहन से उत्तर गया है) रहते थे। वह एक होनहार नौजवान थे। लिखने-पढ़ने का शौक था। मुंशी प्रेमचन्द को उनका बड़ा सहारा था। उन्हीं की मौजूदगी ने उन्हें डिप्टी इंसपेक्टर स्कूल बनने की प्रेरणा दी। मुंशी प्रेमचन्द डिप्टी इंसपेक्टर होकर कानपुर से चले गये। उन्हें अधिकतर दौरे पर रहना पड़ता था। घर की तरफ से किसी क़िस्म की फ़िक्र न थी लेकिन उनकी यह बेफ़िक्री ज़्यादा दिन क़ायम न रह सकी क्योंकि यह नौजवान अज़ीज़ थोड़े ही दिनों की बीमारी के बाद दुनिया से सिधार गये। इस अकाल मृत्यु का मुंशी प्रेमचन्द को बहुत दुःख हुआ। सन् १९१० ई० में उन्होंने महोबे से लिखा था, 'इस सदमे से कमर टूट गयी, हिम्मत पस्त हो गयी। जिस इंसपेक्टरी को बड़ी आरज़ुओं और तमन्नाओं के बाद हासिल किया था वही अब जी का जंजाल हो रही है। बीबी को तनहा छोड़कर दौरे पर कैसे जाऊँ ....' इसके बाद उन्होंने

दुबारा कोशिश की और मुदर्रिसी पर अपना तबादला करा लिया।

मुंशी प्रेमचन्द के देहान्त से एक-डेढ़ माह पूर्व एक मेहरबान इलाहाबाद तशरीफ लाये थे। उनकी मार्फ़त मुंशी प्रेमचन्द ने पैग़ाम भेजा था कि अगर खुद नहीं आ सकते तो ख़त लिखने में क्या कठिनाई है। एक हफ़्ते के बाद फिर यही पैग़ाम एक और साहब की मार्फ़त मिला। मैंने सोचा कि ख़त लिखने की क्या जरूरत है, अब खुद ही चलकर उनसे मुलाकात करूँगा। कुछ दिन के बाद उनकी बीमारी की खबर सुनी, मगर कौन जानता था कि उनकी यह बीमारी मृत्यु-रोग साबित होगी। अफसोस मैं बनारस तक न जा सका और वह दूसरे लोक को रवाना हो गये।

दुनियाए दुनी का कुछ अजब तौर हुआ
दौरे अजल आह ऐश का दौर हुआ
शाकिर उट्ठो कि उठ गये सब अहबाब
महफ़िल का रंग और से और हुआ।

•

२० | फ़िदा अली खंजर

मुंशी प्रेमचन्द साहब की अकाल मृत्यु पर जितना शोक किया जाय, थोड़ा है। मुंशी साहब हिन्दोस्तान के उन प्रतिभाशाली लेखकों में थे जिनके साहित्यिक कृतित्व का लोहा मानने के लिए उनके शत्रु भी विवश थे। यही एक विशेषता उनको साहित्य की ऊँची-से-ऊँची चोटी पर पहुँचाने को काफी है, मगर प्रकृति ने तो उनके भीतर और भी तमाम खूबियाँ भर दी थीं। उनकी रग-रग में उनकी यह प्रतिभा दौड़ रही थी। उनका जीवन आदि से लेकर अन्त तक उर्दू और हिन्दी भाषा की उन्नति में लगा। और अब जब कि वह अदब के महफिल में मौजूद नहीं हैं तो यहाँ के चप्पे-चप्पे में उनका मातम छाया हुआ है।

सचमुच मुंशी साहब इस ज़माने के सबसे अच्छे कहानीकार थे। उन्होंने अपनी अन्तर्दृष्टि से मानव स्वभाव की जैसी गहरी तसवीरें खींची हैं उसका जवाब न उर्दू साहित्य पेश कर सकता है और न हिन्दी साहित्य। उन्होंने देश प्रेम और अच्छे आचरण की सच्ची शिक्षा दी है। ऊँची और नीची दोनों श्रेणियों की विशेषताओं पर बड़ी सफलता से रोशनी डाली है। उन्होंने बुराइयों का उद्घाटन करने में न किसी के साथ रियायत की है और न किसी से द्वेष दिखलाया है। उन्हें चरित्र-चित्रण में कमाल हासिल था। वह कहानियाँ नहीं लिखते थे बल्कि कहानियों के पर्दे में समाज का सच्चा चित्र प्रस्तुत कर देते थे जो न सिर्फ आत्मा को उल्लास देता था बल्कि सत्यदर्शी आँखों के लिए शिक्षा की सामग्री भी जुटा देता था। प्रकृति ने उन्हें प्रतिभा के साथ-साथ ज़िन्दादिली का रतन प्रदान किया था इसलिए उनकी चीज़ों में एक अजब खुलापन और मिठास पायी जाती है जो उनकी कहानियों को और ज़्यादा रोचक बना देती है। उनका अनुभव व्यापक और दृष्टि सूक्ष्म थी। वह जीवन की समस्याओं को आसानी से समझ लेते थे और उन्हें इस ढंग से बयान करते थे कि सर्व साधारण उसको समझ सकें। शायद यह कहना अत्युक्ति न होगा कि वास्तविकता का चित्रण करने वाली उनकी लेखनी ने मनुष्य के स्वभाव का

कोई पहलू नहीं छोड़ा। मुझे बहुत दिनों से उनका परिचय प्राप्त करने की इच्छा थी और मैं जितना ही ज़्यादा उनके साहित्य को पढ़ता था और उससे आनन्द प्राप्त करता था उतनी ही ज़्यादा मेरी यह इच्छा भी बढ़ती जाती थी। आखिरकार यह मुराद उस वक्त पूरी हुई जब बाबू राधेलाल साहब कपूर जनरल मैनेजर मुंशी नवलकिशोर ने सन् १९२४ में मुझे कलकत्ते से बुलाकर उपन्यासों का विभाग मेरे हवाले किया और मुंशी प्रेमचन्द 'माधुरी' कार्यालय में बुलाये गये।

मुंशी साहब बहुत मिलनसार, हंसमुख और विनयशील आदमी थे। मैंने उन्हें हमेशा मुसकराते हुए पाया। चूंकि मैं पब्लिशिंग डिपार्टमेण्ट में सन् १९२८ तक रहा इसलिए समय-समय पर मुंशी साहब से मिलने का सौभाग्य मुझे प्राप्त होता रहा। जब उन्हें कोई काम न रहता तो पब्लिशिंग डिपार्टमेण्ट में चले आते और अपनी बातों के फूल बिखेरकर हमारे थके हुए दिमाग़ को ताज़ा कर देते। क़लम की तरह उनकी ज़बान में भी ज़ोर था। उनकी बातचीत बहुत सादा, साफ़ और दिलचस्प होती, इतनी कि उसको सुनने का जी चाहता। लेकिन काम का खयाल उन सुहानी सुहबतों को देर तक कायम न रहने देता।

वह पुरानी कहानियों और किस्सों के बेहद प्रेमी थे। अकसर इन पंक्तियों के लेखक से उनकी फरमाइश करते रहते थे। चुनांचे जब कभी उनकी रुचि के अनुकूल कोई छोटी-मोटी किताब मिल जाती तो मैं उसे उनकी खिदमत में पेश कर देता था। वह खुश हो जाते और बड़ी रुचि से उसको पढ़ते। जब वापस करने लगते तो उसके बारे में अपने खयाल ज़ाहिर करते जिस से उनकी आलोचना-बुद्धि का परिचय मिलता।

वह हर रचना पर गहरी नज़र डालने के आदी थे। आजकल जिन लेखों को महत्वहीन समझकर आँखों से ओझल कर दिया जाता है मुंशी साहब हमेशा उनके अध्ययन से बेहतरीन और फायदेमन्द नतीजे निकाल लेते थे। साहित्य की परख और समीक्षा उनका दूसरा स्वभाव बन चुका था। दरअसल वह इतनी ठीक राय कायम करते थे कि किसी को उसमें कुछ कहने की गुंजाइश बाकी न रहती थी। लेकिन आलोचना ही उर्दू साहित्य की वह विधा है जिससे हिन्दोस्तानी भड़कते हैं क्योंकि वह तारीफ के सिवा और कोई बात सुनना पसन्द नहीं करते। ताहम मुंशी साहब का यह कमाल था कि अपनी ज़बानी और लिखी हुई आलोचनाओं में ऐसी अच्छी शैली अपनाते थे जो किसी पर भारी न होती थी। पढ़ने और सुननेवाले उसमें तलखियों के बदले मिठास महसूस करते थे।

जिस ज़माने के बारे में लिख रहा हूँ उन दिनों मैंने उर्दू के अनपढ़ शायरों के बारे में एक लेख लिखना शुरू किया था। कुछ मसाला जमा कर लिया था। एक मर्तबा बातचीत में उसका ज़िक्र आ गया। मुंशी साहब ने सुना तो उसको देखने की इच्छा उनके मन में हुई और उन्होंने तकाज़ा किया कि जितना हिस्सा लिखा जा चुका

है, मुझे दिखाओ। उनके आग्रह से विवश होकर मैंने उसी तरह जगह जगह से कटा-पिटा मसौदा हाज़िर कर दिया। लगभग आठ-दस रोज़ उन्होंने उसे अपने पास रखा। फिर वापस करते वक्त उसके बारे में बहुत उत्साह बढ़ानेवाले विचार व्यक्त किये जिनको दुहराना ज़रूरी नहीं है। साथ ही अपने हस्ताक्षर के साथ कुछ लिखकर देते हुए फरमाया कि इसे अपने लेख के साथ छाप दीजिएगा। यह लिखी हुई चीज़ जो ७ नवम्बर सन् १९२७ को मुझे दी गयी थी अब तक मेरे पास सुरक्षित है और जब कभी मेरे उस लेख के छपने की नौबत आयेगी, तो इनशाअल्लाह मैं उससे अपने लेखक का गौरव बढ़ाऊँगा। चूंकि इस तहरीर में भी मुंशी साहब की आलोचना-बुद्धि पर थोड़ी बहुत रोशनी पड़ती है इस वास्ते उसका कुछ हिस्सा पेश करना चाहता हूँ जिसका संबंध अनपढ़ कवियों से हैं :

'कविता करने की शक्ति एक प्रकार की देन है, उसे तुक और पिंगल शास्त्र का मुंह ताकने की ज़रूरत नहीं। विद्या जहां इस गुण को बेकार की ठूंस-ठाँस से मुक्त कर देती है, दृष्टिपरिधि को विस्तृत और वर्णनशक्ति को प्रभावशाली बना देती है वहां कविता में बनावट और प्रयास का रंग भी पैदा कर देती है। इन अनपढ़ शायरों के कलाम में शायर की असली भावनाएँ दिखायी देती हैं और बिलकुल अनायास होने के कारण दिल पर एक खास कैफियत पैदा कर देती हैं। अगरचे इन शायरों ने अपने ज़माने के उस्तादों की नकल की है और उनका बयान का अंदाज़ भी वही है लेकिन उनके सबसे प्रभावशाली शेर वही हैं जो बन्दिशों की कैद और तरकीबों को पेचीदगियों से पाक हैं।'

इसके बाद से सम्बन्ध गहरे हो गये और उनकी इनायतों में भाई-चारा झलकने लगा। मेरी कई कहानियों को दिलचस्पी से पढ़ा और उन पर मुक्त होकर अपनी राय दी। कुछ कहानियों को तो उन्होंने इतना ज्यादा पसन्द किया और उनके बारे में ऐसी बातें कहीं कि मुझे गलतफहमी का शिकार हो जाना पड़ा और मैं यह कहने को मजबूर हुआ कि आप खूबसूरत झूठ बोल रहें हैं। लेकिन यह मेरी गलती थी कि जैसा कि उन्होंने बाद में साबित किया। सच्चाई यह है कि तारीफ करने में वह बहुत ही उदार थे। किसी लेख या कहानी का जो हिस्सा पसन्द आ जाता था, खूब दिल खोलकर उसकी तारीफ करते थे।

अफसोस उनके सत्संग का आनन्द बहुत दिनों तक उठाने का मौका न मिल सका और मुझे किसी कारणवश जनवरी सन् १९२८ में पब्लिशिंग डिपार्टमेंट से अलग होकर कलकत्ते जाना पड़ा और कुछ अरसे बाद मुंशी साहब भी अलग हो गये। कई साल गुजर गये लेकिन मुलाकात तो मुलाकत चिट्ठी-पत्री का भी मौका न मिला। फिर जब एक फिल्म कम्पनी के बुलाने पर मुंशी साहब बम्बई गये और उनका पहला किस्सा फिल्म बनकर बाज़ार में आया तो मैंने उसके बारे में कुछ बातें लिखकर उनकी खिदमत में भेजीं। उन्होंने बड़े ध्यान से मेरे तमाम प्रश्नों का विस्तृत उत्तर दिया। काश, मेरी

लम्बी बीमारी के सिलसिले में वह पत्र नष्ट न हो जाता तो आज फिल्मी दुनिया के बारे में बहुत सी गहरी बातों पर रोशनी पड़ सकती थी।

इस बयान से मुंशी साहब के ऊँचे चरित्र को व्यक्त करना ही मेरा लक्ष्य था क्योंकि सबसे झुककर मिलना और मुहब्बत से पेश आना ही उनका स्वभाव था। यही चीज़ें हैं जो दोस्तों के दिलों में उनकी याद को हमेशा ताज़ा रखेंगी और उर्दू-हिन्दी साहित्य का यह सेवक नहीं बल्कि सबसे बड़ा पालक साहित्य की दुनिया में हमेशा हमेशा ज़िन्दा रहेगा।

●

२१ | बनारसी दास चतुर्वेदी

मेरी आकांक्षाएँ कुछ नहीं हैं। इस समय तो सबसे बड़ी आकांक्षा यही है कि हम स्वराज्य-संग्राम में विजयी हों। धन या यश की लालसा मुझे नहीं रही। खाने भर को मिल ही जाता है। मोटर और बंगले की मुझे हविस नहीं। हाँ यह ज़रूर चाहता हूँ कि दो-चार ऊँची कोटि की पुस्तकें लिखूँ, पर उनका उद्देश्य भी स्वराज्य विषय ही है। मुझे अपने दोनों लड़कों के विषय में कोई बड़ी लालसा नहीं है। यही चाहता हूँ कि वह ईमानदार, सच्चे और पक्के इरादे के हों। विलासी, धनी, खुशामदी सन्तान से मुझे घृणा है। मैं शान्ति से बैठना भी नहीं चाहता साहित्य और स्वदेश के लिए कुछ न कुछ करते रहना चाहता हूँ। हाँ रोटी-दाल और तोला भर घी और मामूली कपड़े मयस्सर होते रहें।

(प्रेमचन्द जी के ३-६-३० के पत्र से)

जो व्यक्ति धन-सम्पदा में विभोर और मग्न हो, उसके महान पुरुष होने की मैं कल्पना भी नहीं कर सकता। जैसे ही मैं किसी आदमी को धनी पाता हूँ, वैसे ही मुझपर उसकी कला और बुद्धिमत्ता की बातों का प्रभाव काफूर हो जाता है। मुझे जान पड़ता है कि इस शख्स ने मौजूदा सामाजिक व्यवस्था को — उस सामाजिक व्यवस्था को, जो अमीरों द्वारा गरीबों के दोहन पर अवलंबित है — स्वीकार कर लिया है। इस प्रकार किसी भी बड़े आदमी का नाम, जो लक्ष्मी का कृपा पात्र भी हो, मुझे आकर्षित नहीं करता। बहुत मुमकिन है कि मेरे मन में इन भावों का कारण जीवन में मेरी निजी असफलता ही हो। बैंक में अपने नाम में मोटी रकम जमा देखकर शायद मैं भो वैसा ही होता, जैसे दूसरे हैं — मैं भी प्रलोभन का सामना न कर सकता लेकिन मुझे प्रसन्नता है कि स्वभाव और किस्मत ने मेरी मदद की है और मेरा भाग्य दरिद्रों के साथ सम्बद्ध है। इनसे मुझे आध्यात्मिक सान्त्वना मिलती है।

(१-१२-३५ के पत्र से)

प्रेमचन्द जी की याद आते ही उनके उपर्युक्त दोनों पत्रों का, जो साढ़े पाँच वर्ष के अन्तर पर लिखे गये थे, स्मरण हो आया। दोनों पत्र प्रेमचन्द जी के जीवन के उद्देश्यों और उनकी आकांक्षों को प्रकट करते हैं। यदि प्रेमचन्द जी ने सरकारी नौकरी न छोड़ी होती, तो वे डिप्टी इन्सपेक्टर आफ स्कूल्स अथवा असिस्टेण्ट इन्सपेक्टर होकर रिटायर होते, पर उन्होंने त्याग और तप का जीवन अंगीकार किया था और अपनी आकांक्षाओं को रोटी-दाल, तोला भर घी और मामूली कपड़े तक ही सीमित कर लिया था। गरीबी के इस व्रत को ग्रहण करने के कारण ही वे हमारे साहित्य के लिए ऐसे अमर ग्रन्थ प्रदान कर गये जिनकी वजह से हम आज अन्य भाषा-भाषियों के सम्मुख अपना मस्तक ऊँचा कर सकते हैं।

इन पंक्तियों के लेखक पर प्रेमचन्द जी की कृपा थी और वह अपने जीवन के पवित्रतम संस्मरणों में प्रेमचन्द जी की स्मृति की गणना करता है। सन् १९२४ की बात है। प्रेमचन्द जी के प्रथम दर्शन करने का सौभाग्य मुझे लखनऊ में प्राप्त हुआ था। उन दिनों ये शायद 'रंगभूमि' नामक उपन्यास लिख रहे थे। उनके घर पर ही उपस्थित हुआ था और उनके साथ सड़कों पर कुछ दूर प्रातःकाल के समय टहला भी था। उस समय उन्होंने अपने बाल्यावस्था के अनुभव जब कि वे किसी मौलवी साहब से पढ़ते थे, सुनाये थे। प्रेमचन्द जी के एक गुण ने मुझे सबसे अधिक आकर्षित किया था, वह था उनमें साम्प्रदायिकता का सर्वथा अभाव। हिन्दू-मुस्लिम एकता के वे सबसे बड़े हामी थे और दोनों के सांस्कृतिक मेल के लिए उन्होंने जीवन भर परिश्रम भी किया था। उस थोड़े से समय में, जो उनके साथ व्यतीत हुआ, प्रायः इसी विषय पर व्यतीत होती रही।

इसके बाद पिछले बारह वर्ष में प्रेमचन्द जी से मिलने के दो-तीन अवसर और मिले और पत्र-व्यवहार तो निरन्तर चलता रहा। बातचीत की तरह उनका पत्र-व्यवहार भी दिल खोलकर होता था। दिसम्बर १९३२ में उनके साथ काशी में दो दिन तक रहने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ था। इन दो दिनों में एक दिन तो प्रातःकाल के ११ बजे से रात १० बजे तक और दूसरे दिन सबेरे से शाम तक वे अपना सब काम छोड़कर मुझसे बातचीत करते रहे। इन दो दिनों में वे सैकड़ों बार ही हँसे होंगे और सैकड़ों बार ही उन्होंने मुझे हँसाया होगा। उनकी ज़िन्दादिली का क्या कहना।

फिर कलकत्ते लौटने पर एक चिट्ठी में मैंने प्रेमचन्द जी को मज़ाक में लिखा कि आप श्रीमती शिवरानी देवी जी को एक रिस्टवाच क्यों नहीं खरीद देते, इसका उत्तर देते हुए प्रेमचन्द ने लिखा —

'.... रही उनकी रिस्टवाच की बात, सो जब कभी कोई उद्योगी पत्रकार उनकी रचनाओं के लिए पारिश्रमिक देना प्रारम्भ करेगा तो वे खुद अपने लिए रिस्ट-वाच खरीद लेंगी या शायद कोई उन्हें एक रिस्टवाच भेंट हो कर दे।'

प्रेमचन्द जी को कलकत्ते बुलाने और शान्तिनिकेतन ले जाने के लिए कई बार मैंने प्रयत्न किया, पर सफल नहीं हो सका। जब कविवर नागूची जापान से कलकत्ते पधारे थे तो मैंने उनसे प्रार्थना की थी कि वे भी आवें। उसके उत्तर में उन्होंने लिखा था —

'....आपका कार्ड मिला। उसके लिए धन्यवाद। क्या ही अच्छा होता, यदि मैं कविवर नागूची के भाषण सुन पाता। पर लाचारी है। घरवालों को यहाँ कैसे अकेला छोड़ दूँ, यही प्रश्न है। लड़के इलाहाबाद में हैं, और यदि मैं बाहर चला जाऊँ तो मेरी स्त्री को सूना-सूना सा लगेगा। और अगर मैं उन्हें साथ लाऊँ, तो खर्च के लिए मेरे पास काफी पैसे चाहिए। इसलिए आर्थिक संकट का सामना करने के बजाय यही उत्तमतर है कि मैं घर पर ही बँधा रहूँ।'

शान्तिनिकेतन भी वे इसी कारण नहीं जा सके थे।

कवीन्द्र श्री रवीन्द्रनाथ से प्रेमचन्द जी का जिक्र अनेक बार आया था और उन्होंने कई बार कहा था कि प्रेमचन्द जी की चुनी हुई कहानियों का अनुवाद बंगला में होना चाहिए। बंगला के हास्यरस के सुप्रसिद्ध लेखक श्री परशुराम (श्री राजशेखर बोस) ने भी प्रेमचन्द जी की कई कहानियाँ पढ़ी थीं और 'पंच-परमेश्वर' नामक कहानी उन्हें खास तौर पर पसन्द आयी थी।

प्रेमचन्द जी जितने हिन्दी वालों के थे, उतने ही उर्दू वालों के भी थे। इस विषय में उनकी स्थिति अद्वितीय थी। गत वर्ष जब पानीपत में हाली शताब्दी में सम्मिलित होने का सौभाग्य हमें प्राप्त हुआ था तो वहाँ उर्दू के कई प्रतिष्ठित लेखकों तथा कवियों से प्रेमचन्द जी का जिक्र आया था। उर्दू के एक विद्वान लेखक ने कहा भी था — 'प्रेमचन्द जी तो उर्दू के 'क्लासिक' हो गये हैं। वे तो हमारे ही हैं।'

सी० एफ० एण्ड्रूज़ से प्रेमचन्द जी की चर्चा कई बार हुई थी। उन्होंने प्रेमचन्द जी की एक कहानी 'तारा' के अंग्रेज़ी अनुवाद 'ऐक्ट्रेस' का संशोधन कर दिया था और यह कहानी मार्डन रिव्यू में छपी भी थी। मि० एण्ड्रूज़ प्रेमचन्द जी से मिलने के उत्सुक थे, और उनके आदेशानुसार शान्तिनिकेतन से लिखा भी गया था कि वे कलकत्ते पधारें, जहाँ कि मि० एण्ड्रूज़ स्वयं आ रहे थे पर प्रेमचन्द जी नहीं आ सके। मि० एड्रूज़ प्रेमचन्द जी की कहानियों के अंग्रेजी अनुवाद के संशोधन करने के लिए और उनको प्रकाशित करने के लिए तैयार थे। बात दरअसल यह थी कि प्रेमचन्द जी अपनी रचनाओं के अनुवाद के विषय में बिलकुल उपेक्षा की नीति से काम लेते थे। मैं उनकी इस नीति का घोर विरोधी था। मैंने उनकी सेवा में निवेदन भी किया था कि आपकी रचनाओं का अंग्रेज़ी अनुवाद आपको कीर्ति देने के लिए नहीं बल्कि सभ्य जगत के सम्मुख हिन्दी वालों का गौरव बढ़ाने के लिए होना चाहिए। पत्र के उत्तर में उन्होंने लिखा था —

— 'आपके पत्र के लिए और आप मेरी रचनाओं में जो दिलचस्पी लेते हैं

उसके लिए मैं आपका अत्यन्त कृतज्ञ हूँ लेकिन जब तक कि मुझे कोई सुयोग्य अनुवादक न मिल जाय तब तक पादरी एण्ड्रूज़ साहब को व्यर्थ के लिए तकलीफ देना ठीक न होगा। शायद अभी इसके लिए वक्त ही नहीं आया, और जब कभी वक्त आयेगा, तो मददगार भी कहीं न कहीं से निकल ही आवेंगे।'

यह असम्भव है कि प्रेमचन्द जी की चुनी हुई रचनाओं का अनुवाद अंग्रेज़ी में न हो क्योंकि वर्तमान भारतीय समाज का जैसा जीता-जागता चित्र उनकी रचनाओं में मिलता है, वैसा अन्यत्र शायद ही मिले। कभी न कभी अंग्रेजी जानने वाली जनता प्रेमचन्द जी की रचनाओं का स्वाद अपनी भाषा में लेने का प्रयत्न करेगी ही, पर वह सौभाग्यपूर्ण अवसर प्रेमचन्द जी के जीवन में ही आ जाता, तो कितनी अच्छी बात होती।

यद्यपि प्रेमचन्द जी अपनी रचनाओं के अंग्रेज़ी अनुवाद के विषय में उदासीन से थे, पर अंग्रेज़ी जनता के सम्मुख हिन्दी वालों की रचनाएँ तथा व्यक्तित्व के प्रकाशन को आवश्यक समझते थे। एक बार श्री रायकृष्णदास जी के मकान पर (शायद यह द्विवेदी अभिनन्दन उत्सव का अवसर था) उन्होंने मुझे आदेश दिया था कि 'लीडर' इत्यादि पत्रों में इस विषय पर लिखा करो।

❀ ❀ ❀

प्रेमचन्द जी दिल खोलकर प्रशंसा करते थे और दिल खोलकर निन्दा भी। ऐसे अवसरों पर अपनी लेखनी पर संयम रखना उन्हें पसन्द नहीं था। इस विषय में वे स्वर्गीय पण्डित पद्म सिंह शर्मा की नीति का अवलम्ब करते थे। स्वर्गीय शर्मा जी की पुस्तक 'पद्मपराग' की आलोचना करते हुए मैंने 'विशाल भारत' में लिखा था — 'हमारा विश्वास है कि कठोर शब्द अन्त में अपने उद्देश्य में विफल होते हैं। उनके प्रयोग से इस बात की आशंका रहती है, कि कहीं असाधारण कठोरता के कारण पाठक की सहानुभूति उस व्यक्ति के प्रति न हो जाय, जिसके प्रति उन शब्दों का प्रयोग किया गया है।'

इसका उत्तर देते हुए शर्मा जी ने लिखा था — 'मुझे डर है कि कृत्रिम — बनावटी-शांति के खब्त में आप लोग — गान्धीपन्थी — वीर, रौद्र और भयानक रसों का सर्वथा लोप करना चाहते हैं, जो एकदम असम्भव और अव्यवहार्य है। किसी अत्याचारी नृशंस और क्रूर आदमी की करतूत पर क्रोध और घृणा आना स्वाभाविक धर्म है फिर उसे प्रकट करना क्यों अधर्म है? यह तो एक तरह की मक्कारी है कि किसी दुष्ट पर क्रोध आये तो इतना आये कि वह बेताब कर दे पर उसे शब्द में प्रकट न किया जाय। ऐसा न आज तक हुआ है, न आगे कभी होगा। साहित्य में सब रस सदा से रहे हैं और सदा रहेंगे। भेड़ियों के आगे हाथ पाँव बाँधकर पड़ रहने का मूर्खतापूर्ण अहिंसात्मक सत्याग्रह किसी काल में व्यवहार्य नहीं समझा जा सकता है। यह प्राचीन आर्य संस्कृति के विरुद्ध है। अस्तु आपका निष्पक्ष फैसला सुनकर भी मेरी

यही राय है कि दुष्ट, धूर्त और लोकवंचक लोगों की जितनी भी कड़ी भर्त्सना की जाय, उचित है, विहित है। अपने विरुद्ध फैसला सुनकर भू-भ्रमणवादी गैलिलियों ने सब से कहा था — 'आपका फैसला सुनकर भी यह कम्बख्त (भूमि) बराबर उसी तरह घूम रही है, ज़रा भी तो नहीं रुकी। आपका फैसला सुनकर मैं भी यही अर्ज करता हूँ कि जनाब! धूर्त और नृशंस व्यक्ति की पोल खोलना, शब्दों के कोड़े लगाना, आज से हज़ार बरस बाद भी विहित समझा जायगा, इसमें ज़रा फर्क नहीं आयेगा। आप लोगों के इस क्लीव-क्रन्दन को — शान्त-पाठ को — कोई न सुनेगा।'

जब श्रीयुत प्रेमचन्द जी को मैंने उनके एक लेख की कठोरता के विषय में लिखा, तो उन्होंने उत्तर में वैसे ही भाव प्रकट किये जो शर्मा जी के पत्र में हैं, पर स्वर्गीय शर्मा जी तथा प्रेमचन्द जी के प्रति काफी श्रद्धा रखते हुए भी अब भी मेरा वही विश्वास है कि कठोर शब्दों का प्रयोग न करना ही अच्छा है। एक बार प्रेमचन्द जी ने फिर कठोर शब्दों का प्रयोग किया तो मैंने फिर उनकी सेवा में निवेदन किया। अब की बार वे मेरी बात से कुछ कुछ सहमत हो गये। उन्होंने अपने पत्र में लिखा था —

'आपकी अत्यन्त मित्रतापूर्ण सलाह के लिए मैं आपका दरअसल कृतज्ञ हूँ। उस व्यक्ति के प्रति मेरे हृदय में कोई द्वेष नहीं है, बल्कि मैं उसके लिए दुखित हूँ, पर मुश्किल तो यह है कि हिन्दी पाठक इतने उथले हैं और सद्विवेक-बुद्धि की उनमें इतनी कमी है कि जो कुछ उनके कानों में कोई डाल दे, वे उसी पर विश्वास करने के लिए तैयार हो जाते हैं। हिन्दी पाठकों को तो यह निरन्तर बतलाने की ज़रूरत है कि सत्य क्या है, लेकिन भविष्य में मैं अधिक संयम से काम लूँगा।'

जब 'हंस' भारतीय साहित्य परिषद् का मुखपत्र बना दिया गया तो प्रेमचन्द जी ने छपे हुए सूचनापत्र को भेजते समय उसपर लाल स्याही से लिख भेजा।

'मुंशी जी (श्री कन्हैयालाल मुंशी) ने तो आपको पत्र लिखे ही हैं। अब मेरा सवाल है।

"फकीर का सवाल है सभी के ऊपर
जुल्म ना ज़ियादती किसी के ऊपर"

'हंस' के विषय में उन्होंने बहुत से पत्र हिन्दी और उर्दू लेखकों को लिखे थे। उर्दू लेखकों ने तो सहृदयतापूर्वक उनके पत्रों का स्वागत किया और उत्तर भी दिये, पर हिन्दी के महारथियों ने जो कुछ किया, वह उन्हीं के शब्दों में सुन लीजिए :

— 'उर्दू लेखकों ने तो मेरे निमन्त्रण का तुरन्त ही और विनम्रता-पूर्वक जवाब दिया है, लेकिन जो बहुत-सी चिट्ठियाँ मैंने हिन्दी के महारथियों की सेवा में भेजी थीं, उनमें बहुत कम के जवाब आये हैं। अकेले बाबू मैथिलीशरण जी ही एक ऐसे व्यक्ति हैं जिन्होंने उत्तर दिया है, दूसरों ने तो चिट्ठी की स्वीकृति भी न लिखी। हमारे हिन्दी लेखकों की यह मनोवृत्ति है।'

'जागरण' के मज़ाक के कालमों में दो-एक बातें मेरे खिलाफ निकल गयी थीं। मैंने उनकी शिकायत की। उसके उत्तर में प्रेमचन्द जी ने एक बड़ा प्रेमपूर्ण तथा उपदेशप्रद पत्र लिख भेजा था। उस पत्र के प्रशंसामय अंशों को छोड़कर कुछ बातें यहाँ उद्धृत करना अप्रासंगिक न होगा—

'जब कभी मौका पड़ा है मैं हमेशा आपका पक्ष लेकर लड़ा हूँ, और मैंने आपको उसी दृष्टि से लोगों के सम्मुख उपस्थित करने का प्रयत्न किया है जिस दृष्टि से मैं आपको देखता हूँ। मैं इस बात से इनकार नहीं करता कि साहित्य सेवियों में कुछ लोग ऐसे हैं कि जो आपको बदनाम करते हैं और आपकी ईमानदारी को भी मानने को तैयार नहीं होते। इतना ही नहीं, कुछ महानुभाव तो इससे भी आगे बढ़ जाते हैं। लेकिन कौन व्यक्ति ऐसा है, जिसके छिद्रान्वेषी न हों? मैं स्वयं निन्दकों से घिरा हुआ हूँ, जो मुझपर हमला करने का कोई मौका नहीं चूकते। दुर्भाग्यवश हमारे साहित्यकारों में न तो विचारों की व्यापकता — उदारता — है और न सहयोग की भावना। हमारे यहाँ एक दल ऐसा पैदा हो गया है कि जिसे दूसरों की वर्षों के परिश्रम से अर्जित कीर्ति को मटियामेट करने में ही मज़ा आता है। हमें अपनी आत्मा को पवित्र रखना चाहिए, और यही सबसे बड़ी बात है। जान पड़ता है कि आप मज़ाक के छींटों को प्रायः गम्भीर मान बैठते हैं .... लेकिन जब कभी कोई किसी के उद्देश्य को ही कलुषित बताने लगता है, तब मामला गम्भीर हो जाता है। किसी के उद्देश्य पर शक करने को मैं किसी भी हालत में सहन नहीं कर सकता। निर्दोष छींटों को आपको परवा न करनी चाहिए। यदि आप इतने असहनशील हो जायँगे तब तो आप अपने निन्दकों को और भी उत्साहित करेंगे कि वे आपकी पीठ में काँटा चुभोयें। खिले हुए चेहरे से आप उन लोगों का सामना कीजिए। एक ज़माना था, जब किसी अमित्रतापूर्ण हमले से मुझे कई-कई रात नींद न आती थी; लेकिन वह ज़माना गुजर चुका है, और मैं अब अपने आप को ज्यादा अच्छी तरह समझता हूँ।'

मैं एक लेख लिखना चाहता था — 'भविष्य किनका है?' और उस लेख में हिन्दी के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों के प्रतिभाशाली कार्यकर्ताओं का संक्षिप्त परिचय देना चाहता था। इस विषय पर मैंने प्रेमचन्द जी की सम्मति पूछी थी, जो उन्होंने विस्तारपूर्वक लिख भेजी थी।

❀ ❀ ❀

सन् १९३० में मैंने एक पत्र में उनसे बहुत से प्रश्न किये थे। उनमें कुछ प्रश्न ये थे — १. आपने गल्प लिखना कब प्रारम्भ किया था? २. आपकी सर्वोत्तम पन्द्रह गल्पें कौन-कौन हैं? ३. आप पर किस लेखक की शैली का प्रभाव विशेष पड़ा? ४. आपकी अपनी रचनाओं से अब तक कितनी आय हुई है? इस प्रश्नों के उत्तर में प्रेमचन्द जी ने लिखा था —

१ — मैंने १९०७ में गल्प लिखना शुरू किया। सबसे पहले १९०८ में मेरा

'सोजेवतन' जो पाँच कहानियों का संग्रह है, 'जमाना प्रेस' से निकला था। पर उसे हमीरपुर के कलेक्टर ने मुझसे लेकर जला डाला था। उसके खयाल में वह विद्रोहात्मक था, हालांकि तब से उसका अनुवाद कई संग्रहों और पत्रिकाओं में निकल चुका है।

२ — इस प्रश्न का जवाब देना कठिन है। २०० से ऊपर गल्पों में कहाँ तक चुनूं, लेकिन स्मृति से काम लेकर लिखता हूँ १ — बड़े घर की बेटी २ — रानी सारंधा ३ — नमक का दारोगा ४ — सौत ५ — आभूषण ६ — प्रायश्चित ७ — कामना ८ — मन्दिर और मसजिद ९ — घासवाली १० — महातीर्थ ११ — सत्याग्रह १२ — लांछन १३ — सती १४ — लैला और १५ — मन्त्र।

३ — मेरे ऊपर किसी विशेष लेखक की शैली का प्रभाव नहीं पड़ा। बहुत कुछ पं० रतननाथ दर लखनवी और कुछ कुछ डा० रवीन्द्रनाथ ठाकुर का असर पड़ा है।

४ — आय की कुछ न पूछिये। पहले की सब किताबों का अधिकार प्रकाशकों को दे दिया। प्रेम पचीसी, सेवासदन, सप्त सरोज, प्रेमाश्रम, संग्राम आदि के लिए एक मुश्त तीन हजार रुपये हिन्दी पुस्तक एजेन्सी ने दिये। 'नवनिधि' के लिए शायद अब तक २०० रुपये मिले हैं। 'रंगभूमि' के लिए १८०० रु० दुलारेलाल जी ने दिये। और संग्रहों के लिए सौ-दो-सौ मिल गये। कायाकल्प, आजाद कथा, प्रेमतीर्थ, प्रेम प्रतिमा, प्रतिज्ञा मैंने खुद छापी, पर अभी तक मुश्किल से ६०० रु० वसूल हुए हैं, और प्रतियाँ पड़ी हुई हैं। फुटकर आमदनी लेखों से शायद २५ रु० माहवार हो जाती हो, मगर इतनी भी नहीं होती! मैं अब इसे और 'माधुरी' के सिवा कहीं लिखता ही नहीं। कभी-कभी 'विशाल भारत' और 'सरस्वती' में लिखता हूँ। बस। उर्दू अनुवादों से भी अब तक शायद दो हजार से अधिक न मिला होगा। ८०० रु० में रंगभूमि और प्रेमाश्रम दोनों का अनुवाद दे दिया था।

हंस और जागरण में प्रेमचन्द जी को निरन्तर घाटा ही होता रहा और कभी-कभी तो वह घाटा दो सौ रुपये महीने से भी अधिक का हो जाता था। इसके कारण अत्यधिक चिन्तित रहते थे।

— 'खेद की बात है कि मेरा कोई भी प्रयत्न अब तक स्वावलम्बी नहीं हो सका। 'हंस' में मुझे बहुत नहीं खर्च करना पड़ता, लेकिन 'जागरण' का बोझ असह्य हो रहा है। इस झंझट से निकला कैसे जाय, इसी चिन्ता में दिमाग़ चक्कर खा रहा है। मैं करीबन २०० रुपये प्रति मास घाटा दे रहा हूँ। यह कब तक चल सकता है? एक बार इसे जारी करने की मूर्खता कर चुकने के बाद अब इसका खात्मा करने में मेरी सुबुद्धि बाधक होती है। अन्य लोग इस पर कैसे हँसेंगे और खिल्ली उड़ायेंगे? .... यदि मुझमें इन दोनों पत्रों को बन्द कर देने की हिम्मत होती तो मैं इन तमाम परेशानियों से बच जाता लेकिन मैं इतनी हिम्मत इकट्ठी नहीं कर पाता।'

मेरी यह आकांक्षा कि कभी प्रेमचन्द जी और कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ को बातचीत करते हुए सुनूं, मन की मन में रह गयो। प्रेमचन्द जी को शान्तिनिकेतन बुलाने के लिए कई बार प्रयत्न किया, पर इसमें मुझे सफलता नहीं मिली। एक बार तो मुझे यह आशंका हो गयी थी कि उन्होंने जान बूझकर मेरे निमन्त्रण की उपेक्षा की है। जब काशी में जाकर मैंने उनसे पूछा कि आप शान्तिनिकेतन क्यों नहीं गये तब उन्होंने बतलाया कि वे अपनी धर्मपत्नी तथा बच्चों को छोड़कर अकेले कविवर के दर्शनार्थ नहीं जाना चाहते थे और इतना पैसा उनके पास था नहीं कि सब की यात्रा का प्रबन्ध कर सकते। हिन्दो के सर्वश्रेष्ठ कलाकार की इस आर्थिक परिस्थिति को सुनकर मुझे हार्दिक दुख हुआ था। उस समय मैंने 'विशाल भारत' में लिखा था —

प्रेमचन्द जी को अपनी पुस्तकों से जो आमदनी होती है उसका एक अच्छा भाग 'हंस' और 'जागरण' के घाटे में चला जाता है। कितने ही पाठकों का यह अनुमान होगा कि प्रेमचन्द जी अपने ग्रन्थों के कारण धनवान हो गये होंगे पर यह धारणा सर्वथा भ्रमात्मक है। हिन्दी वालों के लिए सचमुच यह कलंक की बात है कि उन जैसे सर्वश्रेष्ठ कलाकार को आर्थिक संकट बना रहता है। सम्भवतः इसमें कुछ दोष प्रेमचन्द जी का भी है जो अपनी प्रबन्ध शक्ति के लिए प्रसिद्ध नहीं और जिनके व्यक्तित्व में वह लौह दृढ़ता भी नहीं जो उन्हें साधारण कोटि के आदमियों का शिकार बनने से बचा सके। कुछ भी हो, पर हिन्दी जनता अपने अपराध से मुक्त नहीं हो सकती। हमें इस बात की आशंका है कि आगे चलकर हिन्दी-साहित्य के इतिहास-लेखक को कहीं यह न लिखना पड़े — 'दैव ने हिन्दीवालों को एक उत्तम कलाकार दिया था, जिसका उचित सम्मान वे न कर सके।' ये पंक्तियाँ जनवरी सन् १९३२ में लिखी गयी थीं। दुर्भाग्यवश वे सत्य प्रमाणित हो रही हैं।

प्रेमचन्द जी के जीवन में हम लोग उनका कुछ भी सम्मान न कर सके, यद्यपि वे खुद सम्मान के भूखे नहीं थे। जब नागपुर सम्मेलन के अवसर पर मैंने उनके सभापति होने का प्रस्ताव 'विशाल भारत' में किया था तो उन्होंने एक पत्र में मुझे अपनी अनिच्छा तथा उदासीनता का वृत्तान्त लिख भेजा था, पर हम लोगों का तो कर्तव्य था कि उनका सम्मान करके स्वयं अपने को तथा अपनी संस्था को गौरवान्वित करते।

प्रेमचन्द जी की विद्वत्ता, प्रतिभा अथवा लेखनशक्ति के विषय में कुछ लिखने के लिए यहाँ न तो स्थान ही है और न इन पंक्तियों के लेखक में इतनी योग्यता कि वह इस गम्भीर कार्य को सफलतापूर्वक कर सके। हाँ प्रेमचन्द जी की सहृदयता के विषय में दो शब्द वह अवश्य कह सकता है। पिछली बार जब वे आगरे आये थे तो मेरे छोटे भाई रामनारायण से, जो आगरा कालेज में इतिहास का अध्यापक था, अत्यन्त

स्नेहपूर्वक मिले और मेरी लड़की को श्रीमती शिवरानी देवी जी अपने साथ ही लिये रहीं। काशी लौटकर प्रेमचन्द जी ने मुझे लिखा था —

'ऐसे अच्छे भाई को पाकर आप अत्यन्त सौभाग्यशाली हैं।' और प्रेमचन्द जी का कृपापात्र होना भी मेरे लिए कम सौभाग्य की बात नहीं थी। गत ५ अक्टूबर को छोटे भाई का देहान्त हो गया और तीन दिन बाद प्रेमचन्द जी का स्वर्गवास।

मेरा दुर्भाग्य।

२२ | बाबू राव विष्णु पराड़कर

हिन्दी साहित्य में प्रेमचन्दजी का स्थान निर्धारित करना भावी पीढ़ियों का काम है। आज हम उनके इतने निकट हैं कि उन्हें अच्छी तरह देख नहीं सकते। उनके व्यक्तित्व की छाप हमारे हृदय पर ऐसी लगी है कि केवल साहित्य की दृष्टि से उन्हें देखना सम्भव नहीं हो रहा है। वह व्यक्तित्व सहसा हमारे सामने से ग़ायब हो गया है और हम उसकी स्मृति से प्रभावित हो रहे हैं। यह अवस्था साहित्यिक पर्यालोचन के लिए अनुकूल नहीं। प्रेमचन्द के व्यक्तित्व से सर्वथा अपरिचित साहित्यिक ही हिन्दी वाङ्‌मय में उनका स्थान निर्धारित कर सकेंगे। आज हमारी प्रवृत्ति आलोचन की नहीं बल्कि गुणग्रहण की है। उनके स्वर्गारोहण के बाद आज हम उनके गुण ही गुण देख रहे हैं और पश्चात्ताप करते हैं कि उनके जीवन-काल में हम उनका महत्व न समझ सके और कदर न कर सके। यह स्वाभाविक प्रवृत्ति है पर साहित्यिक गुण-दोष-विवेचन में बाधक है। यही कारण है कि हिन्दी में प्रेमचन्द का स्थान निर्धारित करने में प्रेमचन्द के समकालीन साहित्यिक समर्थ नहीं हो सकते। एक कारण और भी है। जो प्रवाह में बहता जाता है वह उसकी गति का निरीक्षक नहीं हो सकता। यह तो तटस्थ ही कर सकता है। यद्यपि साहित्य में प्रेमचन्द का स्थान हम निर्धारित नहीं कर सकते पर रग-रग में अनुभव करते हैं कि उनके प्रवाह में हम बहे चले जा रहे हैं। कहा जा सकता है कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने साहित्यिक हिन्दी का नामकरण किया और प्रेमचन्द ने उसको मूर्त किया — रूप प्रदान किया। इन दो महानुभावों की प्रतिभा से हिन्दी को नाम और रूप प्राप्त हो गया है। हरिश्चन्द्र के प्रयत्न से हिन्दी वह हिन्दी हुई जिसे आज हम हिन्दी समझते हैं और आदर करते हैं। पर हरिश्चन्द्र उसे वह रूप न दे सके जिसे हिन्दी की समकालीन भाषाओं के अभिमानी भी देख सकते। यह काम प्रेमचन्द ने किया। वह स्थायी है अथवा अस्थायी, दिन प्रतिदिन अधिकतर स्पष्ट होनेवाला है अथवा किसी अन्य लेखनी से अन्य रूप को जन्म देकर स्वयं अस्पष्ट हो जानेवाला है, इसका निर्णय भविष्य ही करेगा।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने हिन्दी का नामकरण किया, उत्तर भारत के हिन्दू में उसके प्रति अभिमान उत्पन्न किया, पर उनके बाद उनका पदानुसरण करनेवालों को भाषा का आदर्श अन्यत्र ढूंढ़ना पड़ता था। हरिश्चन्द्र के समकालीन और परवर्ती लेखक ब्रज-साहित्य और रामचरितमानस से प्रभावित थे, कुछ पर संस्कृत साहित्य का भी अच्छा प्रभाव पड़ा था। स्वर्गीय गुरुवर्य पंडित गोविन्दनारायण मिश्र की रचनाओं में बाणभट्ट की शैली प्रतिबिम्बित हो रही है। वही ओज, वही ध्वनि, वही रचना-कौशल। कादंबरी के ढंग पर आप हिन्दी में भी एक प्रबन्ध की रचना कर रहे थे, कुछ अंश लिखा भी जा चुका था पर उपन्यास पूरा न हो सका। पूरा इसलिए न हो सका कि गोविन्दनारायण जी जीवन के अन्य झगड़ों में व्यस्त रहा करते थे और उनके साहित्य का जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं था। राजा लक्ष्मण सिंह, पंडित बालकृष्ण भट्ट, पंडित अम्बिकादत्त व्यास आदि, हरिश्चन्द्र के बाद के, पर हमारे लिए अब प्राचीन, सब साहित्यिकों के सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है उनका जीवन कुछ और साहित्य कुछ और था। प्राचीन पद्धतियों का अनुसरण और प्राचीन समयों का रक्षण, यही उनके लिए साहित्य था। उस साहित्य का समाज से या जीवन से कोई सम्बन्ध न था। अतः हिन्दी के साधारण लेखकों को जीवन-साहित्य का आदर्श पड़ोसी बंगला साहित्य में ढूंढ़ना पड़ता था, जो दिन दूनी रात चौगुनी उन्नति करता जा रहा था। जीवन के प्रश्नों का, सामाजिक समस्याओं का, राजनीतिक कठिनाइयों का हल उस समय के लेखक बँगला साहित्य में ढूंढ़ा करते थे। विशेष कर हिन्दी के समाचार-पत्र तो अधिकतर बँगला समाचार-पत्रों की ही नक़ल हुआ करते थे — अधिकांश में केवल अनुवाद। परिणाम यह हुआ कि हरिश्चन्द्र के बाद की हिन्दी बंगला हिन्दी हो गई। उसे पुनश्च हिन्दी बनाने का श्रेय प्रेमचन्द को ही है।

प्रेमचन्द की हिन्दी हिन्द की अपनी चीज़ है। उसपर उर्दू की छाया ज़रूर पड़ी है पर उर्दू भी तो हिन्द की ही भाषा है, किसी अन्य देश से यहाँ नहीं आयी है। उर्दू लेखकों से अच्छा स्थान प्राप्त कर लेने के बाद प्रेमचन्द का हिन्दी को अपने विचार प्रकट करने का माध्यम बनाना उस सत्साहस का काम था जिसका उनके जीवन में पद पद पर परिचय मिलता है। उनकी प्रारम्भिक कृतियों में हिन्दी भाषा अप्रौढ़ और शिथिल अवश्य थी पर शीघ्र ही उसमें वह तेजस्विता और सरलता, वह भावव्यंजकता और माधुरी आ गई जो हिन्दी साहित्य में एक नई बात थी। इसका कारण यह है कि प्रेमचन्द प्रकृति के पुत्र थे, उनकी प्रतिभा नैसर्गिक थी, साहित्य का आदर्श उन्हें निर्माण करना था, न कि अन्य आदर्श को सम्मुख रखकर उसका अनुकरण करना था। प्रेमचन्द के पात्र अपने थे, भाषा अपनी थी, कल्पना अपनी थी। विचार और सहानुभूति संसार के उन्नतिशील साहित्य के अध्ययन का फल था। यही कारण है कि उन्होंने जो कुछ लिखा, मौलिक लिखा और उसकी प्रेरणा उन्हें समाज से हुई — विशेष कर ग्रामीण समाज से। इस सम्बन्ध में हम प्रेमचन्द की तुलना इंग्लैण्ड के

चार्ल्स डिकिन्स से कर सकते हैं। डिकिन्स और प्रेमचन्द दोनों ही जनता के आदमी थे। समाज से निम्नस्तर की भीषणता में रह चुके थे, उससे परिचित हो चुके थे, उसके साथ उनकी सहानुभूति थी, उसी से उन्होंने अपने पात्र लिये और उसी के सुधारने का यत्न किया। दोनों ही संकुचित अर्थ में 'अशिक्षित' थे अर्थात् प्राचीन साहित्य की और उसके नियमों की शिक्षा उन्हें नहीं मिली थी। दोनों की प्रतिभा स्वाभाविक थी, दोनों ही जनता के आदमी थे। मध्यम और उच्चवर्ग के पात्र का चित्रण न डिकिन्स कर सके और न प्रेमचन्द ही कर सके। यत्न दोनों ने ही किये हैं पर विफल। ग़रीब पात्र दोनों के सजीव हैं; वे आपसे बोलते हैं, आपके साथ हँसते और आपके साथ रोते हैं। ओलिवर ट्विस्ट से विदा लेते समय जो एक मधुर वेदना होती है, होरी से विदा लेते वक्त हमें उसी का अनुभव हुआ। डिकिन्स और प्रेमचन्द का साम्य यहीं समाप्त हो जाता है। इसके बाद दोनों के मार्ग दो भिन्न दिशाओं को जाते हैं। एक आशावादी है; दूसरा दुःख में है, दुःख देखता है और उसे दूर करने का उपाय ढूँढ़ता है, कहीं कुछ बता भी जाता है, कहीं केवल समस्या उपस्थित करके अपनी कहानी के धागे आप ही तोड़कर मानों अपनी जान छुड़ा लेता है।

यह प्रेमचन्द का दोष नहीं बल्कि गुण है। समय का प्रतिबिम्ब उनके हृदय पर स्पष्ट हो रहा है। मूक जनता की आह वह सुनते हैं और सुना जाते हैं। पर इसकी दवा नहीं बताते — शायद नहीं जानते! कौन जानता है? सब अपनी-अपनी कह रहे हैं पर भविष्य के परदे के उस पार क्या है, यह बताने वाला ऋषि कौन है? एक महात्मा गाँधी दिखाई देते हैं और स्वभावतः प्रेमचन्द उनकी ओर आकृष्ट हो गये। ग़रीबों के प्रति सहानुभूति और भारतीय संस्कृति का अभिमान, ये दो विशेषताएँ प्रेमचन्द में बहुत अधिक मात्रा में मिलती हैं, और यह भी समय का प्रभाव है। प्रेम-चन्द समय से प्रभावित हुए हैं। साहित्यकार की यह विशेषता है। समय को प्रभा-वित करनेवाला ऋषि, अवतार या पैगम्बर कहलाता है। प्रेमचन्द के लिए इसका दावा उनका अन्धभक्त भी नहीं कर सकता। प्रेमचन्द साहित्यिक थे और ऊँचे दर्जे के साहित्यिक थे। जीवन से उन्होंने मसाला लिया और वह मूर्तियाँ तैयार करके हमारे सामने रख दीं जो जीवन के अंगों की प्रतीक हैं। उन मूर्तियों में हम समाज को देखते हैं, उसकी आकांक्षाओं की कल्पना करते हैं; उसके दोषों पर हँसते हैं, उसकी त्रुटियों की ओर भी लाचार खिच जाते हैं। यही प्रेमचन्द की कला है। वह हमें अपनी बुराइयों को दिखाती है पर चिढ़ाती नहीं। हँसाकर, खिलाकर और रुला-कर भी आत्मसुधार की आवश्यकता बताती है। ग़रीबों के मित्र प्रेमचन्द ने धनी निकम्मों की निन्दा की है पर ऐसे शब्दों में और इस ढंग से की है कि उसे पढ़कर धनी भी क्रुद्ध नहीं हो सकता लज्जित होता है। इसक एक कारण है। प्रेमचन्द के पात्र व्यक्ति नहीं होते, वे वर्गों के प्रतीक होते हैं। कोई व्यक्ति हो तो उससे प्रेम भी किया जा सकता है, इर्षा भी की जा सकती है, घृणा भी और क्रोध भी। पर वर्ग के

प्रतीक के सामने ये भावनाएँ कुंठित हो जाती हैं। हम उसे पड़ोसी में देखते हैं, अपने चारों ओर देखते हैं पर अपने आपमें नहीं देखते। अतः वह हमारा आदर पाता है, हमें अचम्भे में डालता है, रुलाता है, हँसाता है। बुरा होने पर भी हम उसे छोड़ना नहीं चाहते। इसका कारण यही है कि प्रेमचन्द के पात्र व्यक्ति नहीं, वर्ग हैं। वर्ग के दोष गुण उनमें पाये जाते हैं, अतएव हमारा व्यक्तित्व उनसे अपने आपको अलग समझता है। उन पात्रों से हमारी सहानुभूति होती है, समवेदना होती है पर एकत्व की प्रतीति नहीं होती। उनके दोष हम समाज में देखते हैं पर स्वयम् उनसे उसी प्रकार अलिप्त रह जाते हैं जैसे समाज का होकर भी एक सुधारक अपने आपको उससे अलग समझकर उसका टीकाकार — आलोचक बन जाता है। अनेक आलोचकों का यह अभियोग है कि प्रेमचन्द के पात्रों का व्यक्तित्व अच्छी तरह परिस्फुट नहीं होता, वह अधखिला फूल-सा रह जाता है। इसका उत्तर यही है कि उनके पात्र व्यक्ति होते ही नहीं, वर्ग के प्रतीक होते हैं। वर्ग के दोषगुण उनमें भलीभाँति दिखाई देते हैं और किसी भी प्रसंग पर वे वर्ग-मनोवृत्ति से ही काम करते हैं। उनमें विशेष व्यक्तित्व को ढूंढ़ना व्यर्थ है। प्रेमचन्द की इस विशेषता का कारण यह है कि वह पहले सुधारक और बाद कलाकार हैं। प्रेमचन्द ने कला के लिए पात्र-सृजन नहीं किया है; कला की खूंटी पर अपने सुधारक विचारों को टाँग दिया है। उनके अन्तिम उपन्यास 'गोदान' में इसका अच्छा परिचय मिलता है। 'गोदान' प्रेमचन्द का अन्तिम गोदान है — उनके अपने व्यक्तित्व का, अभिलाषाओं और विचारों का आदर्श है।

'गोदान' का होरी ग़रीब स्थिति के किसान का प्रतीक है। उसका व्यक्तित्व उस वर्ग का व्यक्तित्व है। परिश्रमी है, कुटुम्बवत्सल है और धर्मभीरु भी है। लाठी लेकर बाघ का सामना कर सकता है पर लाल पगड़ी देखते ही उसका सारा पुरुषत्व हवा हो जाता है। पराधीनता में अच्छे-अच्छे पुरुषों की जो स्थिति होती है वही होरी की भी है। वह धर्मभीरु है सामाजिक दृष्टि से, पर नर को नारायण बनाने वाला धर्म उसमें नहीं। अपने सगे भाई के हिस्से के दो-चार रुपए दबा जाने के लिए वह तीसरे को अधिक लाभ दे सकता है, पर उसी भाई के घर की तलाशी पुलिस ले यह बात उसे असह्य हो जाती है, क्योंकि इसमें कुल का अपमान है। इस अपमान से, इस कलंक से कुल को बचाने के लिए वह स्वयम् महाजन से क़र्ज़ ले सकता है। वही भाई जब उसकी गाय की हत्या करके भाग जाता है तो वह अपनी खेती की उपेक्षा करके उसकी खेती कर देता है जिसमें लोग यह न कहें कि अनाथा भावज की सहायता उसने नहीं की। एक ओर भाई और भावज के लिए इतना त्याग और दूसरी ओर उसी भाई को दो-चार रुपए के लिए ठगने की तैयारी! आज कल के समाज का कैसा यथार्थ चित्र है! यह चित्र ही होरी है। होरी वर्ग है, व्यक्ति नहीं। आज भारतीय समाज में झूठ बोलना, फ़रेब करना, ठगना, बुरा नहीं समझा जाता। होरी भी

नहीं समझता। भाई-भाई में भयंकर झगड़ा हो, कोई चिन्ता नहीं। भाई का खून भी भाई कर सकता है। उसकी सम्पत्ति भी हज़म कर सकता है पर जब तक वह बालक है तब तक उसका पालन करना ही होगा, नहीं तो समाज निन्दा करेगा। सामाजिक व्यवहार धूम-धाम से होना चाहिए। इसीमें कुल की मर्यादा है। व्यक्तिगत आचरण कैसा ही घृणित क्यों न हो, बुरा या पाप नहीं समझा जाता। पैतृक परिवार की कल्पना अब भी काम कर रही है, व्यक्तिगत सद्‌गुणों का लोप हो गया है। सामाजिक सदाचार विकृत रूप में जीवित है, व्यक्तिगत सदाचार का बिलकुल लोप हो गया है। होरी में इसका चित्र खींचा गया है। शायद प्रेमचन्द का यह उद्देश्य न हो पर वह तो वर्ग को ही देखते थे और समझते थे। होरी ऐसा ही एक पात्र है। उसमें और भी विशेषताएँ हैं पर वे भी उसका व्यक्तित्व परिस्फुट नहीं करतीं। होरी व्यक्ति हमारे सामने उपस्थित नहीं होता, वह वर्ग उपस्थित होता है जिसके होरी, हीरा और भोला प्रतीक हैं। होरी का लड़का गोबर, शुरू शुरू में एक व्यक्ति-सा मालूम होता है सही पर अन्त में वह भी वर्ग में लुप्त हो जाता है। पाठक उसमें ग़रीब और अजान, शोषित और अभिमानी वर्ग को देखते हैं और उसके लिए समवेदना का अनुभव भी करते हैं।

जिस विकृत धर्म का ऊपर उल्लेख किया गया है उसका एक जगह 'गोदान' में प्रेमचन्द ने स्पष्ट शब्दों में परिचय दिया है। मातादीन ब्राह्मण-पुत्र है। उसकी आशनाई एक चमारिन से हो गई है। यह बात सारा गाँव जानता है, पर मातादीन के पास पैसा है, वह सवेरे स्नान-संध्या और पूजा करता है। चमारिन को अपने घर में नहीं, अन्यत्र रखता है। उसके हाथ का खाता भी नहीं। अतः वह समाज का एक प्रतिष्ठित व्यक्ति है। उसका कोई कुछ नहीं बिगाड़ सकता। क्यों?—सुनिये प्रेमचन्दजी के ही शब्दों में—'हमारा धर्म है हमारा भोजन। भोजन पवित्र रहे, फिर हमारे धर्म पर कोई आँच नहीं आ सकती। रोटियाँ ढाल बनकर अधर्म से हमारी रक्षा करती हैं।' स्थिति का कैसा सच्चा वर्णन है। पर इसमें एक त्रुटि है। रोटियों की इस ढाल की आवश्यकता भी ग्रामों में ही होती है। शहरों में इसकी भी ज़रूरत नहीं। सब अपराध माफ़ हैं बशर्ते कि आप ब्याह शादी में समाज की रीतियों का पालन करते रहें और सुधारकों को गालियाँ दें। चमारिन से आशनाई कीजिये या घर की ही किसी विधवा का सर्वनाश करके उसे घर से निकाल दीजिये, आप धर्मात्मा ही समझे जायँगे। ऐसे धर्म के मूल में कुठाराघात करके सदाचारमूलक धर्म की पुनः स्थापना करना प्रेमचन्द-साहित्य का लक्ष्य है। अपना यह अभिप्राय वह कहीं स्पष्ट शब्दों में पर सर्वत्र व्यंजना में वा ध्वनि से व्यक्त करते पाये जाते हैं। प्रेमचन्द सुधारक अवश्य हैं पर उसके साथ-साथ भारतीय संस्कृति के पूर्ण भक्त भी हैं। उनके सुधार का अर्थ पश्चिम का अन्ध अनुकरण नहीं है। 'गोदान' उनकी अन्तिम कृति है। यह उपन्यास लिखते समय आप पाश्चात्य साम्यवाद का भी अध्य-

यन कर चुके हैं जिसकी झलक इस ग्रंथ में सर्वत्र दिखाई देती है। फिर भी आप उसका अनुकरण नहीं कर रहे है। कहीं अपने पात्रों के मुँह से उस पर टीका भी कराते हैं। यही बात स्त्री शिक्षा और पारिवारिक — वैवाहिक जीवन के सम्बन्ध में भी है। सर्वत्र उनका आदर्श भारतीय संस्कृति है, पश्चिम का अनुकरण नहीं। स्त्रियों के पुरुषों के समान अधिकार पाने के दावे का उत्तर प्रेमचन्द ने दर्शनाचार्य मि० मेहता के मुँह से दिलाया है। स्त्रियों के साथ पुरुषों ने अन्याय किया है, इस बात को स्वीकार करके मि० मेहता कहते हैं कि — 'अन्याय को मिटाइये पर अपने को मिटाकर नहीं।' और भी — 'संसार में सबसे बड़े अधिकार सेवा और त्याग से मिलते हैं और वह आपको (स्त्रियों को) मिले हुए हैं। × × × मुझे खेद है, हमारी बहनें पश्चिम का आदर्श ले रही हैं, जहाँ नारी ने अपना पद खो दिया है और स्वामिनी से गिरकर विलास की वस्तु बन गई है। पश्चिम की स्त्री स्वच्छन्द होना चाहती है इसलिए कि वह अधिक-से-अधिक विलास कर सके। हमारी माताओं का आदर्श कभी विलास नहीं रहा। उन्होंने केवल सेवा के आदर्श से सदैव गृहस्थी का संचालन किया है। पश्चिम में जो चीज़ें अच्छी हैं वह लीजिये। संस्कृति में सदैव आदान-प्रदान होता आया है। लेकिन अंधी नक़ल तो मानसिक दुर्बलता का ही लक्षण है। पश्चिम की स्त्री आज गृह-स्वामिनी नहीं रहना चाहती। भोग की विदग्ध लालसा ने उसे उच्छृंखल बना दिया है। वह अपनी लज्जा और गरिमा को, जो उसकी सबसे बड़ी विभूति थी, चंचलता और आमोद-प्रमोद पर होम कर रही है। जब मैं वहाँ की सुशिक्षित बालिकाओं को अपने रूप का, या भरी हुई गोल बाहों का, या अपनी नग्नता का प्रदर्शन करते देखता हूँ, तो मुझे उन पर दया आती है। उनकी लालसाओं ने उन्हें इतना पराभूत कर दिया है कि वे अपनी लज्जा की भी रक्षा नहीं कर सकतीं। नारी की इससे अधिक और क्या अधोगति हो सकती है?'

'गोदान' में प्रेमचन्द के विचार परिपक्व हुए दिखाई देते हैं। सामाजिक जीवन के प्रत्येक अंग पर इस ग्रन्थ में उन्होंने अपने दृष्टिकोण से प्रकाश डाला है। वह कोण प्रेम का नहीं, सेवा और त्याग का है। महात्मा गाँधी का प्रभाव स्पष्ट दिखाई दे रहा है। साम्यवाद का औचित्य स्वीकार करते हुए भी प्रेमचन्द सर्वत्र सेवा और त्याग पर ज़ोर देते दिखाई दे रहे हैं। इसे आप भारतीय संस्कृति समझते हैं। चित्त की उच्च नीच वृत्तियों को बे-नकेल छोड़ देना और उन्हें समाज में स्वच्छन्द विचरण करने देना आप नारीत्व और नरत्व के पूर्णविकास में बाधक समझ रहे हैं। 'युवतियाँ अब विवाह को पेशा नहीं बनाना चाहतीं। वह केवल प्रेम के आधार पर विवाह करेंगी।' इस पूर्वपक्ष का खण्डन आप मि० मेहता से इस प्रकार कराते हैं — "जिसे तुम प्रेम कहती हो वह धोखा है, उद्दीप्त लालसा का कविकृत रूप, उसी तरह जैसे संन्यास केवल भीख माँगने का संस्कृत रूप है। वह प्रेम अगर वैवाहिक जीवन में कम है तो मुक्त विलास में बिल्कुल नहीं है। सच्चा आनन्द, सच्ची शान्ति केवल

सेवा-व्रत में है। वही अधिकार का स्रोत है, वही शक्ति का उद्गम है। सेवा ही वह सीमेण्ट है जो दम्पत्ति को जीवनपर्यंत स्नेह और साहचर्य में जोड़े रख सकता है, जिस पर बड़े-बड़े आघातों का भी कोई असर नहीं होता। जहाँ सेवा का अभाव है वहीं विवाह-विच्छेद है, परित्याग है, अविश्वास है। आप के (स्त्रियों के) ऊपर पुरुष-जीवन की नौका का कर्णधार होने के कारण ज़िम्मेदारी ज़्यादा है। आप चाहें तो नौका को आँधी और तूफ़ान में भी पार लगा सकती हैं, और आपने असावधानी की तो नौका डूब जायगी, और उसके साथ आप भी डूब जायँगी।' यही मेहता एक जगह और कहते हैं —'मैं प्रकृति का पुजारी हूँ और मनुष्य को उसके प्राकृतिक रूप में देखना चाहता हूँ, जो प्रसन्न होकर हँसता है, दुखी होकर रोता है और क्रोध में आकर मार डालता है। जो दुःख और सुख दोनों का दमन करते हैं, जो रोने को कमज़ोरी और हँसने को हलकापन समझते हैं, उनसे मेरा कोई मेल नहीं। जीवन मेरे लिए आनन्दमय क्रीड़ा है; सरल, स्वच्छन्द; जहाँ कुत्सा, ईर्ष्या और जलन के लिए स्थान नहीं। मैं भूत की चिन्ता नहीं करता, भविष्य की परवाह नहीं करता। वर्तमान ही मेरे लिए सब कुछ है। भविष्य की चिन्ता हमें कायर बना देती है, भूत का भार हमारी कमर तोड़ देता है! .... हम व्यर्थ का भार अपने ऊपर लाद-कर रूढ़ियों और विश्वासों और इतिहासों के मलबे के नीचे दबे पड़े हैं। .... जो शक्ति, जो स्फूर्ति मानव-धर्म को पूरा करने में लगनी चाहिए थी, सहयोग में, भाई-चारे में, वह पुरानी अदावत का बदला लेने और बाप दादों का ऋण चुकाने की भेंट हो जाती है। और जो यह ईश्वर और मोक्ष का चक्कर है इस पर तो मुझे हँसी आती है। यह मोक्ष और उपासना अहंकार की पराकष्ठा है, जो हमारी मानवता को नष्ट किये डालती है। जहाँ जीवन है, क्रीड़ा है, चहक है, प्रेम है, वहीं ईश्वर है और जीवन को सुखी बनाना ही उपासना है, और मोक्ष है। ज्ञानी कहता है, ओठों पर मुसकिराहट न आये, आँखों में आँसू न आये। मैं कहता हूँ, अगर तुम हँस नहीं सकते और रो नहीं सकते तो तुम मनुष्य नहीं, पत्थर हो। वह ज्ञान जो मानवता को पीस डाले, ज्ञान नहीं है, कोल्हू है।'

यह जीवन की फ़िलासफ़ी है जिसे प्रेमचन्द ने पाठक के सामने रखा है। प्राच्य त्याग और पाश्चात्य भोग, प्राच्य संयम और पाश्चात्य अनियम, ईश्वर पर अन्ध-विश्वास और मानवत्व में ईश्वरत्व को प्राप्त करने की लालसा, त्यागमय पारिवारिक जीवन और बापदादों के ऋण को अस्वीकार करने की कामना, इन विचारों का संमिश्रण 'गोदान' में जगह-जगह दिखाई देता है। प्राच्य-पाश्चात्य संघर्ष से जीवन का एक शास्त्र 'गोदान' में क्रमशः विकसित हो रहा है, पर दुर्भाग्यवश, पूर्ण विकास नहीं होने पाता और प्रेमचन्द जी हमें मझधार में छोड़ कर सहसा अन्तर्धान हो जाते हैं। इस समय हिन्दी साहित्य की नौका कर्णधारहीन प्रवाह में बहती चली जा रही है। भगवान् जाने उसे फिर दूसरा कर्णधार कब मिलेगा। फिर भी हमारा साहित्य

प्रेमचन्द का सदैव कृतज्ञ रहेगा। हरिश्चन्द्र के बाद वह अन्धकार में टटोल रहा था, अपने पड़ोसियों से अपच खाद्य लेकर उदर-पूर्ति कर रहा था। रसना विकृत हो रही थी। प्रेमचन्द ने उसे अपना घर दिखाया — जीवन से उसका सम्बन्ध कर दिया। हमारी भाषा को स्वाभाविकता प्राप्त करा दी। वह अपने बच्चों के मुँह से निकलने लगी। हिन्दी हिन्द की हुई। वह प्रेमचन्द की हिन्दी को देन है। उसका भावी विकास भावी लेखकों पर निर्भर है, पर इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि प्रेमचन्द ने हिन्दी साहित्य को जनता का साहित्य बना दिया। उसके निर्मल जीवन में जनवर्ग के प्रतिबिम्ब दिखाई देने लगे हैं। प्रेमचन्द के पात्र जनवर्ग के प्रतिबिम्ब हैं, प्रेमचन्द के विचार वर्गों को उठाने और मिलाने के भगीरथ प्रयत्न के द्योतक हैं। स्वयं प्रेमचन्द जनता के प्रतीक हैं। उनका स्थूल देह अदृश्य हो गया है पर उनका यह उज्ज्वल प्रतीक तब तक रहेगा जब तक हिन्दी रहेगी और उसके बोलने-वाले रहेंगे।

२३ | बैजनाथ केडिया

बहुत दिनों की बात है, उस समय की, जब कि आज के स्वर्गीय प्रेमचन्द जी उर्दू दुनिया में अपनी लेखनी के चमत्कार दिखाकर पर्याप्त प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके थे पर हिन्दी संसार में जो सम्मान उन्हें मिलनेवाला था वह अभी भविष्य के गहरे अन्धकार में ही छिपा हुआ था।

यह बात ठीक है कि हिन्दी मासिक पत्रों में आपकी कहानियाँ प्रकाशित होने लगी थीं और हिन्दी पाठक भी इस प्रतिभाशाली लेखक की ओर टकटकी लगाये निहारने लगे थे। पर तब तक श्री प्रेमचन्द जी अद्वितीय कहानी लेखक ही माने जाते थे और सो भी समाचार-पत्र-संसार में ही।

ऐसे ही समय में भाई महावीरप्रसाद जी पोद्दार के द्वारा हिन्दी पुस्तक एजेंसी का जन्म हुआ और सबसे पहले वे श्री प्रेमचन्द जी की सात अनोखी कहानियों का एक संग्रह 'सप्त सरोज' के नाम से लेकर हिन्दी जनता के सामने आये।

हो सकता है, उनकी किसी रचना का अन्य किसी स्थान से भी इसके पूर्व प्रकाशन हुआ हो। पर एजेंसी के द्वारा निकली हुई इस पुस्तक को लोगों ने खूब पसन्द किया और श्री प्रेमचन्द जी की लेखनी का उन्होंने पूरा महत्व समझा। इसके बाद उनका कहानी लिखना बराबर जारी रहा। जैसे-जैसे हिन्दी संसार को उनका परिचय होता गया वैसे-वैसे उनकी कहानियों की माँग बढ़ती चली गई।

कुछ दिन बाद भारत का वह वर-पुत्र अपना पहला उपन्यास 'सेवा सदन' लेकर हिन्दी माता के मन्दिर के द्वार पर उपस्थित हुआ। माता ने उनकी इस अनुपम भेंट को सादर ग्रहण करके उन्हें इस पहली रचना पर ही उपन्यास-सम्राट की उपाधि से विभूषित करके गुण-ग्राहकता का परिचय दिया। सौभाग्यवश एजेंसी को ही मातृ-मन्दिर के दूत की तरह इस भेंट को उन तक पहुँचाने का अवसर प्राप्त हुआ था।

'सेवा सदन' के प्रकाशित होते ही हिन्दी संसार में एक हलचल-सी मच गई ? बड़े-बड़े विद्वानों के द्वारा इसकी आलोचना प्रति-आलोचना हुई। कोई उनके पक्ष में था

और कोई विपक्ष में, परन्तु अन्त में, गहरी कसौटियों पर कसे जाकर भी वह खरा उतरा। माता के आदेशानुसार हिन्दी संसार ने इस एक रचना के आधार पर ही उन्हें उपन्यास-सम्राट् मान लिया। फिर तो उनकी दूसरी रचना 'प्रेमाश्रम' के प्रकाशित होते ही मौलिक रचनाओं में उनका स्थान अन्य भाषाओं के अच्छे-से-अच्छे विद्वानों के समकक्ष रखा जाने लगा।

इतना मान मिला, पर जिसको मान मिला उसको इसकी कुछ भी आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई। श्री प्रेमचन्द जी को देखकर, उनके सम्पर्क में आकर, कोई भी इस बात का सहज में विश्वास नहीं कर सकता था कि यह सीधे-सादे आदमी इतनी ऊँची रचना कर सकते हैं।

इसके बाद की बात है। एक बार काशी जाने का मौका मिला। शायद उस समय तक एजेंसी की शाखा वहाँ स्थापित नहीं हुई थी। श्री प्रेमचन्द जी एक भाड़े का मकान लेकर उस समय काशी में ही रहते थे। मैं उन्हीं के पास ठहरा था। पहले दिन जब मैं वहाँ गया, मैंने देखा, जिस व्यक्ति की इतनी ख्याति हो रही है, वह कमरे के बाहर बरामदे में एक चटाई पर बैठे कुछ लिख रहे हैं।

उस समय की उनकी वह सादगी मुझे बहुत ही भाई। जिस मनुष्य में इतनी अधिक सरलता और सीधापन हो यदि उसकी लेखनी से ऐसी ऊँची रचना निकल पड़े तो इसमें आश्चर्य की क्या बात हो सकती है?

मैं भी उनके पास ही वहाँ उसी चटाई पर बैठ गया। बातों-ही-बातों में नई रचना के विषय में बात चल गई। मैंने पूछा—आज कल क्या लिख रहे हैं? उन्होंने अपने उसी सीधे स्वभाव से उत्तर दिया—यह तीसरा उपन्यास चल रहा है, इसके लिए मैं श्री दुलारेलालजी को बात दे चुका हूँ। मेरी तो ऐसी इच्छा नहीं थी कि एजेंसी के सिवा किसी दूसरी जगह दूँ, पर बातों में मैंने ज़बान दे दी।

मैं सच कहता हूँ उनकी इस तरह की विवशता देखकर मेरा और कुछ कहने का भी साहस नहीं हुआ। उनकी रचना थी, वह चाहे जिसे देते; तो भी जिस भाषा और शब्दों का उस समय उन्होंने उपयोग किया उसे सुनकर मुझे दुःख के बदले सुख ही अधिक हुआ।

इसके बाद उनकी एक से एक बढ़कर रचनाएँ निकलीं। लोगों ने समझा था, इस अनमोल खान में रत्नों की कमी नहीं है पर भगवान् को इस अद्‌भुत खान की समय से बहुत पहले ही आवश्यकता आ पड़ी। उन्होंने हिन्दी संसार की यह अमूल्य वस्तु छीन ली।

उनके स्वर्गवास के कुछ दिन पहले ही फिर उनसे मिलने का अवसर मिला। वे अपने पुराने निवास-स्थान को छोड़कर रामकटोरा के पास एक दूसरे स्थान पर चले गये थे। दोपहर का समय था। कई साल बाद मिलने का मौका मिला। पर आज जो उनकी शारीरिक अवस्था देखी, देखकर मन बहुत दुःखी हुआ।

जिन प्रेमचन्द जी के नाम से हिरण खड़े होते हैं, वह अपनी आयु के अन्तिम दिन इस तरह निराशा में बिता रहे हैं यह बात हिन्दी संसार के लिए शोभा नहीं देती। पर वह मनीषी आत्मा तो उस समय भी अपनी उसी पुरानी मुद्रा में वर्तमान थी।

प्रेमचन्द जी चले गये। और भी दो दिन आगे पीछे सबको जाना है। पर हिन्दी भाषियों को जो कुछ वह दे गये हैं वह अमूल्य वस्तु है, और जब तक यह संसार में मौजूद रहेगी प्रेमचन्द जी यहीं हमारे बीच में ही विराजमान दिखाई देंगे।

●

२४ | ब्रज नन्दन शर्मा

'प्रेमचन्द जी के मरने से हिन्दी साहित्य रूपी आभूषण का जड़ाऊ हीरा गिर गया। आभूषण का सौन्दर्य जाता रहा।' — यह वाक्य है एक १५ वर्ष के तेलगू-भाषी बालक का, जो उसने प्रेमचन्द जी के निधन पर अपने लेख में लिखा था। यद्यपि यह एक साधारण विद्यार्थी के 'कम्पोज़ीशन' का वाक्य है, तथापि इस वाक्य में सारे दक्षिण भारत की आवाज़ गूंज रही है।

प्रेमचन्द जी के निधन से उत्तर के लोगों के हृदय पर जैसा आघात लगा, उससे कम आघात का अनुभव दक्षिण के हिन्दी प्रेमियों ने नहीं किया। सारे मद्रास प्रान्त में शोकसभाएँ हुईं और लोगों ने दिवंगत आत्मा के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित की। जिस दक्षिण भारतीय ने प्रेमचन्द की एक भी कहानी पढ़ी थी वह यह समाचार सुनकर अवाक् रह जाता था। उस समय मुझे मालूम पड़ा, प्रेमचन्द जी हिन्दी की ही नहीं, भारत की विभूति थे। पर उनकी जीवनावस्था में यह अनुभव नहीं हुआ।

आज उनके निधन से बहन शिवरानी देवी ही विधवा नहीं हुईं, वरन् राष्ट्र-बाणी भी कुछ काल के लिए विधवा हो गई है। शिवरानी देवी तो अपने बच्चों का मुंह देखकर तथा मित्रों की सहानुभूति पर धीरज धर रही हैं पर, बेचारी हिन्दी को कौन धीरज धरावे ? अब कौन प्रेमचन्द बनने का हौसला करेगा ? प्रेमचन्द जी के जीवन को देखते हुए कौन ऐसा साहस करेगा ? प्रेमचन्द जी की एक चिट्ठी, जो कुछ मास पहले 'हंस' की आर्थिक दुरवस्था का ज़िक्र करते हुए आई थी, अब भी मेरे फ़ाइल में पड़ी हृदय में शूल भोंक रही है। वह पुकार-पुकार कर कह रही है कि प्रेमचन्दजी के अकाल-मरण की ज़िम्मेदारी मृत्यु पर ही नहीं वरन् हम पर भी है, और है उन प्रकाशकों और सम्पादकों पर जिन्होंने प्रेमचन्द जी का रक्त चूस कर अपना पेट बढ़ाया है। प्रेमचन्द जी का आखिरी नायक होरी मानो उनका अपना ही चित्र है। आमरण पूंजीपतियों के हाथ का शिकार बनकर, आमदनी का ज़्यादा भाग साहित्य की सेवा में खर्च कर, अन्त में अपनी मनोकामना सिद्ध होने के पहले ही परिश्रम से चूर-चूर

होकर अकाल-काल-कवलित हो जाना — प्रेमचन्द जी की संक्षिप्त जीवनी है, और वही होरी के चरित्र में दिखाया गया है। जिस तरह प्रेमचन्द जी के निधन पर हमारी आँखों में आँसू छलछला आये थे, ठीक उसी तरह होरी के मरण पर भी हम फूट-फूट कर रो उठते हैं। फिर प्रेमचन्द बनने की कौन हिम्मत करेगा? इतने पर ही हमने उन्हें नहीं छोड़ा। उनके वेदना-व्यथित हृदय की और कला की हमने धज्जियाँ उड़ाईं और मूछों पर ताव दिया। हायरे अभाग्य!

इसमें शक नहीं कि प्रेमचन्द जी हिन्दी-भाषी जनता के सच्चे प्रतिनिधि थे। यही नहीं, वरन् वे हिन्दुस्तानी भाषा और सभ्यता के सच्चे उपासक और पोषक थे। उनकी कला, उनका आदर्शवाद, उनकी कल्पना, उनके चरित्र, उनकी सौन्दर्यानुभूति, उनका सब कुछ उत्तर भारत (हिन्दी प्रान्त) का सच्चा प्रतिनिधित्व करता है। प्रेमचन्द जी उस जनता के सच्चे प्रतिनिधि थे जो नित्य तुलसी रामायण का पाठ करती है। तुलसी के बाद मध्यवर्ग की जनता के महान, अमर साहित्यकार प्रेमचन्द ही हुए। उनमें भारतीय आत्मा बोलती है। अगर किसी श्रद्धालु का यह विश्वास इस अविश्वासी युग में मान्य हो कि, वाल्मीकि ही तुलसी हुए, तो मेरा यह कथन भी मान्य होना चाहिए कि तुलसी ही इस युग के प्रेमचन्द हुए। जिस तरह तुलसी शिवकेशव का समन्वय करके श्रेय के अधिकारी हुए हैं, उसी तरह प्रेमचन्द हिन्दी-उर्दू की समस्या को एक तरह से सुलझा गये हैं। राष्ट्र-भाषा की रूप-रेखा के नाम पर जो झगड़ा चल रहा है, हिन्दी, उर्दू, हिन्दुस्तानी का जो हो-हल्ला मच रहा है, उसका हल प्रेमचन्द जी ने अपनी भाषा द्वारा कर दिया है। उनकी भाषा ही राष्ट्र-भाषा का सच्चा स्वरूप है। उनकी व्यंजनात्मक शैली से ही हिन्दुस्तानी या हिन्दी अपनी पूरी अभिव्यक्ति कर सकेगी। सचमुच वैसी जानदार भाषा लिखनेवाला आज तक कोई माई का लाल पैदा नहीं हुआ।

खैर, आज न तो मैं प्रेमचन्द जी की जीवनी लिखने बैठा हूँ और न उसकी कला-समीक्षा ही। यह काम महान् साहित्य-समीक्षकों का है, क्योंकि प्रेमचन्द जी महान् थे। मैं तो अभी सिर्फ़ दक्षिण भारत की हिन्दी-प्रेमी जनता की ओर से प्रेमचन्द जी के प्रति श्रद्धांजलि अर्पण कर रहा हूँ।

मुझे वह दिन कभी नहीं भूल सकता। प्रेमचन्द जी नाथूरामजी प्रेमी के साथ 'दक्षिण भारत-हिन्दी-प्रचार-सभा' के सालाना जलसे में पदवीदान-समारंभ का भाषण करने आये थे। हम प्रचारक लोग मधु-मक्खियों की तरह उन्हें घेरे रहते थे। बहुत से हिन्दी-प्रेमी और विद्यार्थी सिर्फ़ प्रेमचन्द जी का दर्शन करने के लिए ही दस-दस और पन्द्रह-पन्द्रह रुपये खर्च करके वहाँ पहुँचे थे। बहन शिवरानी देवी भी उनके साथ थीं। जब लोगों ने सुना कि प्रेमचन्द जी सारे दक्षिण-भारत में हिन्दी प्रचार के केन्द्रों का निरीक्षण करेंगे — तो द्रविड़ भाषा-भाषी सज्जनों के मुँह पर जो आनन्द की चमक मैंने देखी वह उत्तर भारत के किसी व्यक्ति के मुँह पर पाना असम्भव

था। हिन्दी-प्रेमियों की दृष्टि में उनका किसी केन्द्र का निरीक्षण करना जवाहरलाल या राजेन्द्र प्रसाद के दौरे से कम महत्वपूर्ण न था। पर दुर्भाग्यवश, फिर कभी का वादा करके मैसूर और बंगलोर होते हुए वे बम्बई लौट गये। हमारी आशा, आशा ही रह गई। 'फिर कभी' फिर कभी न आया। आज भी प्रेमचन्द जी की मृत्यु स्वप्नवत् मालूम पड़ती है। आज भी उनके अनुभवों की गहराई बतानेवाला झुर्रीदार चेहरा, करुणा से छलछलाती आँखें, उनकी ज़िन्दादिली को व्यक्त करनेवाली मुस्कुराहट, साहित्य सेवा की चिन्ता में डूबा सिकुड़नवाला ललाट, दिमाग़ को उलझी हुई समस्याओं की तरह उलझी हुई मूछें, आर्थिक दुरवस्था की द्योतिका झुकी हुई कमर और पूंजीपतियों का शिकार होने की घोषणा करनेवाली रक्तहीनता और सफ़ेदी आँखों में घूम रही है।

प्रेमचन्द जी राष्ट्रभाषा के गौरव थे। जब कभी यहाँ किसी साहित्यिक मित्र के सामने हिन्दी-साहित्य के तेज और श्री की बात चलती है तो हम प्रेमचन्द जी के नाम पर ही उनसे बोलने का साहस करते हैं। हिन्दी-साहित्य की दरिद्रता को दरिद्र प्रेमचन्द ने ढँक दिया। आज हम प्राचीन साहित्य में गोस्वामी जी और नवीन-साहित्य में प्रेमचन्द जी की दुहाई देकर ही दक्षिण में सिर उठा कर जी रहे हैं। पाठकों को आश्चर्य और कुछ संकोच भी होगा यह सुनकर कि प्रेमचन्द जी को उत्तर की अपेक्षा दक्षिण में ज्यादा सम्मान और गौरव प्राप्त है, क्योंकि यहाँ के सिंह या शर्मा लोगों ने पार्टीबन्दी का रंगीन चश्मा लगाकर उन्हें नहीं देखा। उन्होंने प्रेमचन्द को कलाकार और आदर्शवादी के रूप में ही देखा है। मद्रास प्रान्त का हिन्दी-विद्यार्थी समाज, जिसकी संख्या अब हज़ारों से आगे बढ़ गई है, प्रेमचन्द का नाम सुनकर उछल पड़ता है। बहुत से समझदार और बुद्धिमान लोग उन्हें टालस्टाय भी कह डालते हैं। मेरे एक आन्ध्र मित्र ने, जो अपने को साम्यवादी कहते हैं, कहा था कि प्रेमचन्द अगर गोदान के बाद लिखते तो वह उपन्यास 'माँ' की जोड़ का होता, और वे सोवियट-हिन्दुस्तान के गोर्की होते, पर हमारे दुर्भाग्य ने छींक दिया।

दक्षिण में तुलसीदास की अपेक्षा प्रेमचन्द के पाठक अधिक हैं। यहाँ उन्होंने साहित्य क्षेत्र में तुलसी से ज़्यादा ख्याति पाई है। यह लिखते डरता हूँ पर सत्य का अनुरोध वाध्य करता है। हिन्दी के किसी विद्यार्थी से, जो तुलसी और प्रेमचन्द की कृतियों से कुछ परिचित है, पूछिये कि तुम हिन्दी* कवियों में सबसे बड़ा किसको मानते हो, तो वह फ़ौरन कह उठेगा — प्रेमचन्द। हो सकता है कि उसकी कसौटी ठीक न हो अथवा उसका हिन्दी-साहित्य का ज्ञान अपरिपक्व हो। परन्तु प्रेमचन्द ने

* यहाँ कवि में और लेखक में फर्क नहीं माना जाता। कवि से दोनों का बोध होता है।

यहाँ के विद्यार्थियों पर जो जादू डाला है वह और किसी कवि या लेखक ने नहीं। प्रेमचन्द जी के साहित्य की जितनी खपत दक्षिण में हुई है उस अनुपात में उत्तर में नहीं हुई। आप यहाँ के किसी देहाती गाँव में जाइये, यदि वहाँ एक भी हिन्दी प्रेमी हो तो आपको सेवा-सदन, सप्त सरोज और प्रेमचन्दजी अवश्य मिलेंगे। और किताबों की रूप-रेखा चाहे भले ही न दिखाई पड़े।

यहाँ की पत्रिकाओं में हर महीने प्रेमचन्द की एकाध कहानी का अनुवाद निकलता है। सेवा-सदन, प्रेमाश्रम, कर्मभूमि, वरदान आदि का अनुवाद भी हो गया है। नवनिधि का एक बहुत पुराना अनुवाद तेलगू में 'मल्लिका गुच्छम' के नाम से मेरी नज़रों से गुज़रा है जो शायद प्रेमचन्द जी का हिन्दी में जन्म होने के पहले का है। प्रेमचन्दजी के साहित्य ने यहाँ काफ़ी प्रशंसा प्राप्त की है और प्रभाव भी डाला है। मेरे एक वकील मित्र हैं उन्होंने प्रेमचन्द से प्रभावित होकर अपने पुत्र नाम प्रेमचन्द रखा है।

मैं यह निस्संकोच होकर कह सकता हूँ कि प्रेमचन्द जी का उपयोग दक्षिण में ज्यादा हुआ है। पर हिन्दी भाषी जनता ने अभी तक प्रेमचन्द जी से पूरा लाभ नहीं उठाया है। मेरे एक मित्र ने उस दिन कहा कि क्यों साहब, देखिये शरत् बाबू के उपन्यासों के कैसे सुन्दर फ़िल्म तैयार किये गये हैं। 'रंगभूमि' का फ़िल्म तैयार किया जाय और 'के० सी० दे' महोदय को सूरदास का पार्ट दिया जाय, तो वह फ़िल्म सबको मात न कर जायगा ? मैंने उन्हें जवाब तो नहीं दिया, पर मन में कहा कि अभी हिन्दीवालों को प्रेमचन्द के ऊपर कीचड़ उछालने से ही फुर्सत नहीं मिली है, फ़िल्म कौन बनाये ? और फिर शरत् बाबू का जो गौरव प्रत्येक बंगाली के हृदम में है वह हम हिन्द-भाषियों के हृदय में हो तब न ?

अन्त में मैं दक्षिण के हिन्दी-प्रेमियों की ओर से हिन्दी-विद्वानों और प्रेमियों से विनती करता हूँ कि प्रेमचन्द जी को अब भी हम पहचानें, उनकी इज्ज़त करें और उनकी स्मृति-रक्षा के उपाय करें, जिससे पुनः-पुनः प्रेमचन्द के पैदा होने की भूमि तैयार हो।

यदि प्रेमचन्द के मकान को या उनके कमरे को ज्यों-का-त्यों सुरक्षित रखा जाय, उसमें प्रेमचन्द जी की प्रिय वस्तुओं का संग्रह हो, उनके नित्य व्यवहार में आनेवाली चीज़ें रखी जायँ, तथा इस तरह उसे 'प्रेमचन्द म्यूज़ियम' बना दिया जाय तो वह हिन्दी-प्रेमियों का एक तीर्थ-क्षेत्र हो जायगा। दक्षिण से काशी जानेवाले हिन्दी प्रेमी यात्री भी विश्वनाथ के दर्शन के साथ-साथ उसके भी दर्शन करेंगे। आशा है, उनकी स्मृति रक्षा के लिए जो सज्जन प्रयत्न करें वे इस बात पर भी ध्यान देंगे।

प्रेमचन्दजी ने देश का इतिहास अपने शरीर की आखिरी बूँद देकर लिखा है। क्या हम उनका इतिहास भी सुरक्षित न करेंगे।

व्रज नन्दन शर्मा

२५ | मन्ज़ूरुल हक़ 'कलीम'

मेरा जुलाई सन् १९१६ से मई सन् १९१८ तक का शिक्षा-काल स्वर्गीय मुंशी प्रेमचन्द के साथ उनके शिष्य के रूप में बीता। आप उस ज़माने में नार्मल स्कूल गोरखपुर में फर्स्ट असिस्टेण्ट थे। आपका नियम था कि स्कूल में आम तौर पर ठीक वक्त पर पहुँच जाते थे। रहने के लिए आपको स्कूल ही में सरकारी मकान मिला था। घण्टा बजा और आप शायराना अन्दाज में निकले। अकसर आप खुले सर, बाल बिखरे हुए और एक कोट, जिसके बटन खुले रहते थे, और धोती पहने एक अजीब अन्दाज़ से स्कूल आते थे। लड़के जितना उनका अदब करते थे किसी दूसरे का नहीं करते थे। मेरे दर्जे को वह इतिहास पढ़ाते थे। उनका दस्तूर यह था कि खुद इतिहास की पुस्तक लेकर पढ़ते चले जाते थे। चूंकि लड़के मिडिल और ट्रेनिंग पास होते थे इसलिए ज्यादा दिक्कत नहीं पड़ती थी। एक घण्टे में जो कुछ पढ़ाना होता पन्द्रह मिनट में पढ़ाकर इतिहास के बारे में वह बातें बयान करते, जो उस पुस्तक में न होती। नहीं मालूम उनकी जानकारी कितनी अथाह थी। अक्सर ऐसा होता कि जो कुछ इतिहास की पुस्तक में से पढ़कर सुनाते उसके खिलाफ़ इतिहास के दूसरे हवालों से बयान करते। कुछ घटनाओं के बारे में यह भी दिखलाते कि सिर्फ हिन्दू मुसलमानों में फूट डालने के लिए उनको लिखा गया है। ग़रज़ उनका घण्टा अजीबो-गरीब जानकारियों का घण्टा होता। घण्टा खत्म होने के पहले यह भी कह देते कि देखो जो कुछ मैंने बयान किया है वह समझने की चीज़ है, इम्तहान में वही लिखना जो तुम्हारी किताब में है वर्ना फेल हो जाओगे।

क्लास में उनके आते ही ऐसी ज़िन्दादिली पैदा हो जाती थी कि हर एक का ध्यान उनकी तरफ लग जाता। यह ज़रूरी न था कि जो विषय पढ़ाना है वही पढ़ाया जाय बल्कि जिस विषय की ओर उनका झुकाव या लड़कों का तकाज़ा हुआ उसी के बारे में बताने लग जाते। अगर क्लास में पढ़ाते वक्त कोई हँसी की बात आ गयी तो बेअख्तियार हँसने लगते। उनको किसी का डर नहीं था। एक बार की बात है

कि इंसपेक्टर साहब मुआइने के लिए आये। बाबू बेचनलाल साहब हेडमास्टर जो बहुत सीधे आदमी थे कुछ परेशान से थे। तमाम लड़के भी अपनी-अपनी ड्रेस पहने हुए थे मगर हमारे उस्ताद का वही आलम था जो पहले लिख चुका हूँ — नंगे सर, बाल बिखरे हुए, कोट का बटन खुला हुआ। इंसपेक्टर साहब क्लास में आये मगर उसका भी कोई असर न हुआ। कुछ अंग्रेज़ी में बातचीत हुई उसके बाद इंसपेक्टर साहब चले गये।

उस ज़माने में उस्ताद मरहूम के एक छोटा बच्चा धुन्नू था। उसको हम लोग अक्सर खिलाते थे। जिस वार्ड में हम लोग थे उसके बाद ही हमारे उस्ताद का मकान था। इसलिए जब उन्हें ज़रूरत होती हम लोगों को बुला लेते। उस ज़माने में जितनी कहानियाँ लिखी गयीं और पत्रिकाओं में भेजी गयीं लगभग सब की सब मेरी साफ की हुई थीं। मैंने उस ज़माने में एक नावेल 'महमूद और सायरा' के नाम से लिखा था। ऐसे मेहरबान और मुहब्बती उस्ताद को पाकर इसलाह न लेता तो ग़लती होती। चुनांचे मैंने उसे उन्हें दिखाया। दूसरे रोज़ यह कहकर उसे वापस कर दिया कि इतनी फ़ुरसत किसको है कि इतनी बड़ी किताब देखे। अगर शौक है तो छोटे-छोटे अफ़साने लिखो। फिर मैंने कभी हिम्मत न की। दो-चार कहानियाँ उनका आदेश पूरा करने के लिए लिखीं जो 'ज़माना' में छप गयीं।

आपकी कहानियों की ख्याति के कारण अक्सर लोग दूर-दूर से उनसे मिलने के लिए आया करते थे। एक मर्तबा दो साहब मिलने के लिए आए, एक आजमगढ़ की किसी तहसील के तहसीलदार थे दूसरे कोई रईस थे। रईस ने कुछ रुपया भी भेंट किया था। तहसीलदार साहब का नाम शायद मन्नन द्विवेदी था।

जब असहयोग में नौकरी से अलग हुए तो तमाम लड़के स्कूल छोड़ने पर आमादा हो गये, मगर आपने सबों को रोका और बताया कि यह रास्ता बहुत कठिन है। मैं तो इस काबिल हो गया हूँ कि अपना और अपने बच्चों का पेट पाल लूँ मगर तुम लोग अभी इस काबिल नहीं। इसलिए अगर तुम लोगों ने स्कूल छोड़ा तो बड़ी मुश्किल में पड़ जाओगे। चुनांचे बहुत से लड़के स्कूल में रह गये फिर भी कुछ लड़के तो मुहब्बत के मारे स्कूल से अलग हो ही गये।

●

२६ | मौलवी महेश प्रसाद

सन् १९१२ ई० में श्री प्रेमचन्द जी हमीर जिला में शिक्षा विभाग के सब-डिप्टी इन्सपेक्टर थे। महोबा में रहते थे। मुझे ठीक याद नहीं कि मई का महीना था या जून का जब कि मुझे आर्य समाज के एक प्रचारक के रूप में महोबा जाना पड़ा था। उस समय मुझे उन्हीं के यहाँ ठहरना पड़ा था। यही पहला अवसर था कि मुझे केवल दर्शन का ही सौभाग्य प्राप्त न हुआ था बल्कि उनके यहाँ ठहरने और सात-आठ दिनों तक ठहरने के कारण उनके आचार-विचार से भी बहुत कुछ लाभ उठाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था।

मैं उस समय नवयुवक था। सांसारिक अनुभवों से बहुत कम परिचित था। वह मुझसे कहीं अधिक अनुभवी थे। अतः दोनों समय एक साथ भोजन करने, दिन-रात में कई बार बातचीत होने से निम्नलिखित बातों के सम्बन्ध में उनसे लाभ उठाने का अवसर प्राप्त हुआ था —

(१) आर्यसमाज और उसके कार्य-सम्बन्धी बातों के विषय में।

(२) उनके द्वारा ही मुझे ईसाइयों के उस कार्य के विषय में बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त हुआ था जो उस समय केवल महोबा में ही नहीं, बल्कि हमीरपुर जिले में भी हो रहा था। उन्होंने बताया था कि हमारी सामाजिक त्रुटियों का ही फल है कि महोबा अथवा बुन्देलखण्ड के स्थानों में हिन्दुओं के अनेक लड़की-लड़के ईसाइयों के घरों में पहुँच गये हैं।

(३) महोबा से सम्बन्ध रखनेवाली कई ऐतिहासिक बातें मुझे उनसे ही मालूम हुई थीं, और उन बातों के जानने के कारण महोबा को विशेषरूप से देख सका था।

(४) कुछ बातें लेखन-शैली विषयक थीं।

उस समय मेरे साथ दो महाशय और थे। हम तीनों का सत्कार उन्होंने निरन्तर सात-आठ रोज़ तक जिस प्रेम व नम्रता के साथ किया था उसको हम कभी भूल नहीं सकते। निदान आज, जब कि उनके व्यक्तित्व और उनके उस सद्व्यवहार, सरलता

व उदारता का ध्यान दिल में आता है, तो प्रशंसा और श्रद्धा के भाव हृदय से निकले बिना नहीं रह सकते।

सन् १९१२ ई० के बाद उनसे पुनः मिलने का अवसर सन् १९२१ ई० में बनारस में मिला था। महोबा में मिलने वह ठहरने का स्मरण दिलाते ही उनको पूर्व बातों का ख्याल आ गया। इसके पश्चात् कभी-कभी मिलना-जुलना बराबर हो ही जाता था परन्तु यह बात कहे बिना नहीं रह सकता कि सन् १९२१ ई० या उसके बाद में उनकी प्रतिष्ठा सन् १९१२ ई० से यद्यपि कहीं अधिक हो गई थी तथापि उनमें नम्रता व सरलता आदि सद्भावों में कुछ कमी मुझे प्रतीत न हुई, बल्कि वह भी उन्नति के शिखर पर ही बैठी हुई प्रतीत हुईं।

(२)

श्री प्रेमचन्द जी को जो अक्षय कीर्ति हिन्दी में प्राप्त है वह स्पष्ट ही है; उर्दू में भी उनकी प्रतिष्ठा हिन्दी से कम नहीं है।

२४ और २५ अक्तूबर सन् १९३६ ई० को अलीगढ़ में उर्दू की एक विशेष सभा हुई थी। उसमें भारत के अनेक भागों के वह लोग सम्मिलित हुए थे जिनको उर्दू के प्रति प्रेम है। उस अवसर पर श्री प्रेमचन्द जी के बारे में मुझ से अनेक लोगों ने जो कुछ पूछा और उनकी मृत्यु पर अनेक उर्दू समाचार पत्रों और पत्रिकाओं में जो कुछ छपा उससे मालूम हुआ कि मुसलमान उर्दू भक्त भी उनको उसी आदर की दृष्टि से देखते थे।

यह कहना भी अनुचित नहीं कि श्री प्रेमचन्द जी हिन्दी जगत् में प्रायः उपन्यास लेखक, कहानी लेखक के रूप में ही प्रसिद्ध हैं। किन्तु 'जागरण' और 'हंस' के लेख व टिप्पणी आदि इस बात के साक्षी हैं कि वह कुछ और भी थे। इसके सिवा उर्दू के कुछ पत्र पत्रिकाओं में उनके जो लेख किसी-किसी समय में अनेक विषयों पर निकल चुके हैं उनसे स्पष्ट है कि वह अच्छे टिप्पणीकार, समालोचक, उच्च कोटि के विचारशील व्यक्ति थे। उनकी एक पुस्तक उर्दू में 'बा कमालों के दर्शन' के नाम से प्रकाशित है। इसमें अनेक महापुरुषों के जीवन चरित्र हैं। यह चरित्र भाषा, विचार और शैली की दृष्टि से बड़े अच्छे हैं।

बहुत दिन हुए उन्होंने अपना एक उर्दू लेख किसी पत्रिका में छपवाया था। वह भारतीय इतिहास से सम्बन्ध रखने वाला था। मुझे खेद है कि न तो इस समय उस पत्रिका का नाम याद आ रहा है और न उस लेख का ही।

(३)

'जमाना' पत्रिका के सम्पादक मुंशी दयानारायण निगम जी के साथ श्री प्रेमचन्द जी का घनिष्ठ सम्बन्ध था। सन् १९२३ ई० में निगम जी को एक छोटे बच्चे की मृत्यु का दुःख सहना पड़ा था। इस अवसर पर निगम जी को आपने जो पत्र उर्दू में लिखा था उसका आशय यह था —

'भाई जान ! तस्लीम —

कल प्रातःकाल एक पत्र लिखा। सायंकाल आपका कार्ड मिला। पढ़कर दुःखी हुआ। बीमारियाँ और परेशानियाँ तो जीवन के तत्व हैं; किन्तु बच्चे की शोकजनक मृत्यु एक हृदय विदारक घटना है और उसे सहन करने का यदि कोई ढंग है तो यही है कि संसार को एक तमाशा का स्थान या खेल का मैदान समझ लिया जाय। खेल के मैदान में वही व्यक्ति प्रशंसा का भागी होता है जो जीत से फूलता नहीं, हार से रोता नहीं। जीते तब भी खेलता है, हारे तब भी खेलता है। जीत के बाद यह उद्योग होता है कि लड़े नहीं। हार के बाद जीत की अभिलाषा होती है। हम सबके सब खिलाड़ी हैं, किन्तु खेलना नहीं जानते। एक बाज़ी जीती, एक गोल जीता, तो 'हिप हिप हुर्रे' की ध्वनि से आकाश मण्डल गूंज उठा, टोपियाँ आकाश में उछलने लगीं, भूल गये कि यह जीत सर्वदा के लिए विजय की गारण्टी नहीं है कि दूसरी बाज़ी में हार न हो। इसी प्रकार यह भी स्पष्ट रहे कि यदि हारे तो उत्साहरहित हो गये, रोये, किसी को धक्के दिये, फ़ाउल खेला और ऐसे उत्साह-हीन हो गये मानो फिर जीत के मुख देखने का सौभाग्य प्राप्त न होगा। ऐसे ओछे, अधम व्यक्ति को खेल के विस्तृत मैदान में खड़े होने का कोई अधिकार नहीं। अँधेरी कोठरी और पेट की चिन्ता, केवल यही उसके जीवन की सृष्टि है।

हम क्यों ख़याल करें कि हमें हमारे भाग्य ने धोखा दिया? ईश्वर को क्यों कोसें? हम इस विचार को सम्मुख रखकर क्यों दुखी हों कि जगत् हमारे सामने से हमारी भरी थाली खींच लेता है? क्यों इस चिन्ता से पीड़ित हों कि डाकू हमारे ऊपर छापा मारने की ताक में है? जीवन को इस दृष्टि से देखना अपने हृदय की शान्ति से हाथ धोना है। बात दोनों एक ही हैं। डाकू ने छापा मारा तो क्या, हार में घर की सारी पूंजी खो बैठे तो क्या? भेद केवल यह है कि एक बात मजबूरन होती है और दूसरी बात अपनी ओर से होती है। डाकू ज़बरदस्ती जान और माल पर हाथ बढ़ाता है, किन्तु हार ज़बरदस्ती नहीं आती। खेल में सम्मिलित होकर हम स्वयं हार और जीत को बुलाते हैं। डाकू के द्वारा लूटा जाना जीवन की साधारण बात नहीं, बल्कि यह तो एक असाधारण घटना है। खेल में हारना और जीतना साधारण बातें हैं। जो खेल में सम्मिलित होता है वह भलीभाँति जानता है कि हार और जीत दोनों सामने आयेगी। इस कारण उसे हार से निराशा नहीं होती, जीत में फूल नहीं जाता, हमारा काम तो केवल खेलना है — खूब दिल लगाकर खेलना, खूब जी तोड़कर खेलना, अपने को हार से इस प्रकार बचाना, मानो हम दोनों लोकों की सम्पत्ति खो बैठेंगे। किन्तु हारने के पश्चात, पटखनी खाने के बाद, धूल झाड़कर हमें खड़े हो जाना चाहिए और फिर ताल ठोंककर विरोधी से कहना चाहिए कि एक बार और!

खिलाड़ी बनकर वास्तव में आपको बहुत शान्ति प्राप्त होगी। मैं स्वयं नहीं कह

सकता कि इस कसौटी पर मैं पूरा उतरूँगा या नहीं, पर अब मुझे किसी क्षति पर इतना खेद कदापि न होगा जितना आज से कुछ वर्षों पूर्व हो सकता था। मैं संभवतः अब यह न कहूँगा कि हाय, जीवन व्यर्थ हुआ! कुछ न किया!

जीवन खेलने के लिए मिला था। खेलने में कमी नहीं की। आप मुझसे अधिक खेले हैं। हार और जीत दोनों देख चुके हैं। आप जैसे खिलाड़ी के लिए भाग्य को कोसने को आवश्यकता नहीं। कोई गोल्फ़ और पोलो खेलता है, कोई कबड्डी खेलता है। बात एक ही है। हार और जीत दोनों ही मैदानों में हैं। कबड्डी खेलने वाले को जीत की प्रसन्नता कुछ कम नहीं होती। इस हार के लिए खेद न कीजिए। आपने स्वयं खेद न किया होगा। आप मुझसे अधिक अभ्यासी हैं। इत्यादि ....'

मृत्यु से कुछ काल पहले मैं कई बार उनकी सेवा में पहुँचा था। वह जान गये थे कि अब बीमारी से छुटकारा पाना असंभव है; किन्तु उनके मुख या शब्दों से किसी प्रकार भी घबराहट या चिन्ता प्रतीत नहीं होती थी। निदान जो कुछ उन्होंने लिखा वह सर्वथा उन पर चरितार्थ हो रहा था। इस सम्बन्ध में अधिक क्या कहा जाय। ईश्वर उनकी आत्मा को शान्ति प्रदान करे!

•

२७ | मुहम्मद अस्करी

स्वर्गीय मुंशी प्रेमचन्द से मेरी पहली मुलाकात मौलाना ज़फ़रुल मुल्क साहब एडीटर 'अन्नासिर' के साथ हुई — जब यह दोनों साहब मेरे घर तशरीफ़ लाये थे। यह वाक़या सन् १९२४ या २५ का है जब मैं नौकरी से अलग होकर कलकत्ते से आ गया था। उसी ज़माने में शमसुल उलमा मौलाना कमालुद्दीन साहब, प्रोफ़ेसर अरबी वा फारसी लखनऊ युनिवर्सिटी की कोशिशों से लखनऊ में उर्दू अंजुमन कायम हुई थी और मैं और सैयद मसूद हसन साहब रिज़वी भी उसके मेम्बर थे। खैर, मौलाना ज़फ़रुल मुल्क साहब ने मुंशी प्रेमचन्द साहब का परिचय कराते हुए मुझसे कहा था कि देखिए यह भी आपकी अंजुमन के एक सरगर्म मेम्बर होंगे और जिस तारीफ़ के वह अधिकारी थे यानी उर्दू में उनकी अफसाना निगारी और हिन्दी में उनकी प्रसिद्धि यह सब बातें संक्षेप में बतला दीं। मुंशी साहब को देखकर मेरे ऊपर एक खास असर पड़ा। मझोला कद, छरहरा बदन, लम्बा चेहरा, नाक-नक्शा बहुत दुरुस्त, आँखें बड़ी और साफ़, सफ़ेद साफ़ा बाँधे हुए जो उन पर बहुत फबता था। यह साफ़ा मैंने उनको अक्सर बाँधे देखा है। मुझपर मुंशी साहब की मनस्विता और योग्यता का फौरन प्रभाव पड़ा। उन्होंने बातचीत में कम हिस्सा लिया मगर हँसी और मज़ाक की बातों में हमारे साथ शामिल रहे और अगर सच पूछा जाय तो हम लोगों से ज्यादा हँसे। मुंशी साहब की यह विशेषता थी (जो उनकी ज़िन्दादिली और नेकदिली की खास अलामत थी) कि अक्सर हँसते थे और ज़ोर ज़ोर से क़हक़हे के साथ हँसते थे। मैंने उनको दो-तीन बरस के दौरान में हमेशा हँसमुख पाया। उनका चेहरा हमेशा खिला रहता था। कभी गुस्सा उनके चेहरे पर न देखा। कभी-कभी मैं उनसे मज़ाक में कहता था कि क्यों साहब क्या आपको गुस्सा कभी नहीं आता ? क्या आप घर में भी कभी गुस्सा नहीं करते ? इस पर वह हमेशा हँस देते थे। यह चेहरे का खिला होना और यह खुशमिज़ाजी इन्सान के लिए सबसे बड़ी नेमत है। सुना जाता है कि इससे उम्र बढ़ती है मगर अफसोस है

कि मुंशी साहब पर यह नियम लागू न हुआ और अभी वह बूढ़े भी नहीं हुए थे कि इस दुनिया से सिधार गये। मुझको अच्छी तरह याद नहीं है कि मुन्शी साहब उर्दू अंजुमन के जलसों में शरीक होते थे या नहीं। मगर इतना ज़रूर याद आता है कि वह मेम्बर हो गये थे और हमारी अंजुमन को गर्व था कि एक ऐसा योग्य और नामी उर्दू-हिन्दी लेखक उसका सदस्य है।

सन् १६२६ में जब मुन्शी नवलकिशोर के प्रकाशन गृह से मेरा सम्बन्ध हुआ यानी मैं पब्लिशिंग डिपार्टमेण्ट का सुपरिण्टेण्डेण्ट हुआ तो उसी के कुछ अरसे बाद 'माधुरी' पत्रिका के सिलसिले से मुंशी साहब भी वहाँ नौकर हुए। ग़ालिबन यह सन् १६२७ या २८ का वाकया है। गो 'माधुरी' का दफ्तर एक कमरे में कोठे पर था मगर मुंशी साहब की और 'माधुरी' के स्टाफ के कुछ लोगों की बैठक मेरे कमरे से लगे हुए एक कमरे में होती थी। उसी ज़माने में जब कि हर वक्त का साथ था, मुझसे और उनसे मुलाकात बढ़ी और मुझको उनके चरित्र के अध्ययन का अच्छा अवसर मिला। उस ज़माने में मुंशी साहब 'माधुरी' के अलावा छापेखाने की कुछ टेक्स्टबुकें भी तैयार करते थे। जो व्यक्ति बड़े-बड़े उपन्यासों का रचयिता हो, छोटी कहानियों के लिखने में अपना जोड़ न रखता हो उसके ज़िम्मे छोटे बच्चों की किताबों की तैयारी कर दी गयी! मैं अक्सर कहा करता था कि देखिए घुड़दौड़ का घोड़ा इक्के और तांगे में जुते तो कैसा चलेगा? उन्हीं टेक्स्टबुकों की उर्दू पर नज़र डालने के लिए जब मुझसे कहा गया तो मुंशी साहब ने कहा कि मिर्ज़ा साहब अब फुट से जोड़ी हो गयी!

जैसा मैंने ऊपर जिक्र किया मुंशी साहब की ज़िन्दादिली, नेकी और हँसोड़पन से उनके तमाम साथी जो कमरे में बैठते थे, बेहद खुश थे। उनके क़हक़हों की अवाज़ से कमरा गूंज जाता था और एक रोशनी-सी फैल जाती थी। मेरे नज़दीक Beaming laughter यानी रोशन करनेवाली हँसी इसी को कहते हैं। जब मैं अपनी किताब 'नवादिर' लिख रहा था तो उसके लतीफ़े कभी-कभी उनको भी सुनाता था। एक मर्तबा एक मुअज़्जिम का लतीफ़ा जो अज़ान देते वक्त दूर भागता जाता था और जब उससे पूछा गया कि यह क्या हरकत है तो जवाब दिया कि अपने अज़ान की आवाज मैं भी सुनना चाहता हूँ कि दूर से कैसी मालूम होती है! इस लतीफ़े को सुनकर मुंशी साहब इतना हँसे कि आँखों में आँसू आ गये। वह मेरी किताब 'नवादिर' (जो उस वक्त अपूर्ण थी) के बड़े प्रशंसक और कद्रदाँ थे।

एक मर्तबा छापेखाने के मालिक स्वर्गीय मुंशी बिशननारायण साहब भार्गव के कुछ मुसाहबों ने उनको यह समझाया कि स्टेट पर कर्ज का बोझ है, उसको कम करने की एक सूरत यह है कि कर्मचारियों का वेतन घटा दिया जाय। चुनांचे बुकडिपो और प्रेस के काम करनेवालों को जमा किया गया और एक साहब ने बड़े युक्तिपूर्ण ढंग से यह भाषण दिया कि चूंकि स्टेट पर बोझ बहुत हो गया है इसलिए

हमारा प्रस्ताव है कि आप लोग अपने वेतन में कुछ कटौती करने की हमको इजाजत दें। इसमें ऐसी कोई मुसीबत नहीं है। अक्सर ऐसी हालत में ऐसा ही होता है वगैरह वगैरह। यह स्पीच सुनकर मैंने बहुत संक्षेप में कहा कि अगर यह वाक़या सही है कि स्टेट पर इतना ज्यादा बोझ है कि कटौती की जरूरत है तो कम से कम मैं अपनी तनख्वाह, उस वक्त तक कि क़र्ज़ा अदा हो जाय, आधी कर देने पर राज़ी हूँ और अगर ऐसा नहीं है यानी वह तनख्वाह की कटौती का सिर्फ एक बहाना है तो मैं एक पैसा भी कम करना नहीं चाहता। मुंशी साहब ने मेरी इस साफ़गोई की तारीफ़ की और साफ़ कह दिया कि मेरी भी यही राय है। इस छोटे से वाकये से मुन्शी साहब के स्वाभिमान और दृढ़ निश्चय का पता चलता है।

मुन्शी विशननारायण साहब के देहान्त के बाद मैंने अपनी नौकरी फौरन छोड़ दी। उसके थोड़े ही दिन बाद मुन्शी साहब भी वहाँ से अलग हो गये।

मुन्शी साहब कभी कभी मुंशी दयानरायण निगम के साथ भी मेरे घर पर तशरीफ लाते थे और अब तो चूंकि बेतकल्लुफी हो गयी थी, बहुत देर तक बड़े मज़े की सुहबत रहती थी। अफसोस, हज़ार अफसोस, कि मुझसे और उनसे इस पांच छः बरस के अरसे में मुलाकात नहीं हुई मगर मैं यह सुनकर बहुत खुश हुआ था कि वह एक अच्छी तनख्वाह पर किसी ड्रामा या फिल्म कम्पनी के ड्रामा लेखक हो गये हैं। उनके देहान्त की खबर अचानक तीर की तरह मेरे सीने पर लगी। अक्टूबर सन् '३६ के परचे 'कलीम' में एक इश्तिहार नज़र पड़ा था जिसमें किसी साहित्यिक सम्मेलन के सिलसिले में आवेदकों की सूची में मुन्शी प्रेमचन्द का नाम सबसे पहले था। यह सम्मेलन अक्टूबर ही में होने वाला था। किसको मालूम था कि सम्मेलन को आमंत्रित करनेवाला खुद ही, सम्मेलन जुटने के पहले ही पहले इस दुनिया से कूच कर जायगा। रहे नाम अल्लाह का।

●

२८ | मुहम्मद आक़िल

प्रेमचन्द जी को कहानियों के एक मशहूर कामयाब लेखक की हैसियत से तो मैं बहुत पहले से जानता था लेकिन उनसे मेरी जाती वाक़फ़ियत दिसम्बर १९३५ में पहली बार बनारस में हुई। मैंने बनारस नहीं देखा था और मैं चाहता था कि हिन्दू धर्म, सभ्यता और शिक्षा के इस केंद्र की यात्रा करूँ। यह वह ज़माना था जब भारतीय साहित्य-परिषद् ने प्रेमचन्द जी के रिसाला 'हंस' को अपना लिया था और कुछ दिनों तक मेरा नाम भी इसके सलाहकारी मण्डल में एक सदस्य की हैसियत से छपता रहा था। प्रेमचन्द जी इस रिसाले की जान थे। वही उसको पूरी तरह तरतीब देते थे, वही उसको अपने सरस्वती प्रेस में छापते थे; नाम को भारतीय साहित्य-परिषद् ने इसे अपनाया था वरना 'हंस' हर समय प्रेमचन्द जी का ही था। बहरहाल सलाहकारी मण्डल में सदस्य बनने के बाद प्रेमचन्द जी से पहिचान होना लाज़िमी बात थी। दूसरे, मैं जामिया मिल्लिया के रिसाला 'जामिया' की भी देख-भाल किया करता था। इसलिए अपने रिसाले के वास्ते कहानी या मज़मून लिखाने के लिए भी मुझे अक्सर प्रेमचन्द जी के पास ख़त भेजने पड़ते थे। इस तरह बग़ैर एक दूसरे को देखे हुए हम दोनों एक दूसरे को जानने लगे थे। वह मुझे कम जानते थे, लेकिन मैं उनकी शोहरत की वजह से ज़्यादा जानता था।

बनारस जाने में, जहाँ बनारस की और चीज़ों को देखने की ख़्वाहिश थी, वहाँ सब से ज़्यादा तमन्ना प्रेमचन्द जी से मिलने की थी। इसलिए बनारस रवाना होने से पहले मैंने प्रेमचन्द जी को, यह पता चलाने के लिए ख़त लिखा कि जब मैं वहाँ पहुँचूंगा, वह बनारस में मौजूद होंगे या नहीं। उन्होंने इसके जवाब में मुझे दावत दी कि मैं बनारस में उन्हीं के यहाँ आकर ठहरूँ। मैं बनारस में उनके यहाँ तो न ठहर सका। मेरे एक करमफ़र्मा मौलवी अब्दुलमजीद साहब मदनपुरा में रहते हैं। उनके वहाँ होते हुए और कहीं ठहरना तो मुमकिन न था, इसलिए ठहरा तो मैं उनके यहाँ; लेकिन उनके मकान पर सामान रखने के बाद पहली बात जो मैंने दर्याफ्त की

वह प्रेमचन्द जी का पता था, और पहला काम जो मैंने किया वह प्रेमचन्द जी से मुलाक़ात था।

प्रेमचन्द जी का मकान क्वींस कॉलेज के पीछे एक मुहल्ले में था। प्रेमचन्द जी जिस मकान में रहते थे वह दोमंजिला और खासे पुख्ता क़िस्म का था। इसके गिर्द एक अहाता भी था लेकिन बनारस के इस हिस्से की आबादी कुछ ज्यादा गुंजान न थी और आस पास की फ़िज़ा और माहौल में भी कुछ क़स्बाती कैफ़ियत पाई जाती थी। प्रेमचन्दजी के अहाते में सब्ज़ा, फूल-फुलवारी कुछ न थी, मकान में कुछ ठाठ या शान नज़र न आती थी। प्रेमचन्द जी मकान के बालाई हिस्से में रहते थे। नीचे के हिस्से में प्रेस का काम होता था जिसके सबूत के लिए टाइप के हुरूफ़ इधर-उधर देखे जा सकते थे। नीचे के हिस्से में शायद किसी तरफ़ एक गाय रहती थी। मैंने दरवाज़े पर दस्तक दी। दो दफ़े कुंडी बजाने पर एक आदमी निकला जो मुझे ज़ीने के रास्ते से ऊपर प्रेमचन्द जी के कमरे में ले गया। उनकी मुलाक़ात का खास कमरा या दफ़्तर, जिसमें कुर्सियाँ और मेज़ लगी हुई थीं, इस वक्त बन्द था। उस कमरे का पता मुझे दूसरे रोज लगा था जब मैं मिस फ़िल्सबोर्न और डाक्टर अलीम के साथ दोबारा उनसे मिलने गया था। इस रोज़ जिस कमरे में मेरी उनसे मुलाक़ात हुई वह खासा बड़ा, खुला हुआ, साफ़ और हवादार कमरा था। ज़मीन पर सफ़ेद चाँदनी का एक फ़र्श बिछा हुआ था। एक कोने में एक नेवाड़ी पलँग था जिसके क़रीब एक पीकदान रखा हुआ था। प्रेमचन्द जी फ़र्श पर बैठे हुए थे और एक कापी पर हिन्दी में अपने किसी नाविल के मसविदे को, जिसको वह जल्द छपवाना चाहते थे, लिख रहे थे। प्रेमचन्द जी के तआरुफ़ की कोई ज़रूरत ही न थी। उनकी तसवीरें मैं बाहर देख चुका था। मेरा तआरुफ़ अलबत्ता ज़रूरी था सो मैंने ख़ुद ही कर दिया और उनसे गुफ्तगू का सिलसिला शुरू हुआ।

ख़ास तौर पर बातचीत हिन्दू-मुसलान के ताल्लुक़ात के बारे में थी। इसी ज़माने में 'हंस' में मैंने एक मज़मून, 'हिन्दू-मुसलमान, किधर जा रहे हैं ?' के उनवान से लिखा था। पहले इस पर गुफ़्तगू होती रही, फिर भारतीय साहित्य-परिषद् और 'हंस' की ज़बान के सख्त होने के बारे में। इसी ज़माने में बहुत सी तनक़ीदें उर्दू के मुख्तलिफ़ अखबारी और रिसालों में छपी थीं, खासकर डाक्टर अशरफ़ की तनक़ीद जो अलीगढ़ के रिसाला 'सुहेल' में निकली थी, जिसमें प्रेमचन्द जी से खास तौर पर शिकायत की गई थी कि वह उर्दू के बेहतरीन अदीब होने के बावजूद भी बहुत कठिन हिन्दी लिखते हैं। फिर सरहदी सूबे में हिन्दी के बारे में जो सर्कुलर निकला था उसका भी तज़किरा हुआ। ग़रज़ यह कि और ऐसी ही बहुत-सी बातें मेरे और उनके सामने थीं। और एक ऐसी ज़बान के पैदा करने का सवाल भी था जो एक तरफ़ अरबी और फ़ारसी की ठूंस-ठाँस से आज़ाद हो और दूसरी तरफ़ संस्कृत और भाषा के अल्फ़ाज इसमें बहुत ज्यादा न हों। मेरा कहना था कि अगर

आपस का इख्तिलाफ़ और फ़र्क इस तरह बढ़ता गया, जैसा कि दोनों तरफ़ के इन्तिहा-पसंद कोशिश कर रहे हैं तो लाज़िमन् यह नतीजा निकलेगा कि हिन्दुस्तान में एक तमद्दुन, तहज़ीब और ज़बान की जगह दो मुख्तलिफ़ तमद्दुन तहज़ीबें और ज़बानें पैदा हो जायँगी। एक शुमाली मग़रिबी इलाके का तमद्दुन और ज़बान और दूसरी वस्ती और जुनूबी का। संस्कृतियों का इख्तिलाफ़ मुमकिन है बढ़कर क़ौमी तफ़रीक का बाइस बन जाय और हिन्दुस्तान में एक हुकूमत और क़ौम की जगह दो मुख्तलिफ़ हुकूमतें और क़ौमें पैदा हो जायँ। एक उत्तरी पश्चिमीय हिस्से की क़ौम और हुकूमत और दूसरी मध्य और दक्षिणी प्रदेशों की। इस सिलसिले में मैंने अपने एक मज़मून का भी हवाला दिया था जो रिसाला 'जामिया' में 'हिन्दू और मुसलिम क़ौमी तहरीकें और हिन्दुस्तानी क़ौमियत की तहरीक' के उनवान से शाया हुआ था।

प्रेमचन्द जी मौजूदा हालत पर अफ़सोस कर रहे थे और इसकी ज़िम्मेदारी मज़हब की ग़लत ताबीर पर कर रहे थे। प्रेमचन्द जी ने मुझसे कहा कि मुझे रस्मी मज़हब पर कोई एतक़ात नहीं है, पूजा-पाठ और मन्दिरों में जाने का भी मुझे शौक नहीं। शुरू से मेरी तबियत का यही रंग है। बाज़ लोगों की तबियत तो मज़हबी होती है, बाज़ लोगों की ला-मज़हबी। मैं मज़हीब तबियत रखनेवालों को बुरा नहीं कहता, लेकिन मेरी तबियत रस्मी मज़हब की पाबन्दी को बिल्कुल गवारा नहीं करती। उन्होंने कहा कि मेरी संस्कृति और तर्ज़े-माशरत भी मिलाजुला है, बल्कि मुझ पर मुसलमानों की तहज़ीब का हिन्दुओं की तहज़ीब से ज़्यादा असर पड़ा है। मैंने मक-तब में मियाँ जी से फ़ारसी, उर्दू पढ़ी। हिन्दी में बहुत पहले मैंने उर्दू में लिखना शुरू किया, हिन्दी ज़बान मैंने बाद में सीखी। इस सिलसिले में देहली के रिसाले 'साक़ी' ने जो तनक़ीद की थी कि प्रेमचन्द जी उर्दू के लिए मरहूम हो चुके हैं उसके बारे में हँसकर कहने लगे कि 'साक़ी' के एडीटर को मैंने लिखा है कि मैं उर्दू के लिए न सिर्फ़ ज़िन्दा हूँ, बल्कि ज़्यादा ज़ोरों से जी रहा हूँ। मेरे दो एक नावेलों को छोड़कर, जिनका मैं जल्द उर्दू एडीशन शाया करने वाला हूँ और मेरे तमाम नावेल और बेशतर कहानियाँ उर्दू और हिन्दी दोनों ज़बानों में शाया हो चुकी हैं। कभी मैं उर्दू में पहले लिखता हूँ, और उसका हिन्दी में अनुवाद करता हूँ, और कभी हिन्दी में लिखता हूँ और बाद में उनका उर्दू तर्जुमा करके शाया कराता हूँ। उनका कहना था कि हिन्दू-मुसलमानों के यह सब इख्तिलाफ़ात बनावटी और झूठे हैं, दरअसल दोनों एक हैं। इस ज़माने में ग़ालिबन वह तरक्क़ी पसन्द मुसन्निफों की अंजुमन के सदर बन चुके थे और मज़हब के बारे में उनके ख़यालात और भी 'आज़ाद-पसन्द' हो गये थे। कहने लगे कि मैंने सज्जाद ज़हीर और उनके साथियों से कहा कि भाई, हम बुड्ढे हो गये, लेकिन दिल उन सब बातों को करना चाहता है जो तुम लोग कहते हो, इसलिए हम भी अपनी नाव

तुम्हारे तूफ़ानी समुन्दर में डालते हैं। अब यह जिधर भी जाय, हमें इसकी फ़िक्र नहीं। वह निहायत दिलचस्प अंदाज़ में मज़े ले-लेकर बातें कर रहे थे। बीच-बीच में क़ह-क़हे लगाते जाते थे, मालूम होता था उमंग, जोश और ज़िन्दगी का सैलाब उनके अन्दर उबल रहा है। मैं उनके बाज़ू पर बैठा हुआ था। उनके सामने एक गोरी रंगत के नौजवान जो कॉलेज में पढ़ते थे, बैठे हुए थे। यह ग़ालिबन् उनके कोई क़रीबी अज़ीज मालूम होते थे, क्योंकि वह कभी-कभी उठकर घर के अंदर चले जाते थे। इसी गुफ़्तगू के दौरान में कुछ देर के लिए सम्पूर्णानन्दजी के छोटे भाई भी आकर बैठ गये थे। गुफ़्तगू का सिलसिला अर्से तक ज़ारी रहा। प्रेमचन्द जी को उसी वक्त एक सभा के सालाना जलसे की सदारत के लिए भी जाना था। इस सभा का मक़सद यह था कि मुसलमानों के हिन्दुस्तान में आने के पहले जो हिन्दी इस मुल्क में रायज थी उसे आम किया जाय और उसके लिए सभा ने तालीम का बन्दोबस्त कर रखा था। प्रेमचन्द जो इस सभा के बारे में मुझसे गुफ़्तगू कर रहे थे कि मोटर आ गई और वह मुझे अपने साथ सभा के जलसे में ले गये।

❀ ❀ ❀

यह तो मेरी प्रेमचन्द जी से पहली मुलाक़ात थी। इसके बाद दूसरी मुलाक़ात सन् '३६ में देहली में हुई। प्रेमचन्द जी हिन्दू मुसलमानों के मेल के लिए कोई बड़ा और मुस्तक़िल काम करना चाहते थे, इसलिए वह जामिया मिल्लिया में आये और उन्होंने हम लोगों को एक जलसे का इन्तज़ाम करने को आमादा किया। उन्होंने कहा कि देहली के उर्दू के अदीबों को जमा करने का आप लोग इन्तज़ाम कीजिए और हिन्दी के अदीबी को मैं और जैनेन्द्रकुमार साहब यहाँ आने की दावत देंगे। चुनांचे चाय पर उर्दू और हिन्दी अख़बारनवीसों की एक ख़ासी बड़ी तादाद इकट्ठी हो गई। शुरू में ग़ैररस्मी बात-चीत में प्रेमचन्द जी ने उर्दू और हिन्दी अदीबों के मिलने और तबादला ख़याल करने की अहमियत पर ज़ोर दिया। चाय के ख़त्म होने पर बाक़ायदा जल्सा शुरू हुआ जिसमें प्रेमचन्द जी ने एक निहात पुरअसर तक़रीर में इस बात को ख़ूबी के साथ समझाया कि जब तक उर्दू और हिन्दी के अख़बारनवीस आपस में दोस्ताना ताल्लुक़ात पैदा करके एक दूसरे के ख़यालात और नुक़्तयेनिगाह को हमदर्दी के साथ समझने की कोशिश न करेंगे, उस वक़्त तक इत्तफ़ाक़ और इत्तहाद की कोशिशें कभी कामयाब नहीं होंगी। और लोगों की तक़रीरें हुईं और नतीजा यह निकला कि 'हिन्दुस्तानी सभा' नाम की एक संस्था स्थापित कर दी गई। उसके जो मेम्बर थे वह और आगे बढ़े और उन्होंने एक मुश्तरका हिन्दुस्तानी ज़बान पैदा करने का भी इरादा कर लिया। उन्होंने कहा कि ऐसी ज़बान लिखनी चाहिए जिसमें न अरबी-फ़ारसी के अलफ़ाज़ ज़्यादा आएँ, न संस्कृत-भाषा के, बल्कि सीधी-सादी ठेठ हिन्दी हो। प्रेमचन्द जी को ख़ुद इस बात पर ज़्यादा विश्वास न था। हिन्दी और

उर्दू दोनों ज़बानों के एक निहायत अच्छे लेखक होने की वजह से वह इस बात को खूब जानते थे कि रोज़मर्रा की बात-चीत और मामूली बातों को इस तरह की ज़बान में बयान किया जा सकता है, लेकिन जब कभी ज़रा ऊँचा उठकर गहरी बात कहनी ही होगी तो उसके लिए संस्कृत, अरबी या फ़ारसी की मदद लेना ज़रूरी होगा। प्रेमचन्द जी जब कहानियाँ लिखते थे तो उसकी ज़बान तो बहुत सादा और आम-फ़हम होती थी, और हिन्दी और उर्दू दोनों ज़बानों को जानने वाले उससे मज़ा ले सकते थे। लेकिन जब कोई इल्मी, तनक़ीदी या गहरी बात उन्हें लिखना होती थी तो उर्दू में खूब फ़ारसो अरबी के अलफ़ाज़ और हिन्दी में संस्कृत के शब्द इस्ते-माल करते थे। इससे उनके उर्दू जाननेवाले दोस्त जब उनकी हिन्दी को पढ़ते थे तो उन्हें बहुत गुस्सा आता था कि प्रेमचन्दजी ने यह क्या ज़बान लिख दी और जब उनके हिन्दी जानने वाले मित्र उनकी उर्दू को पढ़ते थे तो उन्हें बहुत क्रोध होता था कि प्रेमचन्द जी कैसी कठिन फ़ारसी अरबी लिखते हैं। चुनांचे तरक्क़ीपसन्द मुसन्निफ़ों की सभा में जो उन्होंने भाषण दिया था उस पर हिन्दी वालों ने बड़ी ले-दे की थी। इसलिए इन सब बातों को अच्छी तरह जानते हुए प्रेमचन्द जी तो आसानी से एक मुश्तरका हिन्दुस्तानी ज़बान के पैदा होने की आशा नहीं कर सकते थे। उनका मक़सद शुरू में 'हिन्दुस्तानी सभा' क़ायम करने से सिर्फ़ यह था कि हिन्दी और उर्दू लिखनेवाले एक जगह मिलकर बैठें, एक-दूसरे के खयालात मालूम करें, एक-दूसरे को समझें; और दोस्ती और मुहब्बत की वजह से एक-दूसरे के साथ मुरौवत और इज्ज़त से पेश आयें, और जब अपने अखबार, रिसाला या किताब में कोई बात लिखें तो इस बात को भी दिल में रखें कि उसका पढ़नेवाला हमारा उर्दू जाननेवाला मुसलमान मित्र या हिन्दी जाननेवाला हिन्दू दोस्त भी है, जो बात हम लिख रहे हैं कहीं उसे वह नागवार न हो। लेकिन जब 'हिन्दुस्तानी सभा' के दूसरे मेम्बरों ने कहा कि हम एक मुश्तरक हिन्दुस्तानी ज़बान भी बनाना चाहते हैं, तो उन्होंने उसकी मुख़ालफ़त नहीं की। यह प्रेमचन्द जी से मेरी दूसरी मुलाक़ात थी।

❀ ❀ ❀

प्रेमचन्द जी से मेरी तीसरी मुलाक़ात भारतीय साहित्य-परिषद् के नागपुर वाले अधिवेशन में हुई। प्रेमचन्द जी और मैं एग्रीक़लचरल कॉलिज के बोर्डिङ्गहाउस में बिल्कुल बराबर-बराबर कमरों में थे और दो-तीन दिन तक मेरा उनका रात-दिन का साथ रहा। उस मौक़े पर भारतीय साहित्य-परिषद् के खुले अधिवेशन में प्रेमचन्द जी ने बड़ी दिलेरी और हिम्मत का काम किया। वह रिसाला 'हंस' के एडीटर थे। रिसाला 'हंस' भारतीय साहित्य-परिषद् का ऑरगन था, भारतीय साहित्य-परिषद् के कर्त्ता-धर्ताओं में उनका शुमार होता था। हिन्दी साहित्य-सम्मेलन वाले चाहते थे कि भारतीय साहित्य-परिषद् का सब काम हिन्दी द्वारा हुआ करे। महात्मा गांधी ने एक बीच का रास्ता निकाल कर कहा था कि उसका सब काम 'हिन्दी अथवा हिन्दी-

हिन्दुस्तानी' द्वारा हुआ करे। मौलवी अब्दुलहक़ और मैंने इसकी मुखालफ़त करते हुए कहा था कि हिन्दुस्तानी का लफ़्ज़ एक दरमियानी लफ़्ज़ है जो न हिन्दीवालों को नागवार होना चाहिए न उर्दूवालों को। लेकिन यह बात तसलीम नहीं की गई। उस मौक़े पर मामला कुछ ऐसा आ पड़ा था कि महात्मा जी की बात की मुखालफ़त करने की किसी को हिम्मत नहीं हुई थी। लेकिन प्रेमचन्द जी खड़े हुए और उन्होंने हिन्दुस्तानी के द्वारा भारतीय साहित्य-परिषद् की काररवाई की जाने पर एक निहायत ज़ोरदार तक़रीर की। उर्दू के हलक़े में यह बात मशहूर है कि इसकी वजह से प्रेमचन्द जी हिन्दी लिखनेवालों में बहुत बदनाम भी हो गए। पता नहीं यह कहाँ तक सही है। लेकिन यह काम उन्होंने बहुत दिलेरी और हिम्मत का किया था जिससे उर्दूवाले उनसे बहुत खुश थे।

❀ ❀ ❀

ग़रज़े कि यह तीन मुलाक़ातें मेरी प्रेमचन्द जी से हुई थीं और हर दफ़ा की मुलाक़ात ने मेरे दिल में प्रेमचन्द जी की इज़्ज़त और मुहब्बत पहले से बहुत ज़्यादा बढ़ा दी थी। प्रेमचन्द जी अपनी ज़िन्दगी का एक नया वरक़ उलट रहे थे। उनकी ज़िन्दगी का यह दौर यक़ीनन् उनकी ज़िन्दगी के तमाम दूसरे दौरों से ज़्यादा शानदार और मुल्क व क़ौम के लिए निहायत फ़ायदारिसां साबित होता। लेकिन मौत के बेरहम हाथ ने उन्हें हमसे जुदा कर दिया। उनकी दिल की हसरतें दिल ही में रह गईं; और उनके दोस्त हैरतज़दा से होकर रह गये कि यह क्या हुआ। क्या जिस मिशन को पूरा करने का प्रेमचन्द जी ने बीड़ा उठाया था हिन्दू और मुसलमान उसको अंजाम तक पहुँचाने का इरादा करेंगे? उनकी आख़िरी उम्मीद 'हिन्दुस्तानी सभा' और तरक्क़ी पसन्द मुसन्निफ़ों की अंजुमन के साथ वाबिस्ता थी। प्रेमचन्द जी के जो लोग मद्दाह हैं उन्हें उन दोनों संस्थाओं को ज़िन्दा रखने और तरक्क़ी करने की कोशिश करना चाहिये।

●

२९ | रघुपति सहाय फ़िराक़

बीस साल से भी पहले की बात है। जब मैंने प्रेमचन्द जी को पहली बार देखा था, तब मैं म्योर सेण्ट्रल कॉलेज, इलाहाबाद में बी० ए० का विद्यार्थी था। सन् १९१९ ई० में गर्मी के दिनों में एक दिन सन्ध्या को हमारी मुलाक़ात एक लम्बी चौड़ी इमारत के बरामदे में हुई थी जिसमें अब इम्पीरियल बैंक की गोरखपुर वाली शाखा का दफ़्तर है। मुझे उस समय दोहरी ख़ुशी हुई थी। पहली ख़ुशी तो इस बात की थी कि प्रेमचन्द जी से पहली बार मुलाक़ात हुई थी; तिस पर यह सुनकर और ज़्यादा ख़ुशी हुई थी कि अब वे स्थायी रूप से मेरे मकान के पास ही रहेंगे। उस दिन जिस परिचय का आरम्भ हुआ था, उसने शीघ्र ही गहरी दोस्ती का रूप धारण कर लिया, जिसका क्रम केवल उनकी असामयिक और दुःखपूर्ण मृत्यु के उपरान्त ही टूटा।

मुझे ख़ूब अच्छी तरह याद है कि पहले दिन ही उनसे मुलाक़ात होने पर मुझे ऐसा जान पड़ता था कि इतने दिनों तक उनसे परिचय न होने के कारण मेरी कोई बहुत बड़ी हानि हुई है। इसका कारण यह था कि इससे पाँच छः साल पहले से ही, जब कि मेरी अवस्था केवल दस बारह वर्ष की थी, मैं परोक्ष रूप से प्रेमचन्द जी के नाम के साथ प्रेम करने लग गया था। इसलिए अब जब उनके साथ मुलाक़ात की नौबत आई, तब मुझे इस बात का अफ़सोस हुआ कि मैं इतने दिनों तक बिना उनसे मुलाक़ात किये क्योंकर रहा। जब मैंने पहले-पहल उनकी एक कहानी 'ज़माना' में पढ़ी थी, तब मैं स्कूल में ही पढ़ता था। लेकिन फिर भी उस समय मुझ पर उसका जो प्रभाव पड़ा था, वह अभी तक दूर नहीं हुआ था। जीवन के दृश्यों और वर्णनात्मक गद्य की वह प्रभावशालिनी शक्ति, जिसके द्वारा जीवन की चिरपरिचित और सामान्य घटनाएँ जीता-जागता रूप धारण करके चलते-फिरते रूप में दिखाई देती थीं, मुझे उसी समय दिखाई दी थी और मेरे लिए वह बिल्कुल एक नया मानसिक अनुभव था। यद्यपि उस समय तक मैं वयस्क नहीं हुआ था और मुझे कोई ख़ास समझ नहीं थी,

लेकिन फिर भी मुझ पर उस सीधी-सादी कहानी का बहुत ही विलक्षण, कोमल और सूक्ष्म प्रभाव पड़ा था।

प्रेमचन्द जी के यहाँ मेरा रोज़ का आना जाना शुरू हो गया। गरमी की छुट्टियों में नित्य मेरी सन्ध्या उन्हीं के साथ बीतने लगी। जो समय उनकी कृपा और संगति में बीतता था, वह बहुत ही शान्ति-दायक और आनन्दपूर्ण होता था और बहुत जल्दी बीत जाता था। आज जब मैं उन दिनों का ध्यान करता हूँ तो कुछ विलक्षण ही अवस्था हो जाती है। उनके प्रेमपूर्ण मनुष्यत्व और उनके जीवन का सन्तोषजनक तथा शान्ति-पूर्ण रूप और उनकी चरम सीमा की सत्यनिष्ठा की स्मृति अब तक मेरे मन में बनी हुई है। प्रेमचन्द जी की प्रकृति ही ऐसी थी कि वह सादगी बहुत ज़्यादा पसन्द करते थे। उनके मिजाज़ में नाम को भी बनावट नहीं थी। जब मैं अपनी मानसिक दृष्टि से उनकी बातों का सिंहावलोकन करता हूँ तो मुझे ऐसा मालूम होता है कि मैं बिल्कुल अनजान में ही बहुत जल्द उनके साथ बहुत ज़्यादा हिल मिल गया था और मेरा विश्वास है कि जिस किसी का उनसे साधारण-सा भी परिचय होगा, वह भी अपने मन में यही अनुभव करता होगा।

आज मैं अपने एक ऐसे मित्र का सोग कर रहा हूँ जिनके व्यक्तित्व से स्वयं मित्रता को भी प्रतिष्ठा प्राप्त होती थी। जैसा कि मैंने ऊपर लिखा है, उनसे पहली बार मिलने के बाद ही मुझे इस बात का अफ़सोस हुआ था कि मैं इससे पहले ही उनके साथ क्यों न मिल सका। आज मैं उनके पुराने दोस्तों में अपने आपको बिल्कुल अकेला पाता हूँ। 'ज़माना' के सुप्रसिद्ध सम्पादक मुन्शी दयानारायण निगम को मुझसे भी ज़्यादा दिनों से प्रेमचन्द को जानने का अभिमान है और उनकी हानि मेरी हानि से भी बढ़-कर हुई है।

हम लोगों की बातचीत प्रायः भिन्न-भिन्न, विषयों पर हुआ करती थी और एक बार आरम्भ होने पर फिर समाप्त होना जानती ही न थी। प्रेमचन्द जी के मस्तिष्क में बहुत बड़ी जिज्ञासा थी और वे सभी बातें जानने के लिए बहुत उत्सुक रहा करते थे। लेकिन प्रायः हम लोगों की बात-चीत जीवन और साहित्य के भिन्न-भिन्न प्रश्नों के सम्बन्ध में ही हुआ करती थी। प्रेमचन्द जी में आत्मश्लाघा का भाव बिल्कुल नहीं था — वे स्वयं अपनी ओर और अपनी कृतियों की ओर देखना जानते ही नहीं थे। यहाँ तक कि जब उनकी रचनाओं की देश-व्यापी सर्वप्रियता और अवर्णनीय महत्व का उनके सामने ज़िक्र किया जाता था, तो वह घबरा से जाते थे। उन्हें अपने बारे में बात-चीत करने की आदत ही नहीं थी और न वह कभी बार-बार किसी से अपनी प्रशंसा सुनने के ही इच्छुक रहते थे, यद्यपि 'बहुत ऊँचा दिमाग़ रखनेवालों की वह आखिरी कमज़ोरी' अभी तक सुलेखकों और गुणियों में भी अदृश्य नहीं हुई है। लेकिन बात-चीत की रौ में कभी-कभी कुछ अज्ञात अन्तरों के उपरान्त और बिल्कुल अनभ्यस्त रूप से वह अपने जीवन की बिखरी हुई घटनाओं के कुछ संकेत

कर जाया करते थे। वह अपने सम्बन्ध में कभी कठिनता से कुछ संक्षिप्त वाक्य ही कहते थे, लेकिन उन थोड़े से शब्दों में ही ईश्वर जाने वह कितनी बातें कह जाते थे। मैंने उन सब घटनाओं का कुछ क्रम लगाया था और मैं उन्हीं घटनाओं को यहाँ लिखने का प्रयत्न करूँगा।

मुन्शी प्रेमचन्द जी के पिता ने बनारस ज़िले के पांडेपुर मौजे में अपने बड़ों से उत्तराधिकार के रूप में थोड़ी-सी काश्तकारी पाई थी। वही उनकी पैत्रिक जन्मभूमि थी, जहाँ प्रेमचन्द जी ने एक छोटा-सा सुन्दर मकान बना लिया है। काश्तकारी की आमदनी प्रायः नहीं के समान थी। इसलिए उनके पिता ने डाकखाने में नौकरी कर ली थी, जहाँ तरक्क़ी करके कदाचित् वह किसी छोटे से डाकखाने के डाक मुन्शी हो गये थे। इस प्रकार उनके घर और खान्दान के सम्बन्ध की बातें मध्यम श्रेणी के लोगों की उसी तरह की बातों का नक्शा पेश करती हैं जिस तरह की बातों को अंग्रेज़ी लेखक जार्ज गिस्सिग ने (George Gissing) ने अपने पृष्ठों में अमर कर दिया है।

इस श्रेणी के दूसरे लड़कों की तरह प्रेमचन्दजी भी एक हाई स्कूल में भर्त्ती हो गये थे और आरम्भिक कक्षाओं के उपरान्त उनकी शिक्षा गोरखपुर के एक स्कूल में आरम्भ हो गई, जहाँ उनके पिता नौकर थे। प्रेमचन्द जी ने मुझे बतलाया था कि लड़कपन में उनकी दोस्ती अपने दर्जे के एक ऐसे लड़के से हो गई थी जो एक तम्बाकू बेचनेवाले का बेटा था। नित्य वे अपने अल्प-वयस्क मित्र के साथ स्कूल के बाद उसके मकान पर जाते थे और वहाँ तम्बाकू के बड़े-बड़े काले पिंडों के पीछे वह और उनके मित्र बैठकर बराबर हुक्का पीते थे और 'तिलिस्म होशुरबा' पढ़ते थे। यह कभी न समाप्त होनेवाली बहुत लम्बी कहानी है जो अपनी विशालता, विशदता और बहुविध कथानकों के विचार से युरोप के मध्य युग की आध्यात्मिक कहानियों को बहुत पीछे छोड़ देती है। उसकी लम्बाई का यह हाल है कि यदि वे सब लिखी जायँ तो 'एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका' के बराबर हो जायगी। खैर, वहीं प्रेमचन्द जी अपने अल्पवयस्क मित्रों के साथ बैठकर तिलिस्म होशुरबा के किस्से सुनते थे। इसी में जब सन्ध्या हो जाती थी, तब वह अपने घर चले जाते थे। यह क्रम प्रायः एक वर्ष तक चलता रहा। लेकिन इसी बीच में प्रेमचन्द जी सदा के लिए कहानियों में डूब गये। वास्तव में वे कहानियाँ उन्होंने जिस तरह मन लगाकर और शौक से सुनी थीं, उससे उनकी वर्णन-शक्ति में धारा-प्रवाहिकता और सरसता के गुण आकर सम्मिलित हो गये थे और उन मनोहर कहानियों की आत्मा उनमें प्रविष्ट हो गई थी। फ़िर कुछ दिनों के बाद यही शक्तियाँ और यही गुण प्रेमचन्द जी की रचनाओं में जिस सुन्दरता के साथ फूले फले उनका यहाँ वर्णन करने की आवश्यकता नहीं है।

प्रेमचन्द जी के पिता का देहान्त उस समय हुआ था जब कि उनकी अवस्था

कठिनता से चौदह वर्ष की रही होगी। उस समय वे बनारस के एक हाई स्कूल में आठवें या नवें दर्जे में पढ़ रहे थे। उनकी माता प्रायः आठ वर्ष पहले ही मर चुकी थीं। प्रेमचन्द जी अपनी सौतेली माता और सौतेले भाई के साथ इस संसार में अकेले रह गये और ये दोनों उनके बाद अब तक जीवित हैं। अब उन्हें जीवन की कठोरतम परीक्षा और हद से ज़्यादा तकलीफ़ देनेवाली आजमाइश में से गुज़रना पड़ा। प्रेमचन्द जी ने अपनी एक कहानी में बहुत ही प्रभावशाली और ज़हर में बुझे हुए नश्तर की तरह के शब्दों में अपने जीवन के उन दिनों की ओर संकेत किया है जो उन्होंने अपने पिता और सौतेली माता के साथ बिताये थे और जिस समय उनकी अवस्था पाँच या छः वर्ष से अधिक की नहीं थी। उस कहानी का शीर्षक 'सौतेली माँ' है। उसकी बारीकी और महत्व में निःशब्द परन्तु कटु भावनाएँ भी हैं। लेकिन फिर भी उसमें कहीं बे-मजा और ओछी भावनाओं का नाम भी नहीं है। लेकिन फिर भी उसे पढ़कर आप अपने आँसू नहीं रोक सकेंगे।

पिता जी के मरने के उपरान्त अपनी विद्यार्थी अवस्था में ही प्रेमचन्द जी को कुछ काम की तलाश हुई। कभी-कभी ऐसा अलभ्य समय आया करता था जब कि वे मुझे अपने मन की भीतरी बातें बताने लगते थे। इसी प्रकार के एक अवसर पर उन्होंने बहुत ही करुणापूर्ण ढंग से, जिसमें एक सामान्य-सा कम्प भी सम्मिलित था, उन्होंने मुझे बतलाया था कि किस प्रकार वे अपनी पढ़ाई जारी रखने के लिए छः रुपये महीने के लिए रोज़ तीन मील पैदल जाया करते थे। यह मेरी स्मृति में एक बहुत ही स्पष्ट परन्तु बहुत ही करुणापूर्ण घटना है। कम से कम एक बार उनके आकस्मिक परन्तु गम्भीर वर्णन में कठोरता और कोमलता का एक में मिश्रण हो गया था। परन्तु यह कितनी निरीह और स्वाभाविक घटना थी। प्रेमचन्द जी की गिनती तन्दुरुस्त लड़कों में नहीं होती थी। इसलिए मेहनत करके और पेट काटकर उन्होंने हाई स्कूल का इम्तहान दूसरे दरजे में पास किया था।

अधिक दिन नहीं बीतने पाये थे कि वे स्कूलों के सब-डिप्टी इन्सपेक्टर मुकर्रर हो गये। अब प्रेमचन्द सहज में अपनी सौतेली माता और सौतेले भाई का भार भी उठा सकते थे। उनका विवाह भी हो चुका था; परन्तु वह बहुत ही अनुपयुक्त और दुःखद सिद्ध हुआ। वह अपनी स्त्री से अलग रहकर कई बरसों तक अकेले ही अपने दिन बिताते रहे; लेकिन उसके मरने तक वह बराबर नियमित रूप से उसके पास खर्च के लिए रुपये भेजा करते थे। इसी बीच में उन्होंने एक विधवा भद्र महिला से, जिनका नाम शिवरानी देवी है, विवाह कर लिया। उनके जीवन की यह साहसपूर्ण और निष्ठ संगिनी उनके तीन लड़कों और तीन लड़कियों की माँ बनी। किन्तु वह और उनके दो लड़के और एक लड़की ही इस समय तक सकुशल वर्तमान हैं। स्वर्गीय प्रेमचन्द जी की क़दर करनेवाले और उनके साथ प्रेम करनेवाले हज़ारों आदमियों की सहानुभूति इन लोगों के साथ है। पहली स्त्री के जीवन काल में ही

जो एक विधवा स्त्री के साथ दूसरा विवाह किया गया था, वह अपने मन की अवस्थाओं की अच्छी तरह जाँच करने के बाद और बिल्कुल चुपचाप किया गया था। यह विवाह किसी विशेष मनोवेग का परिणाम नहीं था और न हम इसे प्रेमी और प्रेमिकावाला विवाह ही कह सकते हैं। बल्कि यह रिश्ता उनके लिए एक दिलेरी का क़दम था और उसमें किसी प्रकार का आवेश या मानोवेग सम्मिलित नहीं था।

जिन दिनों प्रेमचन्द जी स्कूलों के सब-डिप्टी इन्सपेक्टर थे, उन्हीं दिनों वे कहानियाँ लिखने लग गये थे। उन्होंने पहले उर्दू में चार-पाँच कहानियाँ लिखी थीं जो प्रायः तीस वर्ष हुए, एक छोटी-सी पुस्तक के रूप में 'सोज़े वतन' के नाम से कानपुर के ज़माना प्रेस से प्रकाशित हुई थी। प्रेमचन्द जी ने और उनके साथ के दूसरे कलाकारों ने उर्दू और हिन्दी भाषा में कहानी लिखने की कला को उस ऊँचे दरजे पर पहुँचा दिया है, जहाँ आज हम उसे देख रहे हैं। इस समय साहित्य में उससे बहुत अच्छी-अच्छी रचनाएँ हो चुकी हैं और इन अच्छी रचनाओं की चमक और प्रकाश उस पुस्तक के हलके और धीमे प्रकाश को छाया या अन्धकार में डाल देगी, लेकिन फिर भी गल्प-लेखन के इतिहास में वह एक बहुत सुन्दर चिह्न है। देश-प्रेम का शुभ भाव उन पृष्ठों में साँस ले रहा है। उन कहानियों में कोई बात आपत्तिजनक नहीं है। वह बहुत निश्चिन्तता पूर्वक लड़कों और लड़कियों की पाठ्य पुस्तकों में सम्मिलित की जा सकती हैं। लेकिन फिर भी तीस बरस पहले की दुनियाँ ही कुछ और थी। सचेष्ट और सतर्क अधिकारियों ने उनसे कैफ़ियत तलब की। मेरी और उनकी मुलाकात हुए अभी अधिक दिन नहीं बीते थे जब कि उन्होंने अपने बे-तकल्लुफ़ और साफ़ ढंग से मुझसे कहा था कि स्कूलों के इन्सपेक्टर ने किस प्रकार उन्हें अपनी उस पुस्तक की पाँच सौ प्रतियों में आग लगा देने के लिए विवश किया था।

लेकिन फिर भी उनकी रचनाओं का क्रम आरम्भ हो गया था। और यदि मैं उन अवस्थाओं का वर्णन करूँ जिन अवस्थाओं में उनकी अधिकांश पुस्तकें लिखी गई थीं तो यह लेख अपनी सीमा से बहुत बढ़ जायगा। कुछ ऐसे उपन्यास, जो न बहुत बड़े थे और न बहुत छोटे, उनकी क़लम से निकले और इण्डियन प्रेस इलाहाबाद से प्रकाशित हुए। उन्हीं दिनों में उनकी संक्षिप्त कहानियों का क्रम भी आरम्भ हुआ और ये कहानियाँ उनकी मृत्यु के समय तक तीन सौ की असाधारण संख्या तक पहुँच गई थीं।

प्रेमचन्द जी की कहानियों के इस संग्रह के प्रकाशित होने से भारत के गल्प-लेखन के इतिहास में एक शान्त और मौन क्रान्ति हो गई, जिसकी पताका लेकर सबसे आगे चलनेवाले एक मात्र प्रेमचन्द जी ही थे और यह क्रान्ति केवल उनकी आवाज़ पर बराबर आगे बढ़ती चली जा रही थी। आज-कल की शिक्षा-प्रणाली ने इतनी शान-शौकत और चमक-दमक होने पर भी हमें एक अशिक्षित जाति ही बना रखा है। कुछ लोग इस बात का मधुर-स्वप्न बहुत दिनों से देखते चले आ रहे हैं।

कि भारतवर्ष किसी समय अंगरेज़ी शिक्षा प्राप्त लोगों का देश बन जायगा अथवा कम से कम उसका कोई छोटे से छोटा हिस्सा कभी अङ्गरेजी भाषा में कोई ऐसी चीज़ लिख सकेगा जिसकी अच्छी क़दर हो सकेगी अथवा अङ्गरेज़ी और दूसरी यूरोपियन भाषाओं की क़दरदानी और रसास्वादन कभी उसका राष्ट्रीय व्यसन बन सकेगा। परन्तु यह केवल स्वप्न ही स्वप्न है और यह विचार कभी कार्य में परिणत न हो सकेगा। इन्हीं सब बातों के झूठे धोखे और खयाल ने हम लोगों को अपनी भाषाओं में भी कोई अच्छी रचना करने या अपने साहित्य का आदर करने योग्य भी नहीं रखा। तात्पर्य यह कि इन्हीं सब परिस्थितियों में प्रेमचन्द जी ने अपना कार्य आरम्भ किया था। वास्तव में वह उस समय दो दुनियाओं के बीच में थे, जिनमें एक तो मुरदा हो चुकी थी और दूसरी किसी तरह पैदा होने के लिए तैयार नहीं थी। बहुत दिनों तक प्रेमचन्द जी को वह सौजन्य-पूर्ण व्यवहार और सहानुभूति भी प्राप्त न हुई जो हमारे अङ्गरेज़ी शिक्षा प्राप्त हिन्दुस्तानियों में से अग्रगण्य लोग आज-कल कभी-कभी देशी भाषाओं के साहित्य-सेवियों के प्रति दिखलाते हैं। वह उस सौजन्य और सहानुभूति के भी पात्र नहीं समझे गये। वह इस योग्य भी न समझे गये कि हमारे उच्च श्रेणी के प्रतिष्ठित लोग उन्हें अपने ड्राइङ्ग-रूम में मुलाक़ात करने के लिए बुलाते। सम्भव है कि उन्होंने कहीं से उनका नाम सुन लिया हो या, अधिक से अधिक, 'ज़माना' की लेख-सूची में उनके नाम पर उनकी दृष्टि पड़ गई हो। जो हो, अब इस विषय का विस्तार करना व्यर्थ है।

प्रेमचन्द जी बराबर लिखते रहे और साहित्य की परख रखनेवालों के एक छोटे से वर्ग में उनकी रचनाओं की प्रभावशालिनी शक्तियाँ और गुण स्वीकृत होने लगे। लेकिन इससे उन्हें कोई आर्थिक लाभ नहीं हुआ। हाँ, दस वर्षों में 'ज़माना' में प्रकाशित होनेवाली अपनी कहानियों की बदौलत उन्हें उर्दू गल्प-लेखकों में पूरे उस्ताद का दरजा हासिल हो गया।

जिस पहली मुलाक़ात के ज़िक्र से इस लेख का आरम्भ हुआ है वह उसी ज़माने में हुई थी। अब वह अपनी नौकरी के सिलसिले में गवर्नमेन्ट नार्मल स्कूल गोरखपुर में सेकेण्ड मास्टर की हैसियत से आये थे। इस बीच में इस देश के शिक्षित और विद्या-प्रेमी लोगों के वर्ग में भी और उसके अतिरिक्त बाहर भी अच्छी तरह उनकी प्रसिद्धि हो चुकी थी और उस प्रसिद्धि में नित्यप्रति वृद्धि ही होती जाती थी। अब उन्होंने हिन्दी में भी कहानियाँ लिखना शुरू कर दिया था। हिन्दी के गुणग्राहकों के विस्तृत क्षेत्र ने बहुत तपाक से उनका स्वागत किया। हिन्दी में वे गल्पलेखन कला के पूर्ण पण्डित समझे गये। हिन्दी सामयिक-पत्रों और पुस्तक-प्रकाशकों ने उनके लेखों और पुस्तकों का उपयुक्त और यथेष्ट पारिश्रमिक देना आरम्भ किया। उर्दू में उन्हें जो कुछ मिलता था, वह न मिलने के बराबर था। अब उनकी प्रसिद्धि भारतवर्ष के दूसरे भागों में भी हो गई थी। उनकी कहानियों के अनुवाद बँगला,

मराठी, गुजराती और तमि तथाल दूसरी दक्षिण भारतीय भाषाओं में भी प्रकाशित होने लगे। मुझे यह भी मालूम हुआ है कि जापान में भी कुछ हिन्दुस्तानी लेखकों ने उनकी कहानियों के अनुवाद जापानी भाषा में प्रकाशित कराये हैं। कुछ दिन हुए, यह भी सुनने में आया था कि मि० सी० एफ० एण्डरूज़ प्रेमचन्द जी की कुछ कहानियों का अंग्रेज़ी अनुवाद दोहरा रहे हैं और कहानियों का वह अंग्रेज़ी अनुवाद इंगलैंड में प्रकाशित होने को था। मुझे कुछ मित्रों ने यह भी बतलाया है कि उनकी कुछ रचनाओं के अनुवाद युरोप की दूसरी भाषाओं में भी हुए हैं। ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी के प्रोफेसर मि० ड्यूहर्स्ट (Mr. Dewhurst) ने एक बार प्रेमचन्द जी को लिखा था कि आपकी रचनाएँ बहुत उच्च कोटि की होती हैं और भारतीय साहित्य की प्रथम श्रेणी में स्थान पाने योग्य हैं। अनुभवी विद्वान् और साहित्य के दिग्गज पंडित मौलाना शिबली ने एक बार अपनी यह सम्मति प्रकट की थी कि सात करोड़ मुसलमानों में एक भी आदमी प्रेमचन्द की तरह सुन्दर कोमल और सँवारा हुआ गद्य नहीं लिखता। पंजाब में सभी तरह की औरतों में, चाहे वे किसी राजा के महल की हों, चाहे साहूकारों के यहाँ की हों, चाहे हाकिमों के घर की हों और चाहे व्यापारियों के घर की हों, प्रेमचन्द जी की रचनाएँ पढ़ने का एक ख़ास शौक पैदा हो गया है। इससे यह बात तो अवश्य सिद्ध होती है कि कम-से-कम हमारी स्त्रियों की (जो अभी तक वर्तमान शिक्षा-प्रणाली से अधिक लाभ नहीं उठा सकी हैं) मानसिक जिज्ञासा की धार अभी तक कुन्द नहीं हुई है। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं और यह एक निश्चित बात है कि जहाँ कहीं हिन्दी या उर्दू पढ़ी जा सकती है, वहाँ जब खिदमतगार खानसामाँ, मामूली पढ़ी लिखी स्त्रियाँ, बच्चे, गाँवों के अध्यापक, जमींदार और काश्तकार प्रेमचन्द जी की कोई काहानी या उपन्यास पा जाते हैं, तब बहुत ही ध्यान लगाकर उसे पढ़ते और सुनते हैं और उसमें लीन हो जाते हैं।

अब प्रेमचन्द जी स्थायी रूप से उपन्यास-लेखक की ओर प्रवृत्त हो गये और करीब हर साल एक बहुमूल्य उपन्यास तैयार करके संसार के सामने रखने लगे। उनकी असामयिक मृत्यु के समय तक लगभग उनके बीस उपन्यास प्रकाशित हो चुके थे। मैं उनकी रचनाओं के सम्बन्ध में ज़रा आगे चलकर दो एक बातें बतलाऊँगा। जब मैं पहली बार उनसे मिला था, तब वह एक मुदर्रिस की हैसियत से प्राइवेट तौर पर इन्टरमीडिएट का इम्तहान दूसरे दरजे में पास कर चुके थे। और जब सन् १९१९ में वह अपना उत्साहपूर्ण प्रेमाश्रम (जिसका अनुवाद उर्दू में 'गोशए आफ़ियत' के नाम से प्रकाशित हुआ है) लिख रहे थे, तब वह स्कूल में पढ़ाते भी थे और बोर्डिंग हाउस के सुपरिन्टेन्डेन्ट का भी काम करते थे। फिर उसी रवारवी में उन्होंने बिना कोई विशेष परिश्रम किये दूसरे दरजे में बी० ए० को डिग्री भी हासिल कर ली थी, यद्यपि उन्होंने अपने सारे जीवन कभी एक विद्यार्थी के

रूप में किसी कॉलेजे में पैर तक नहीं रखा था।

थोड़े दिनों बाद प्रेमचन्द जी ने सरकारी नौकरी से इस्तीफा दे दिया। यदि वह नौकरी करते रहते तो निश्चित है कि आज वह अपने महकमे में काफ़ी तरक्क़ी कर चुके होते और उनकी गिनती इस सूबे के शिक्षा विभाग के बड़े अफसरों में होती। लेकिन सन् १९१९ ई० के असहयोग आन्दोलन के समय, जब उनकी अवस्था तीस वर्ष से कुछ अधिक हो चुकी थी, मेरे यू० पी० सिविल सर्विस की नौकरी छोड़ने के कुछ ही हफ़्तों बाद, वह भी सरकारी नौकरी से अलग हो गये। उस समय उनके पास कुछ रुपये भी जमा हो गये थे, क्योंकि वह बहुत ही सादगी और किफ़ायत से रहते थे। वह अपने आरम्भिक जीवन में अनेक प्रकार की कठिनाइयाँ और विपत्तियाँ भोग चुके थे और जन्म भर बिना अनुभव किये ऐसा साधुओं का सा जीवन व्यतीत करते रहे जिसमें न तो खुश्की ही थी और न कष्ट का अनुभव ही, न तो आत्म-पोषकोंवाली पवित्रता ही थी और न हृदयहीन त्यागियों का कट्टरपन ही। यहाँ भी उनकी निरीहता और बाल्यावस्थावाली सादगी में धोखा नहीं हो सकता था। और उनकी इसी विशेषता ने चुम्बक पत्थरवाले आकर्षण की तरह बहुत ही शान्त और विश्वसनीय रूप से मुझे उनके बहुत ही पास पहुँचा दिया था। और वास्तविक बात तो यह है कि उनके मिलनेवालों में से कोई आदमी उनके इस आकर्षण से बच नहीं सकता था। उनके व्यक्तित्व में मन्द गति से बहनेवाली हवा की ताज़गी, कौमार और अछूतापन मौजूद था। वे सदा मनुष्यत्व के बहुत पास और आडम्बर से बहुत दूर रहते थे।

अभी उन्हें सोलह बरस और जिन्दा रहना था। बनारस में उन्होंने सरस्वती प्रेस स्थापित किया और अपने गाँव में अपने पुश्तैनी मकान की जगह एक पक्का मकान बनवा लिया था। वहीं रहकर वे अपने जीवन के बाक़ी दिन बिताना चाहते थे। लेकिन यह बात न हो सकी। वे वहाँ थोड़े ही दिनों तक रह सके। लेकिन उनके थोड़े ही दिनों के निवास के समय वह स्थान सारे भारत से उनके गुण-ग्राहकों और शिष्यों के आने-जाने के कारण एक प्रकार का पवित्र तीर्थ बन गया था। यदि यह बात वह स्वयं सुनते तो चकित और प्रसन्न होकर परेशान हो जाते। भारतवर्ष में और लेखन के व्यवसाय से कोई स्थायी आय होना या ईमानदारी से अपनी ज़िन्दगी के लिए कुछ पैदा कर लेना असम्भव हो गया है। यहाँ के लोगों को किताबें पढ़ने का तो थोड़ा बहुत शौक़ ज़रूर है, लेकिन किताबें ख़रीदता कौन है ?

असहयोग आन्दोलन के दिनों में जो थोड़े से राष्ट्रीय विद्यालय स्थापित हो गये थे, उन्हीं में से काशी का एक विद्यापीठ भी है। प्रेमचन्द जी को भी इस विद्यापीठ में कुछ दिनों तक प्रिन्सिपल के रूप में सेवा करनी पड़ी थी। चार-पाँच वर्षों तक वह हिन्दी के प्रसिद्ध मासिक-पत्र 'माधुरी' के प्रधान सम्पादक भी रहे। और एक साल से भी कुछ कम समय के लिए बम्बई की एक हिन्दुस्तानी फ़िल्म बनानेवाली कम्पनी

के लिए नाटक लिखते रहे जिससे उन्हें एक हज़ार रुपये के लगभग प्रति मास मिलता रहा। ये सब बातें बिना किसी विशेष क्रम के होती रहीं। जब कोई नौकरी नहीं होती थी; तब वे अपना प्रेस चलाते थे जिसमें उनके कई उपन्यास और कहानियों के संग्रह प्रकाशित हुए थे। लेकिन प्रेस में उन्हें बहुत अधिक घाटा उठाना पड़ा। एक हिन्दी साप्ताहिक पत्र के सिवा उन्होंने 'हंस' नाम का एक मासिक पत्र भी निकाला था जो अभी तक उसी दृढ़ निश्चय के साथ श्रीमती शिवरानी देवी के सम्पादकत्व में निकल रहा है। दो महीने की बहुत कड़ी और कष्टदायक बीमारी के बाद गत अक्तूबर मास में उनका देहान्त हो गया। मैंने दशहरे की छुट्टियों में अन्तिम बार उनके दर्शन करने का विचार किया था, लेकिन उनकी मृत्यु का समाचार छुट्टियाँ शुरू होने से पहले ही मिल गया।

देश के बहुत से प्रतिष्ठित लोगों ने, जिनमें उनके साहित्यकार मित्र और शिष्य भी थे, इस बीमारी के दिनों में उनके घर जाकर उन्हें देखा था, जहाँ उनकी धर्म-पत्नी बहुत ही प्रशंसनीय साहस और प्रेम पूर्वक उनकी सेवा-शुश्रुषा किया करतो थीं। उन सब लोगों में प्रेमचन्द जी को उस बीमारी के ज़माने में भी वैसा ही सरल, निरीह और प्रसन्न-चित्त पाया था। उनके मरदाने चेहरे पर एक अच्छे कलाकार की सच्ची झलक स्पष्ट रूप से दिखाई देती थी। लेकिन उनकी तन्दुरुस्ती कुछ इस तरह उखड़ चुकी थी कि उनके बचने की कोई आशा बाक़ी नहीं रह गई थी। फिर भी वे ऊपर से देखने में अपने रोग की विकटता से अपरिचित रहना चाहते थे। उनके मस्तिष्क में उस समय भी यथेष्ट विचार-धारा प्रवाहित होती थी और वह लोगों से अपनी भावी रचनाओं की उपयोगी योजनाओं का ज़िक्र किया करते थे। उनकी बात-चीत उसी प्रकार स्वाभाविक और आवेशपूर्ण होती थी और उसमें बराबर सूक्ष्मदर्शिता, तत्परता, चिन्तन-सूक्ष्मता की झलक दिखाई देती थी। बातों बातों में वह ऐसे ठहाके लगाते थे जिन्हें सुननेवाले जल्दी भूल नहीं सकते। और उस बीमारी के दिनों में भी जब कोई हास्यस्पद बात उनके सामने आ जाती थी, तब उस पर वह उसी तरह मगर कमज़ोर ठहाके लगाया करते थे; लेकिन फिर भी अब वे ठहाके पहले से कम और कमज़ोर हो गये थे और ऐसा जान पड़ता था कि अब उनका शरीर मृत्यु के निस्तब्ध क्षेत्र की ओर जा रहा है। अब वह शरीर उन लड़कों के से ठहाकों के योग्य नहीं रह गया था, जो उनके मिलने वालों के लिए उनके व्यक्तित्व का एक अंग हो गये थे। वह काम करते हुए ही जीये और काम करते हुए ही मरे। और जब उनका अन्त आया, तब वह इतनो निस्तब्धता और कोमलता के साथ आया जो उनकी कई कहानियों के अन्तिम अंशों में दिखाई देता है।

आज से प्रायः तीस वर्ष पहले जब पं० रतननाथ सरशार का देहान्त हुआ था तब, मुझे जहाँ तक स्मरण है, सर तेज बहादुर सप्रू ने अपने बहुमूल्य और प्रभावशाली शोक-सूचक लेख के आरम्भिक वाक्य में (जो हिन्दुस्तान रिव्यू में प्रकाशित हुआ था)

साहित्य-सेवियों के उस शिरोमणि के सम्बन्ध में लिखा था कि सरशार की जादू का सा काम करनेवाली क़लम अब सदा के लिए मौन हो गई। वास्तव में यह बात बिल्कुल ठीक थी। फ़िसाना आज़ाद की विस्तृत कहानी में जो घटनाएँ, कथोपकथन और परिहास आदि का क्रम लगभग चार हज़ार पृष्ठों पर फैला हुआ है, वह अवश्य ही बहुत अधिक प्रशंसनीय है। लेकिन उसमें बहुत सी अस्वाभाविक तिलिस्मी बातें भी ज़रूर हैं। कहते हैं कि सरशार ने सरवेन्टीज़ (Cervantes) का चरित्र डान क्विग्जोट (Don Quixote) के साँचे में ढाला है। लेकिन क्विग्जोट अपने हास्यस्पद अतिरेकों और ज्यादतियों के रहते हुए भी महत्व और वीरता की अमर आत्मा का सूचक है। और सरशार की रचना यद्यपि यह सूचित करती है कि उसका लेखक लेखन-कला का पूर्ण पण्डित था, लेकिन फिर भी, वह रचना हमारे सामने एक ऐसी बात रखती है जिसमें प्रत्यक्ष अस्तित्व के विचार से कोई दृढ़ और स्थायी वास्तविकता नहीं है, बल्कि स्वप्न जगत् की एक स्पष्ट फ़िल्मी चित्रकारी है। फ़िसाना आज़ाद में लखनऊ के अवनतिशील और जल्दी मिटनेवाले शीया अमीरों और रईसों के जीवन के मनोविनोद की सामग्री का एक आकर्षक चित्र है। सरशार को वैभवशालिनी बुद्धिमत्ता ने सबसे बड़ा काम यह किया कि उन्होंने अपनी क़लम के बल से इस छाया-तुल्य अ-वास्तविक जगत् को अमर बना दिया है। प्रत्येक देश और प्रत्येक काल के रईसों के जीवन में एक प्रकार के अ-वास्तविक तिलिस्म का आकर्षक अवश्य होता है। सरशार ने इसी तकल्लुफ़ और बनावट के जीवन के ऐसे चित्र फ़िसाना आज़ाद के पृष्ठों में अंकित किये हैं, जो देखनेवालों को मोहित कर लेते हैं और चित्र उन्होंने अपनी जादू भरी क़लम से कुछ इस प्रकार अंकित किये हैं कि उसका प्रत्येक पृष्ठ स्वप्न जगत् के एक जादू के महल की खिड़की की तरह मालूम होता है जो स्वप्न की ही अवस्था में खुलती है और अपने शोभापूर्ण दृश्य दिखलाती है।

यदि हम प्रेमचन्द जी के सम्बन्ध में यह कहें कि उनकी क़लम जादू का सा काम करती थी तो यह उनके सम्बन्ध में कोई बहुत बड़ी बात न होगी। उनके प्रत्येक पृष्ठ में सभ्यता के प्रवर्त्तकों के पहले क़दमों की चाप सुनाई देती है। उनकी किताबों के द्वारा सामूहिक जीवन के समस्त अमर, स्थायी और दृढ़ अङ्गों में फिर से नवीन जीवन का संचार हो गया था। भारतवर्ष की प्राचीन ऐतिहासिक सभ्यता उसकी तूफ़ान लानेवाली जाग्रति की पहली धीमी करवटें थीं जो उनकी क़लम से कहानियों के रूप में प्रकट हुई थीं। इस तरह की कोई चीज़ बंकिमचन्द्र चटर्जी, रवीन्द्रनाथ टैगोर, शरत्चन्द्र चट्टोपाध्याय और दूसरे बंगाली लेखकों ने भी दुनिया के सामने पेश नहीं की। यद्यपि उक्त लेखकों के उपन्यासों और कहानियों में बहुत अधिक गम्भीरता और शक्ति है, लेकिन फिर भी अधिकतर वे मानसिक भावों की ही सूचक हैं और प्रायः अपनी आवश्यकता से अधिक सतर्कता के कारण वे गद्य कथानकों का सच्चा आदर्श नहीं हो सकतीं, और इसीलिए मेरी समझ में प्रेमचन्द

जी की रचनाएँ भारत के उपन्यास-लेखन और गल्प-लेखन में एक बहुत बड़ा परिवर्त्तन या क्रान्ति करनेवाली हैं। क्योंकि उनमें साहित्यिक विशेषताओं के साथ-ही-साथ सर्व-व्यापकता, विस्तार, तथ्य, आवेश और दृढ़ता सभी कुछ वर्त्तमान है। यह मानसिक भावों को उपस्थित करते समय बाल की खाल नहीं निकालते थे लेकिन उनके गद्य में ज़िन्दगी की तड़प मौजूद है।

मैं फिर एक बार अपने विचारों को तीस बरस पीछे ले जा रहा हूँ, जब मैंने उनकी एक कहानी पढ़ी थी। उस समय मेरी अवस्था कठिनता से दस-बारह बरस की रही होगी। इस समय संसार में बालकों के लिए जो साहित्य वर्त्तमान है, मैं उसका विचार करता हूँ। ईसप की कहानियाँ (Esop's Fables) उससे पहले का हितोपदेश, अलिफ़ लैला, ग्रिम और एंडरसन के परियों आदि के किस्से) Grimm & Anderso's Fairy Tales), जी० ए० हेन्टी (G. A. Henty) की रचनाएँ और दूसरी बहुत-सी पुस्तकें मेरी दृष्टि के सामने हैं। यद्यपि उनमें बहुत-सी रचनाएँ बहुमूल्य और बहु-मान्य हैं, लेकिन यह सोचकर मैं बहुत ही चकित हो जाता हूँ कि साहित्य की जो सूक्ष्म आत्मा और रंगीनी, वास्तविकता की झलक, सूक्ष्म अनुभूतियों की अभिव्यक्ति और वह बसी हुई तासीर जो प्रेमचन्द जी में मिलती है, उक्त सब ग्रंथों में कहीं नाम को भी नहीं है। गद्य के जो ग्रन्थ उच्च कोटि के शिक्षित और सभ्य लोगों के लिए लिखे जाते हैं, उनके सम्बन्ध में यही प्रत्याशा की जाती है कि उनमें साहित्य की कोमलता, सरसता वास्तविकता और अवास्तविकता का भेद अवश्य ही दर्शाया गया होगा। परन्तु बालकों के पढ़ने योग्य पुस्तकों में ये बातें कदाचित् ही कभी देखने में आती हैं। परन्तु प्रेमचन्द जी की प्रायः पचास ऐसी कहानियाँ हैं जिन्हें बच्चे बहुत दिलचस्पी के साथ पढ़ सकते हैं और उनकी सरसता तथा कोमलता बच्चों को बिना प्रभावित किये नहीं रह सकती। वे कहानियाँ बच्चों को भी चिन्तन और मनन की ओर प्रवृत्त करती हैं और उनके अर्द्धविकसित मस्तिष्क में विलक्षण मनोभावों का संचार करतीं और बीती हुई घटनाओं का स्मरण दिलाती हैं। संसार के साहित्य में इस तरह की कोई और चीज़ नहीं है। उनकी कहानियों की अच्छी खासी संख्या में एक प्रकार की अनुपम सरलता, प्रवाह और विचारों के सच्चे चित्र मिलते हैं। हज़ारों जगहों पर उनकी क़लम की एक हलकी-सी गति इतनी अधिक प्रभावशालिनी होती है कि वह वास्तविक साहित्य और भारत को विश्वव्यापिनी आकर्षण शक्ति रखनेवाली सभ्यता का स्थायी चित्र बन जाती है। इसी में उस मौन और गम्भीर प्रभाव का रहस्य छिपा हुआ है जो उनकी रचनाएँ हर पढ़नेवाले और हर भारतवासी पर डालती हैं (चाहे वह किसी उम्र का हो और मानसिक विकास के किसी तरह पर क्यों न पहुँचा हुआ हो।) उनकी रचनाओं में भारतवर्ष की अमृत में बसी हुई आत्मा है जिससे भारतीय जीवन की वृद्धि और विकास हुआ है और जिसके कारण स्वयं उनकी रचनाएँ फूलीं, फलीं, बढ़ीं और लहलहाई हैं।

रघुपति सहाय फ़िराक़

उनकी सभी छोटी कहानियाँ समान रूप से सफल नहीं हुई हैं। उनमें से बहुत सी कहानियाँ बहुत ही जल्दी और रवारवी में लिखी गई हैं। कई कहानियाँ ऐसी भी हैं जिनमें स्वयं लेखक को भी सफलता नहीं हुई है। लेकिन फिर भी उनकी अधिकांश कृतियाँ बहुत ही उच्च कोटि की हैं। उन्होंने हिन्दुस्तानी भाषा को छोटी कहानियाँ लिखने की विशिष्ट कला से परिचित कराया है और उस अनुपम वर्णनात्मक लेख-शैली का उदाहरण उपस्थित किया है जो फ्रान्सीसी गद्य की ऊपरी तड़क-भड़क और आवश्यकता से अधिक जँचा-तुला-पन और जरमन गद्य की कृतिमता तथा उलझनवाली वर्णन-शैली से बिल्कुल रहित है। उनका गद्य कोमल, सरस, चलता हुआ और पुष्ट है। उनकी लेख-शैली भारतीय रहन-सहन के मान-दंड की दर्शक है। उनके संकेतों में भी यही सौन्दर्य और प्रभाव है जो उनकी लेख-शैली की जान है। उन्होंने हिन्दुस्तानी भाषा को पहली बार ऐसे दार्शनिक वचनों और सिद्धान्तों से सम्पन्न कर दिया है जिनका संग्रह स्वयं ही एक बहुत बड़े ग्रन्थ का रूप धारण कर सकता है।

उनका महत्व उनके उपन्यासों के कुछ टुकड़ों में प्रकट होता है। जो उपन्यास सफल कहा जा सकता हो, उसके लिए यह आवश्यक है कि उसमें कुछ औपन्यासिक पेंच हों, कुछ कला सम्बन्धी कठिनाइयाँ हों, और उनके भिन्न-भिन्न अंगों में एक केन्द्रीय एकता और सामंजस्य हो। परन्तु प्रेमचन्द जी की पूर्णता और पारंगतता का यह केन्द्र था आदर्श नहीं था। इतना सब कुछ होने पर भी वह हिन्दी और उर्दू के सबसे बड़े उपन्यास-लेखक थे और उनकी गणना भारतवर्ष की दूसरी भाषाओं के दो चार बहुत ऊँचे दरजे के उपन्यास-लेखकों में थी। उनके छोटे और बड़े सभी प्रकार के उपन्यासों के कुछ विशिष्ट अंश, जिनकी संख्या बहुत अधिक है, इस बात के सूचक हैं कि उपन्यास-लेखन कला में प्रेमचन्द जी पूर्ण पंडित और पारंगत थे। और उन्हीं अंशों के कारण वह अपनी अच्छी-अच्छी कहानियों से भी कहीं अधिक ऊँचे हो जाते हैं। ये अंश देव वाणी के ढंग से लिखे हुए मालूम होते हैं और अमर महत्व के पताका-वाहक हैं। उनमें से प्रत्येक अंश किसी बहुत प्रतिष्ठित और पूर्ण कलाकार के अधूरे कृत्य मालूम होते हैं। यहीं प्रेमचन्द जी आसमान के तारे तोड़ लाते हैं। रंगभूमि या चौगाने हस्ती के आरम्भिक पृष्ठों में बेतकल्लुफ़ी; ज़िन्दादिली, सादगी, प्रवाह, ओज और संकेतों के महत्व में अपना जवाब नहीं रखते। इस उपन्यास में भी और उनके दूसरे उपन्यासों में भी थोड़ी-थोड़ी दूर पर ऐसे कई-कई पृष्ठ मिलते हैं जो केवल एक बहुत बड़े व्यक्ति की ही क़लम से निकल सकते हैं। वह अपने अधिकांश उपन्यास बहुत ही विचार और चिन्तन के उपरान्त और बहुत ज़ोर में शुरू करते थे लेकिन कुछ दूर जाने पर उनका वह प्रकाश कुछ देर के लिए मन्द पड़ जाता था और कुछ देर बाद फिर शुरू होता है।

प्रेमचन्द जी के साथ मेरा जो व्यक्तिगत सम्बन्ध था, उनके विषय की एक बात

विशेष रूप से उल्लेख करने के योग्य है, जिसे मैं केवल एक 'विलक्षण कठिनता' कह सकता हूँ। अपने देश के उन सभी लोगों की तरह, जिन्हें भारतवर्ष के वर्त्तमान साहित्य से कुछ भी प्रेम है मेरी व्यक्तिगत प्रवृत्ति भी स्वभावतः काव्य और उसकी रचना तक ही परिमित थी। और आरम्भ से ही मुझे आशा थी कि प्रेमचन्द जी भी उर्दू काव्य के ऊँचे दरजे की चोजों के उसी प्रकार भक्त और अनुराग रखने वाले होंगे। यह बात तो नहीं है कि उच्च कोटि के काव्य का उन पर कोई आकर्षक प्रभाव नहीं होता था, लेकिन फिर भी वैसे काव्य सुनकर वे कभी आपे से बाहर नहीं हो जाते थे। मुझे इस बात से सदा एक प्रकार का आश्चर्य और उलझन हुआ करती थी। क्योंकि जब उनसे पहले-पहल भेंट हुई थी, तब दूसरे नवयुवकों की भाँति मेरा भी यही विश्वास था कि साहित्य में सबसे बड़ी चीज़ कविता ही है। गद्य और विशेषतः उपन्यासों तथा कहानियोंवाला गद्य मेरी समझ में एक निस्सार-सा पदार्थ था। मेरे लिए प्रेमचन्द जी का कविता से स्थायी रूप से अप्रभावित रहना एक ऐसा रहस्य था जो मेरी समझ में ही नहीं आता था। मैं उन्हें साहित्य के काव्य सम्बन्धी सौन्दर्य की कोमलताओं का कुछ भी अनुरक्त और उपासक नहीं पाता था। परन्तु इस क्षेत्र में वे आरम्भ से ही मेरा प्रवेश देखकर मुझे आदर की दृष्टि से देखते थे जिससे मुझे एक प्रकार की हार्दिक प्रसन्नता होती थी। उन्हें नियमित रूप से कुछ अध्ययन करने का भी अभ्यास नहीं था। लेकिन यह ढंग केवल थोड़े से बड़े-बड़े लेखकों का ही रहा है। प्रेमचन्द जी किसी विशेष सिद्धान्त के वशवर्त्ती होकर भी कभी पुस्तकें नहीं पढ़ते थे। उन्हें अधिकतर वही पुस्तकें और उपन्यास आदि अच्छे लगते थे जिनमें रस्म-रवाज, अनुभूतियाँ, कथानक, ऐतिहासिक घटनाएँ और जीवन सम्बन्धी दूसरी बातें सादे और परिचित ढंग से लिखी हुई होती थीं। इसमें भी वे अपनी उसी जिज्ञासा और साहित्य के शौक़ का परिचय देते थे। चाहे पुरानी बातों, अप्रिय घटनाओं, बीती हुई बातों और पुरानी लड़ाइयों का वर्णन हो (जैसे आल्हा, रानी सारन्धा और रूठी रानी आदि) और चाहे नित्य प्रति की बातों (यथा-हार्दिक दुःख, कष्ट या हानि) का वर्णन हो, जो संसार में पहले भी हो चुके हैं और आगे भी होते रहेंगे, प्रेमचन्द जी को पसन्द नहीं थे। ये सब बातें प्रेमचन्द जी के लिए बहुत ही विलक्षण और उन्हें चकित करने वाली होती थीं। लेकिन इस पर भी मैं मन-ही-मन में चकित होता था कि कविता उनकी आत्मा में क्यों गरमी नहीं पैदा करती ? कविता से वह क्यों प्रभावान्वित नहीं होते। इस समस्या का एक निराकरण सा उस समय मेरी समझ में आया, जब मैं उनकी मृत्यु के उपरान्त अपने एक मित्र और भारतवर्ष के एक मान्य सपूत के कम हो जाने पर विचार कर रहा था। उस समय मेरे ध्यान में यह बात आई कि जो लोग गद्य-लेखन कला के पूर्ण पंडित होते हैं, वे कदाचित् ही कभी काव्य के विशेष गुण-ग्राहक होते हैं। बेकन, जानसन, हैजलिट कारलाइल और रस्किन को देखिये। ये लोग भी छन्दोबद्ध और रस से भरी हुई कविता के वश में

नहीं थे। दुनिया के बड़े-बड़े उपन्यास-लेखक, नाटककार और वर्णनात्मक गद्य-काव्य लिखनेवाले लेखक कभी भावुकतापूर्ण काव्य से प्रभावित नहीं होते थे। क्या वर्डस्वर्थ, जो एक बहुत बड़ा भावुक कवि था, शेली की कविता से और शेली वर्डस्वर्थ की कविता से नाक-भौंह नहीं सिकोड़ता था। भावुक कवि शायद ही कभी एक प्रकार की दृष्ट आत्म-श्लाघा से बच सकता है। और प्रेमचन्द जी ऐसे आदमियों में नहीं थे जो केवल मनोविकारों के दास होते और अपने आपको सबसे बड़ा समझते हैं। प्रायः उनकी प्रत्येक रचना में एक बहुत सुन्दर आदर्श-वाद है जिसकी बदौलत वे अपनी कथावस्तु और पात्रों से निकल कर भारतीय इतिहास की पाँच हज़ार बरस पुरानी सभ्यता तक जा पहुँचते हैं। ऊपर से देखने में उनकी कहानियों की जो सीमाएँ होती हैं, वास्तव में वे कहानियाँ उन सीमाओं से कहीं बड़ी होती हैं। उनमें एक ऐतिहासिक सभ्यता का वर्णन और रंग होता है। उनकी पुस्तकें हमें उन काल-चक्रों से परिचित कराती हैं जो इतिहास के आरम्भिक काल से शुरू हुए थे और जिनमें अब भी यौवन-काल का ताज़ापन मौजूद है। जब कभी हम उनकी कोई कहानी पढ़ते हैं, तब हमें यही जान पड़ता है कि यह केवल भारतवर्ष के सम्बन्ध में ही नहीं है, बल्कि स्वयं भारतवर्ष ही है। न तो उनमें काल्पनिक और अवास्तविक आदर्शों का ही वर्णन होता है और न भारतीय सभ्यता की बिना समझी-बूझी प्रशंसा ही होती है। इसी सभ्यता और संस्कृत के सम्बन्ध में वह कभी-कभी बहुत ही कटु बातें भी कह डालते हैं। अब उनकी रचनाएँ एक नये क्षेत्र की ओर अग्रसर हो रही थीं। क्यों, कि उनकी अन्तिम कहानियों में अधिक गहराई और तीखापन दिखाई देता है। उनकी कला नवीन शक्ति सम्पादित कर रही थीं; पर इसी बीच में अचानक मृत्यु ने आकर उनका अन्त कर दिया। उनकी लेखनी से भारतीय साहित्य को बहुत बड़ा लाभ पहुँचा है। उनकी मृत्यु से देश की इतनी बड़ी हानि हुई है जिसकी कभी पूर्ति नहीं हो सकती। जब भविष्य में उनका कोई उत्तराधिकारी आवेगा तब उसके मस्तक पर उस व्यक्ति के सिर का बेदाग और ताज़ा सेहरा आकर चढ़ेगा जिसने कभी कोई हेठी बात नहीं कही।

बिदा! मुन्शी प्रेमचन्द, बिदा!

•

३० | रामनरेश त्रिपाठी

प्रेमचन्द जी की मेरी पहली मुलाक़ात सन् १९१५ या १६ में प्रयाग में हुई थी। वह श्री महावीर प्रसाद पोद्दार के साथ आये हुए थे। उसके पहले मैं उनको नहीं जानता था। उस समय वह शायद गोरखपुर के किसी स्कूल में अध्यापक थे और बी० ए० की परीक्षा दे चुके थे। उनका परिचय देते हुए पोद्दार जी ने उनकी कहानियों की बड़ी प्रशंसा की थी। शायद उन दिनों वे 'सप्तसरोज' का प्रकाशन करने जा रहे थे।

उस मुलाक़ात के बाद मैंने पहले-पहल उनका 'सेवा-सदन' पढ़ा और उनकी ओर विशेष रूप से आकर्षित हुआ। उसके बाद तो मैं उनकी कहानियों और उपन्यासों का नियमित पाठक बन गया।

प्रेमचन्द जी उर्दू से हिन्दी में आये थे और थोड़े ही समय में उन्होंने हिन्दी में अपनी खास शैली निर्धारित कर ली, जो उनकी बिलकुल निज की थी, और मेरी राय में वही उनका सब से अधिक स्थायी और वर्द्धनशील स्मारक है।

उनके घनिष्ठ मित्रों से उनके कौटुम्बिक जीवन को बहुत-सी बातें सुनता रहता था; उनमें एक मुख्य बात यह थी कि वे ग़रीब गृहस्थ के घर के रत्न थे। इससे ग़रीब जनता के लिए उनमें स्वाभाविक सहानुभूति थी और यही कारण था कि उन्होंने जीवन के अन्त समय तक अपना हृदय और मस्तिष्क ग़रीबों को समर्पण कर रखा था। उनकी मस्त रचनाओं में उनके हृदय की यह अविचलित धड़कन विद्यमान है। वह हँसे भी तो ग़रीब-समाज में बैठ कर; रोये भी तो ग़रीबों की दुनिया में; और उन्होंने मज़ाक़ भी किया तो उन्हीं भावों को लेकर। ग़रीबों का इतना बड़ा लेखक शायद ही इस देश की किसी भाषा में हुआ हो।

खेद है, प्रेमचन्द जी को उनके जीवनकाल में हिन्दी वालों ने नहीं पहचाना। आज उनकी मृत्यु के बाद हम उनके अभाव को जिस मोह से अनुभव कर रहे हैं

वह उनके जीवन-काल में हुआ होता तो हम उनको लेकर बहुत उच्च हुए होते। उन पर क्या-क्या इलज़ाम न लगाये गये, उनके सद्‌गुणों को ढकने के लिए क्या-क्या उद्योग नहीं किये गये, इन सब का स्मरण करके हमें लज्जा से सिर झुका लेना पड़ता है।

मैं गुजरात, काठियावाड़ और दक्षिण भारत में दो-तीन बार हो आया हूँ। प्रत्येक बार नये-नये साहित्य-प्रेमियों से मिलने का मुझे अवसर मिला है। मैंने सर्वत्र प्रेमचन्द जी को व्याप्त पाया। मैं अधिक सचाई के साथ कह सकता हूँ कि अ-हिन्दी प्रान्तों में हिन्दी के लेखकों और कवियों में केवल प्रेमचन्द जी ही का नाम सबसे अधिक प्रसिद्ध है। उनकी कहानियों के अनुवाद भिन्न-भिन्न भाषाओं में हो गये हैं जिन्हें उत्तरभारत के साहित्यिक शायद न जानते होंगे। यदि प्रेमचन्द जी गुजराती या बँगला में लिखते होते तो निश्चय ही उन भाषाओं के उत्साही लोग उनका यथोचित सम्मान करके उन्हें भारतवर्ष के साहित्यिकों में सर्वोच्च स्थान तक पहुँचा चुके होते। हिन्दीवालों से अधिक सम्मान तो उनका उर्दू ही वाले करते थे। खेद है, आज उनकी मृत्यु के बाद हम उनका स्मारक बनाने की फ़िक्र में हैं।

प्रेमचन्द जी से मिलने का मुझे कितनी ही बार मौक़ा मिला था। वह बड़े ही मिलनसार, दोस्तदार, सदा प्रसन्नमुख और साफ़गो आदमी थे। वह जी खोलकर ऐसा हँसते थे कि घर गूँज उठता था। उनका अट्टहास तो अब भी कानों में गूँज रहा है। अभिमान की उनमें बू भी नहीं थी। बीमारी से पहले मेरा उनका साथ नागपुर हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन में हुआ था। हम दोनों एक साथ घूमने-फिरने, चाय पीने, जलपान करने और गपशप के लिए एक-दूसरे को ढूँढ़ लिया करते थे।

उनका अंतिम दर्शन मैंने उनकी रुग्ण-शय्या पर किया। मैं एक इच्छा लेकर गया था कि यदि उनमें चलने फिरने की शक्ति हो तो उन्हें सुल्तानपुर ले जाता, जहाँ की आबहवा उनको बहुत मुवाफ़िक़ पड़ती। पर वह तो करवट बदलने में भी लाचार थे। मुझे देखकर वह मुसकुराये और धीरे से बोले — 'किनारे लग चुका हूँ, पता नहीं कब नाव छोड़ दूँ।' यह कर उन्होंने एक शेर पढ़ा, जो मुझे सुनाई नहीं पड़ा। उनका रागहीन पीला चेहरा और हाथ अब भी मेरी आँखों में चित्रित हैं। भरे हुए हृदय से उन्हें जीने का मिथ्या आश्वासन देकर, क्योंकि देखते ही मुझे विश्वास हो गया था कि वह अब चंद दिनों के मेहमान हैं, मैं उनसे जुदा हुआ और इसके थोड़े ही दिन बाद 'लीडर' में यह दुखदायी समाचार पढ़ा कि प्रेमचन्द जी अब इस नश्वर संसार में नहीं रहे।

हमारे साहित्यक आकाश का एक बड़ा नक्षत्र टूट कर गिर पड़ा; हिन्दी के नन्दन-कानन का एक सुरभित सुमन अकाल ही में मुरझा गया; हमारे साहित्यक जीवन का एक स्रोत सूख गया; ग़रीबों के लिए धड़कता हुआ एक हृदय यकायक

बंद हो गया; सहृदय मित्रों का एक मध्यस्थ अपनी जगह खाली करके चला गया। अब केवल उसकी खूबियाँ हैं, और उनके अंदर उसकी सूरत देखकर आहें भरने वाले उसके कुछ मित्र। —

'कमर बाँधे हुए चलने को याँ सब यार बैठे हैं।
बहुत आगे गये, बाक़ी जो हैं, तैयार बैठे हैं॥'

●

३१ | रामनाथ सुमन

(१)

प्रेमचन्द की मृत्यु को आज छः महीने होने को आये। इस बीच बार-बार मुझे उन पर लिखने को कहा गया है — मेरे दिल ने भी कहा है। मैं सोचता रहा हूँ, मन ज़रा स्वस्थ हो ले तो लिखूं। पर क्या लिखूं? दिल में अनेक भाव उठते हैं और एक दूसरे को मिटाते हुए मिट जाते हैं। इस बाढ़ में मन की नाव डगमगा रही है। सोचता हूँ, हिन्दी-संसार ने उनके साथ क्या किया? उनके जीवन में उनकी क़द्र न हुई — मौखिक और धुएँ के समान अस्पष्ट आकाश में उड़ जाने वाली क़द्र तो बहुत हुई पर मैं उसकी बात नहीं कर रहा हूँ। मेरे निकट इसका महत्व नहीं। मैं पूछता यह हूँ कि प्रेमचन्द की आत्मा को, उनके संदेश को कितनों ने पहचाना, समझा और ग्रहण किया। आज से १७ वर्ष पूर्व जब हिन्दी ने अपनी आत्मा को पहचाना न था और जब उसके अन्दर कोई ऐसा न था कि उसकी अन्तःप्रतिभा को, उसके आत्म-रूप को, उसकी प्रच्छन्न शक्तियों को परदा फाड़कर बाहर कर देता; जब हम खोये और भूले हुए, बँगला की जूठन को लेकर तृप्त थे तब एक प्रौढ़ युवक हमारे बीच आया और उसने परदे को उठा दिया। उसने हमारे बीच वह चीज़ रखी जिसको पाकर हमने अपने को देखना-पहचानना सीखा और हम हम हुए। इस व्यक्ति ने प्रेम को सौदे और मोल-तोल तथा विलासिता के बाज़ार से उठा कर कर्त्तव्य की उच्च भूमि पर प्रतिष्ठित किया। इसने साहित्य में सर्वसामान्य के प्राणों का कम्पन व्यक्त किया। किया। इसने हमें नशा करने वाला नहीं, जिलानेवाला, पुष्ट करनेवाला साहित्य दिया। जहाँ हमारी सर्वश्रेष्ठ पत्रिकाएँ उधार एवं उच्छिष्ट अन्न पर पनप रही थीं वहाँ इसने औरों को हमारी चीज़ें लेने और पढ़ने को बाध्य किया। पहली बार हमने अनुभव किया कि हमारे साहित्य में भी ऐसी चीज़ें हैं जिसे पाकर दूसरे धन्य होते; जिसे दूसरे लेते हैं और सिर चढ़ाते हैं।

प्रेमचन्दजी पहले हिन्दी लेखक हैं जिनकी रचनाओं के न केवल बँगला, गुज-

राती, मराठी, उर्दू, तामिल इत्यादि देशी भाषाओं वरन् जापानी, अंग्रेज़ी, जर्मन इत्यादि विदेशी भाषाओं में भी अनुवाद हुए और अंग्रेज़ी लेखकों ने जिनकी तुलना संसार के सर्वश्रेष्ठ आख्यायिकाकारों एवं औपन्यासिकों से की है।

पर यह केवल उपन्यासों का ही प्रश्न नहीं है; यह हमारे समस्त साहित्य की आत्मा का प्रश्न है। प्रेमचन्द ने सब से पहले हमारे साहित्य के पाँव में मनोवैज्ञानिक प्रवंचना एवं दासता की जो बेड़ियाँ पड़ी थीं उन्हें तोड़ दिया। प्रथम बार साहित्य को आत्मा का सम्पुट शतदल, तेजः-पुंज के स्पर्श से खुलने लगा और प्रथम बार साहित्य की आत्मा उस मुक्त पक्षी की तरह ऊपर उड़ी जिसने वर्षों पिंजड़े में रहने के बाद एकाएक अपना खोया एवं भूला हुआ स्वतन्त्रता का, आत्म-परिचय का उल्लास प्राप्त कर लिया हो। वह न केवल कहानी एवं उपन्यास-जगत् में वरन् सम्पूर्ण साहित्य के जीवन में एक स्फूर्ति, एक प्रेरणा, एक प्राणद-स्पर्श उत्पन्न करते हुए आये।

मैं मानता हूँ, हिन्दी में वंचकों की कमी नहीं है। मैंने सुना है — 'उन्होंने क्या काम किया ?' यह प्रश्न हमारी ग़ुलाम एवं उल्टी — 'परवर्टेड' — मनोवृत्ति पर कोढ़ का वह धब्बा है जो हमारे जीवन की शालीनता के विरुद्ध दुष्प्रवृत्ति के एक पदक-सा हमारे सामने सदा चमकता रहेगा। यह दाग़ धुल न सकेगा, पर इसका उत्तर समय ने दे दिया है और अभी आनेवाला समय पूर्णतर उत्तर देगा। उन्होंने किया यह कि हिन्दी को राष्ट्र की अभिव्यक्ति का साधन बनाया। वह सच्चे अर्थों में हमारे राष्ट्रीय ग्रंथकार थे — उनकी रचनाएँ कश्मीर से कन्याकुमारी तक पढ़ी जाती हैं। वही एक हिन्दी लेखक हैं जिनका नाम सब प्रान्तों के साहित्य-पाठक जानते हैं; जिन्होंने हिन्दी का नाम दूर-दूर तक फैलाया है और उस नाम को गर्व और गौरव से प्रदीप्त किया है। उन्होंने हिन्दी में समाज, देश एवं राष्ट्र के जीवन को प्रतिध्वनित किया है। उन्होंने हिन्दी को राजाओं के विलासागारों एवं रईसों के मनोविनोद से उठाकर सर्वसाधारण की झोपड़ियों तक ला खड़ा किया है। समय की माँग से प्रभावित, समाज के संघर्षों से दुःखी, हमारे सामाजिक जीवन को परिष्कृत करने की वेदना से संयुक्त, वह भावों एवं सिद्धान्तों, स्थिति एवं समय के संघर्ष में जीवन का चित्रण करते हुए चलते हैं।

(२)

कहानी के प्रति चिर-काल से मनुष्य की ममता है। इसमें मनुष्य सहज ही अपने को पा जाता है। इसमें उसके सुख-दुःख, उसकी आशा-निराशाएँ, उस के अन्तःभाव एवं आकांक्षाएँ उसे अत्यन्त स्वाभाविक रूप में स्पर्श करती हैं। इसमें वह बिना किसी बोझीले प्रयास के अपने जीवन से बहुत निकट आता है; अपने को अनुभव करता है और दूसरों के जीवन से अपने ममत्व का सम्बन्ध स्थिर कर लेता है।

संसार में जो इतनी समस्याएँ हैं और इतने द्वंद्व हैं उनके बीच अनादि-काल से मनुष्य आनन्द की शोध में संलग्न है। उठते-बैठते, चलते-फिरते, शोक में और हर्ष में,

सफलता में और विफलता में, आशा में और निराशा में, आनन्द की वह यात्रा जारी है। जगत् की विविधता और द्वंद्व में वैषम्य कहाँ है? उल्टे एक क्रम है, एक एकता है, एक सामंजस्य है। आनन्द की शोध में मनुष्य का यह अनुभव अत्यन्त मूल्यवान है। साहित्यकार जीवन से विविध रूपों में इस केन्द्रीय प्रकाश-रेखा को लेकर ही, जो नाशमान-सा लगता है ऐसे उपादान-समूह से, एक चिरन्तन जीवन की, सत्य की सृष्टि करता है। इसीलिए संसार के श्रेष्ठ साहित्य अथवा ज्ञान में व्यक्ति मूल की तरह समाया हुआ है क्योंकि यह जो समाज है और जो उसकी समस्याएँ हैं, व्यक्ति को छोड़कर खड़ी नहीं हो सकतीं और समाज व्यक्ति का एक प्रकार मात्र है।

इसीलिए शुद्ध कला की पूजा व्यक्ति की आत्मा को लेकर है। जो इसमें कला की उपयोगिता नहीं देख पाते, वे कला को जानते नहीं हैं। यह कला की चरम उपयोगिता है कि वह हमारे अन्तर में जो सत्य प्रच्छन्न है उसकी ओर हमारी आँखें खोलती है। इसीलिए विशुद्ध साहित्यकार जगत् का बाह्य द्वंद्व दिखाकर, व्यक्ति के मूल में मनस्तत्व का निदर्शन एवं चित्रण करते हैं। समाज से बाह्यावरण और तात्कालिक परिस्थितियों की भिन्नता के बीच युग एवं स्थिति से ऊपर उठकर वे मानव जीवन के प्रति एक सनातन संदेश छोड़ जाते हैं।

परन्तु शुद्ध कला के इस रूप में पिछली शताब्दियों की विचार-धारा ने संशोधन भी किया है। ज्यों-ज्यों हमारी सभ्यता जटिल होती गई है, मनुष्य का व्यक्तित्व समाज में खोता गया है और अन्त में हमें समाज-यंत्र के एक पुर्जे के रूप में उसके दर्शन होते हैं। वह समाज का एक अंग मात्र बन गया है और समाज से भिन्न उसके अस्तित्व को स्वीकार करने को आज का समाज-शास्त्री तैयार नहीं है।

आज की सारी समस्याएँ वस्तुतः इसी व्यक्ति और समाज के परस्पर संघर्ष से उत्पन्न हुई हैं। आज सर्वत्र व्यक्ति और समाज में संघर्ष है। जब तक यह संघर्ष है तब तक संसार शान्ति पा न सकेगा क्योंकि दोनों परस्पर विरोधी होकर जी नहीं सकते। आज की आवश्यकता यह है कि व्यक्ति और समाज दोनों एक दूसरे को उठाते हुए चलें। दोनों में सामञ्जस्य हो। इसलिए आज के साहित्यकार पर हमारे जीवन के सामञ्जस्य का यह नूतन सन्देश देने की एक बड़ी ज़िम्मेदारी आ पड़ी है।

प्रेमचन्द की सफलता और देन यही है। व्यक्तिमूलक शुद्ध कला के पुजारी एवं समाज-तत्व के आलोचक साहित्यकार के बीच उन्होंने समन्वय एवं सामञ्जस्य स्थापित करने की चेष्टा की है। यह अवश्य है कि उनपर दूसरे 'स्कूल' की बड़ी गहरी छाप पड़ी है और वह स्पष्टतः समाजतत्ववादी उन लेखकों के 'स्कूल' की ओर झुके हुए हैं जो व्यक्ति एवं समाज के संघर्ष में समाज की एक गूढ़ समस्या लेकर हमारे सामने उपस्थित होते हैं (याद रहे ज़रा-से बाहरी भेद के साथ ऐसी समस्याएँ भी प्रायः व्यापक होती हैं) और परिस्थिति के उतार-चढ़ाव एवं दबाव में मानव का चित्रण

करते हुए, पात्र की गति या अवस्था द्वारा ही उस समस्या के हल की ओर निर्देश करते हैं। पिछले १७ वर्षों में भारत की राष्ट्रीय चेतना ज्यों-ज्यों जागती गई है और उसमें उथल-पुथल हुई है त्यों-त्यों प्रेमचन्द पर उसका प्रभाव पड़ता गया है और वे दूसरे स्कूल की ओर झुकते गये हैं। पर यह प्रभाव युग का प्रभाव है और इस प्रभाव के बीच भी व्यक्ति की श्रेष्ठता में उनका विश्वास, संस्कार-निर्मूल नहीं हो पाया है। इसीलिए प्रेमचन्द में हमारी संस्कृति के संक्रान्ति-काल (Transition) का प्रतिबिम्ब है। उन्होंने समाज को ग्रहण किया है; उसके हितों के लिए उनमें तीव्र समवेदना है, पर व्यक्ति को भूलना उनसे नहीं हुआ है। उन्होंने एक मध्य स्कूल का निर्माण किया है जिसमें व्यक्ति और समाज दोनों का अवलम्ब है। वह सदा व्यक्ति या समाज की जगह भाव को ही अधिक लेते हैं। जहाँ व्यक्ति को लेते भी हैं वहाँ भी हम उसे भाव के प्रतिनिधि, भावनाओं के एक चेतन चक्र के रूप में देखते हैं।

यही प्रेमचन्द की विशेषता है। वह समय के निर्देश की ओर व्यक्ति को जाग्रत करते हुए चलते हैं। उनके उपन्यास शरतचन्द्र के व्यक्तित्वों (Individualities) से बहुधा शून्य हैं। उनके पात्र 'सिम्बोलिक' हैं और हमें इन पात्रों के रूप में समाज की विविध समस्याएँ और उनके बीच पड़ा हुआ व्यक्ति याद आता है। इस प्रकार 'उपयोगितावादी' स्कूल की ओर झुके होकर भी प्रेमचन्द ने व्यक्ति के व्यक्तित्व का सर्वथा लोप नहीं होने दिया है, और न समय के प्रवाह में अपनी अन्तर्वाणी और आत्म-निर्णय बह जाने दिया है। जीवन की प्रत्येक अवस्था में उनकी विनोद की दृष्टि बनी रही है। वह किसी चित्र में एक दम निमज्जित नहीं हैं वरन् सम्पूर्ण में निमज्जित हैं।

(३)

ऊपर मैंने जो बात कही है वह कहीं उतनी स्पष्ट नहीं है जितनी उनके अन्तिम उपन्यास 'गोदान' में स्पष्ट है। कला और तत्वज्ञान की दृष्टि से 'रंगभूमि' प्रेमचन्द का मास्टरपीस है। वह मानव जीवन को एक व्यक्तित्व और एक सत्य प्रदान करता है। वह शरीर पर आत्मा की विजय का शंखनाद है। वह सम्पूर्ण जीवन का एक चित्र और उस चित्र में चिरन्तन तत्व की कला का प्रस्फुटन है। पर पिछले वर्षों ने प्रेमचन्द के जीवन पर जो प्रभाव डाला उसका प्रतिनिधि-चित्र 'गोदान' है। इसमें 'रंगभूमि' की भाँति जीवन की कोई निर्दिष्ट 'फ़िलासफ़ी' नहीं है; 'कर्मभूमि' की तरह समाज-क्षेत्र की कोई 'स्ट्रेटेजी' नहीं है और न 'सेवासदन' की भाँति समाज सेवा का स्पष्ट कार्य-क्रम है। इसमें केवल चित्र हैं और समस्याएँ हैं। नामकरण नहीं हैं; जिसे हल कह सकें, वह भी नहीं। चित्रों में रंग है, वे सजीव हैं। वे उठते हैं और बोलते हैं। इस महाप्राण लेखक ने उनके अन्दर चेतना और अपना रंग भरा है।

होरी नामक एक साधारण किसान के चारों ओर इस चित्र का विस्तार है। होरी औसत भारतीय किसान का एक सच्चा — Sincere — चित्र है। आरंभ से उसका

जीवन संघर्षों की एक माला है। संघर्ष में आरम्भ होता है और संघर्ष में उसका अन्त हो जाता है। एक दुःख सुलझा नहीं पाता कि दूसरा आ जाता है। वह अंत तक ऋणों से लदा हुआ, छोटी-छोटी कामनाओं में भी विफल है, परन्तु उसमें भारतीय ग्रामीण जीवन का 'मानवीय स्पर्श' भी है। वह संस्कारों और कुसंस्कारों, आशाओं और निराशाओं, असंतोष और संतोष, विरक्ति एवं अनुरक्ति से पूर्ण होकर सतत अपने कर्म-मार्ग पर चल रहा है।

मेरा अपना ख्याल है कि कोई भारतीय उपन्यासकार हमारे ग्रामीण जीवन से उतना परिचित नहीं है जितना प्रेमचन्द हैं। सच पूछें तो यह उनका अपना क्षेत्र है और वह ग्रामीण जीवन के एक जातीय चित्रकार हैं। प्रेम के घात-प्रतिघात का चित्रण उनमें शरच्चन्द्र-सा नहीं मिल सकता। उनका समग्र जीवन 'रोमांस' से दूर रहा है। उनकी रचनाओं में सर्वत्र एक प्रकार का ग्रामीण वातावरण (Rural atmosphere) है; कृत्रिम नागरिकता (urbanity) कम है। जो है वह ग्रामीण सरलता में ओत-प्रोत है। जहाँ उनके पात्र एवं चरित्र नागरिकता की सतह से लिये गये हैं वहाँ भी उनमें एक प्रकार की विचित्र सरलता और सच्चाई (earnestness) है।

गोदान हमारे ग्रामीण जीवन का* एक अत्यन्त जीवित एवं मनोहर चित्र है। इसमें ग्रामीण जीवन की आशा है, निराशा है; त्याग है, भोग है; प्रेम है, द्वेष है; सरलता है, कुटिलता है। इसमें हमारे ग्रामीण दाम्पत्य जीवन का सरल, कर्तव्य के सूत्र में जीवन के साथ बँधा हुआ प्रेम है; यौवन का विनोद है; यौवन का उल्लास है। इसमें गृह-कलह है और फिर उसी कलह का परिमार्जन है। निराशा और अंधकार से भरे हुए इस ग्रामीण जीवन के 'बैक ग्राउण्ड' — पार्श्वभूमि — पर नागरिकता का विनोद, समाज सेवा, शिक्षा, वाणी-विलास सब अपने अहंकार के साथ खड़े हैं। उस अंधकार में इनका प्रकाश कोढ़-सा चमकता है। हम नागरिक सभ्यता की सुविधाओं और आकर्षणों के बीच प्रलुब्ध नहीं हैं; ग्रामीण जीवन के अंधकार में हमारा दम घुटता है, पर उतना नहीं जितना इस कृत्रिम नागरिक सभ्यता के प्रकाश में। अपने सारे दुर्गुणों और दोषों के साथ भी ग्रामीण जीवन का अपना सत्व है, अपना व्यक्तित्व भी है; जब इस नागरिक जीवन का अपना कोई व्यक्तित्व नहीं।

इस गोदान में प्रेमचन्द ने हमें पुनिया, धनिया, झुनिया, सिलिया, चुहिया के जो-जो चित्र भेंट किये हैं। वे अत्यन्त सजीव हैं और अपनी स्थिति के पूर्ण प्रतिनिधि हैं। इसी प्रकार होरी, भोला, दातादीन, झिंगुरी सिंह, नोखेराम, मँगरू साह और पटेश्वरी प्रसाद ग्रामीण जीवन के विविध अंगों (Ingredients) के प्रतिनिधि हैं। इनके साथ मालती के रूप में आधुनिकता के प्रवाह से बहती हुई नारी है जो अंत में मेहता के रूप में बलिष्ठ पौरुष (Vigorous Manhood) को आत्मदान करती है। इनके साथ श्रीमती खन्ना प्राचीन नारी की वफ़ादारी का स्मृति-दीप जलाये चल रही हैं। राय साहब एक परिस्थिति एवं संस्कार से प्रभावित पर सदेच्छु ज़मींदार

के प्रतिनिधि हैं। व्यक्तिगत अहंकार समष्टि के हित में आत्मार्पण करने में बाधक होता है। मेहता एक उद्दाम, तेजस्वी, पौरुष से भरे हुए जीवन की फ़िलासफ़ी का प्रतिनिधि है। यह एक शासक (Domineering) पुरुष के व्यक्तित्व का चित्र है, पर उसकी फ़िलासफ़ी पर पश्चिम के अनात्मवाद का जो प्रभाव है वही उसकी अपूर्णता है और उसी ने उसे दाम्पत्य जीवन के प्रति एक तेजस्वी दृष्टिकोण देकर भी नारी (मालती) के प्रति आवेग की सृष्टि की है। होरी, मालती और मेहता इस उपन्यास की जान हैं।

गोदान को हम एक सम्पूर्ण — अपने में पूर्णता लिये हुए चलनेवाला चित्र तो नहीं कह सकते, परन्तु अपने 'ब्लैक ऐंड ह्वाइट' में वह असाधारण है। उसकी अपूर्णता में पूर्णता के प्रति एक आकांक्षा है, एक संकेत है। अपूर्ण इसलिए कि इसका होरी व्यक्ति के सत्य से बहुत हटा-सा है ; उसकी पराजय में व्यक्ति की आत्मा की विजय का संदेश नहीं है जैसा कि 'रंगभूमि' में है ; यहाँ होरी मुख्यतः अवांछनीय समाज-व्यवस्था का एक अंग और यंत्र हो उठा है। परन्तु प्रेमचन्द एक लोकसंग्रही मानव थे इसलिए यदि ऐसा न करते, तो अपने को इन्कार — 'डिनाई' — करते। साम्यवाद की उठती लहरों के बीच उनका संग्राहक (Receptive) मन उससे बिल्कुल अछूता रहने को तैयार न हो सकता था।

पर गोदान ने किया यह है कि हमारे सम्मुख एक दर्पण लाकर रख दिया है। इसमें हम अपने को, अपनी परिस्थिति को देखते हैं और अपना भयावना रूप देखकर सिहर उठते हैं। यह रूप-दर्शन हमारी तीव्र आत्मवंचना का स्वप्न भंग कर देता है और हम लज्जा और ग्लानि से भरे हुए सोचते हैं कि यह हम क्या हो गये हैं। बस यही गोदान की सफलता है। वह हमें अपने सामाजिक जीवन के सामने लगे हुए महान् प्रश्न-चिह्न का उत्तर देने के लिए एक विचार-प्रवाह जाग्रत कर देता है।

गोदान हमारे ग्रामीण जीवन के अन्धकार पक्ष का एक महाकाव्य है। हमारे कार्य-कर्ताओं को यह प्रकाश देगा, हमारे पाठकों में अनुभूति और विचार पैदा करेगा। इसकी भाषा सुन्दर, चलती हुई भाषा है। उसमें बोझ नहीं है ; वह झरने की भाँति कल-कल करती, उछलती और कूदती हुई चलती है। मुहावरों का ऐसा सुन्दर उपयोग करनेवाला, जीवन के अनुभवों को स्थान-स्थान पर, सुन्दर उपमाओं के बीच इतनी सफलता के साथ संक्षिप्त और घनीभूत करके रख देनेवाला, हिन्दी में दूसरा उपन्यासकार नहीं हुआ।

और सबसे बड़ी सेवा जो 'गोदान'-कार ने की है वह यह है कि उन्होंने हमारे हिन्दी-जगत् के भावचक्र को ग्रामीण जीवन से सम्बद्ध कर दिया है। यह जो हिन्दी का कथा-साहित्य केवल नगरों की प्रेमकुञ्जों में ही पनप रहा है, जहाँ कादम्बिनी-माला है, जहाँ बुलबुल और गुल हैं, जहाँ बेला और चमेली के फूल हैं और खस की टट्टियों

में मनुष्य ठंडा किया जा रहा है; जहाँ जीवन की प्रखर दोपहरी के दर्शन नहीं होते और प्रणय, खुली हुई स्वस्थ-वायु से भरी अमराइयों से दूर, थियेटरों एवं कॉलेजों की भीड़ में चोरी करता हुआ चलता है ; जहाँ केवल नाज़ है और नाट्य है और जीवन कर्तव्य और कर्म के मार्ग को भूलकर सस्ते प्रेम की गुलकारियों में भटक रहा है ; वहाँ इस मृत, शिथिल और रसहीन मार्ग के प्रति विद्रोह करने का यश प्रेमचन्द को मिलना चाहिए । उन्होंने हमारे मदिरालय में शीतल जल का एक मटका लाकर रख दिया है, जिसे पीकर प्रेमोन्माद कम हो सकता है ।

दूसरी बात — एक सुसंस्कृत भावना की प्रतिमूर्ति प्रेमचन्द में किसान, मजूर, विधवा, वेश्या, क्लर्क सम्पूर्ण पीड़ित वर्ग को 'एडवोकेसी' (वकालत) प्राप्त हुई है । और यह सब होते हुए भी भारतीय संस्कृति की मध्यरेखा से वह कहीं अलग नहीं हुए हैं । उन्होंने सदा विद्या पर मनुष्यता को और विज्ञान पर शिष्टता, उदारता, धर्म एवं नीति को तरजीह दी है । जहाँ उन्होंने नारी की वकालत की है वहाँ आधुनिक युग की तितलियों और मधुमक्षिकाओं के प्रति उनमें सूक्ष्म व्यंग भी है । उन्होंने जहाँ विज्ञान के प्रकाश की आवश्यकता दिखाई है वहाँ उसके शोषण पर निर्दय प्रहार भी किये हैं । सदा उन्होंने विलास और भोग पैर कर्तव्य एवं त्याग की श्रेष्ठता स्थापित की है ।

●

३२ | रामवृक्ष बेनीपुरी

क़रीब दस वर्ष पहले की बात।

काशी। कम्पनीबाग के निकट का वह चौराहा। एक साधारण-सा व्यक्ति खड़ा। क़द, पोशाक, खड़ा होने का ढंग — सभी साधारण। :सिर खाली। जिनमें विशुद्ध आर्यत्व की वंश-परम्परा-सूचक ललाई अभी नहीं खोई, वैसे अस्त-व्यस्त बाल, हवा के झोंके से उड़ रहे। ज़िन्दगी की कितनी :धूपछाँहों के चिन्ह लिये गोरा चेहरा। ललाट में कितनी सीधी रेखाएँ — गालों पर कितनी सिकुड़न। बेतरतीब-सी मूछें। दाढ़ी मानो कई दिनों से नाई की प्रतीक्षा में। शरीर में कमीज़ — जिसके ऊपर के दो बटन खुले हुए। एक हाल में छाता। एक हाथ से कभी वह उड़-उड़कर ललाट से छेड़खानी करने वाले बालों को सम्हालते और कभी बिगड़ैल मूँछों को। साफ़-सी दिखनेवाली धोती। साधारण-सा ही जूता।

वह उत्सुक आँखों से एक ऐसे एक्के की तलाश में हैं जिसपर सवारी की एक ही जगह बची हो और जो छावनी की ओर जाता हो।

जब भाई शिवपूजनजी ने बताया कि यही हैं हिन्दी के उपन्यास-सम्राट् प्रेमचन्द जी, तब मुझे कम आश्चर्य नहीं हुआ क्योंकि तब मैंने साहित्य-क्षेत्र में तुरत-तुरत पैर रखा था और इसे सोने और शहद से भरा-पूरा समझ रखा था। उपन्यास-सम्राट् और इस सीधे-सादे वेश में! यह तो अब समझ रहा हूँ कि लक्ष्मी और सरस्वती की सौतिया-डाह वाली नानी की कहानी में कितना सत्य है।

इसके बाद लगभग दो वर्षों तक, प्रेमचन्दजी से प्रायः भेंट होती। मैं 'बालक' के सम्पादन और छपाई के सिलसिले में ज्यादातर काशी रहता और प्रेमचन्दजी वहीं अपना सरस्वती प्रेस चलाते। प्रेस की हालत अच्छी नहीं थी। प्रेमचन्दजी उसे ठिकाने पर लाने के लिए काफ़ी मिहनत करते। दस बजे दिन से शाम तक पिले-से रहते। उस समय मेरा सम्बन्ध एक बड़े पुस्तक-प्रकाशक से था। मैं उन्हें काफ़ी काम देता। हम दोनों में कुछ ऐसी घनिष्ठता हुई कि एक बार सरस्वती-प्रेस का प्रबन्ध-

भार मुझ पर लादने को भी वह तैयार हो गये थे। अभी उस दिन श्रीयुत प्रवासीलाल वर्मा जी ने जब पटना में भेंट की और इस प्रसंग की चर्चा की, मैंने कम विकलता अनुभव नहीं की। आह, यदि प्रेमचन्दजी की सेवा के उपयुक्त अपने को पा सकता! मेरा खयाल है, किसी अच्छे सहकारी या सेवक के कारण अत्यधिक मिहनत और चिन्ता करने से ही प्रेमचन्द पर मृत्यु का वार इतना जल्दी हो सका। सचमुच जब कभी सोचता हूँ कि प्रेमचन्द ऐसे कलाकार को भी तंगदस्ती और झंझटों से इतनी लड़ाइयाँ करनी पड़ीं, तब अपने साहित्य के विकास की अवस्था का अन्दाज़ा लगा पाता हूँ। उफ़, अभी हमारे लिए दिल्ली बहुत दूर है।

उस पहली मुलाक़ात से, क़रीब-क़रीब उनकी मृत्यु के कुछ दिनों पहले तक मेरी उनकी अच्छी जान-पहचान रही, खत-किताबत रही और जब-तब उनके दर्शन भी कर आता।

पहले मैंने घनिष्टता की चर्चा की है, किन्तु मेरी घनिष्टता सदा वह घनिष्टता रही जो किसी देवता और उसके पुजारी में होती है। मैं उन्हें हिन्दी की, जो अभी पूरी विकसित भी नहीं हो पाई, कला का साक्षात् अवतार मानता और उस कला के एक उपासक की तरह इस अवतार की मानसिक पूजा करता। यही कारण है कि मैं उनके मित्र की तरह उनके दिल में बैठकर उन बातों को नहीं ले पाया, जिनके आधार पर उनके मनस्तत्व की अच्छी-सी तस्वीर खींच सकूँ। उनके बारे में मैं ज्यादा-से-ज्यादा जो कह सकता हूँ, वह यही कि साधारण-सा दीख पड़नेवाला यह आदमी, आदमी की हैसियत से भी, साधारण नहीं था। उसकी इस साधारण-सी सूरत-शकल के अन्दर एक महान् आत्मा छिपी थी। आप उसे गुदड़ी में लाल कहो, या मेरी भाषा में, राख से ढँकी चिनगारी कहो। सभी महान् पुरुषों की तरह वह सीधा-सादा था, इसीलिए वह इन झंझटों में रहा, लोगों ने उससे फ़ायदे उठाये, उसे धोखे तक दिये — वरना, वह भी एक ठाठ की जिन्दगी बसर करता, दुनियावी नज़रें उसको चकाचौंध का लोहा मानतीं। किन्तु उसके इस सीधेपन में एक बाँकपन भी था — जो सभी असाधारण पुरुषों में पाया जाता है। इसी बाँकपन ने उसे समाज, सरकार और पूंजीवाद से दो-दो मोर्चे लेने को प्रेरित किया। उसके हाथ में क़लम थी, तो क्या हुआ? वह भोला था। जब उसने देखा, समाज प्रेम-सम्बन्ध में बाधक हो रहा है, उसने उसे जमकर ठोकर लगाई। जब देखा, सरकार अनीति की राह पर बेधड़क बढ़ती जा रही है, उसने उससे सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया। जब देखा शुद्ध साहित्य के क्षेत्र में भी पूँजीवादी अपना विषैला प्रभाव जमाये जा रहा है, उसने उसके खिलाफ़ युद्ध किया। अपना प्रेस, अपना प्रकाशन। क्या वह इनसे पैसे बटोर कर मालामाल होना चाहता था? ग़लत बात। यदि यह कामना उसकी होती, तो आज 'सरस्वती-प्रेस' और 'हंस' का कार्यालय किसी दूसरे ही रूप में होते। मैं ऐसे लोगों को जानता हूँ, कि जो रद्दी चीजों का प्रकाशन करके लखपती बन

गये। फिर प्रेमचन्द का क्या कहना? किन्तु यही तो उसका बाँकपन था — टूट जाय, पर मुड़े नहीं — यह अड़, यह टेक।

❀ ❀ ❀

किन्तु उसकी महानता, उसकी असाधारणता का सबसे बड़ा सूचक है उसकी कला। हिन्दी-साहित्य की विकास-धारा की दूरी जानने के लिए जो कुछेक 'मोल के पत्थर' हमें गिनने पड़ते हैं उनमें एक को, जो हमारे सबसे निकट का है, हम प्रेमचन्द के नाम से अभिहित करते हैं। हमारे हिन्दी के इतिहास-लेखकों ने हमारे साहित्य के काल-निर्देश में मनमाने ढंग से काम लिया है। उसकी कोई वैज्ञानिक भित्ति नहीं। साहित्य हमारे समाज का दर्पण है। सरह (हिन्दी के आदि-कवि) से लेकर आज तक का हमारा साहित्य इस दस-बारह सौ वर्षों के हमारे समाज की जीती-जागती तस्वीर है समाज (इस महान् शब्द 'समाज' के अभ्यन्तर देश भी निहित है) जिस तरह सोया, जिस तरह करवटें बदलीं, कभी उठा, कभी फिर चादर तानकर सो गया, ठोकरों ने जिस तरह उसे फिर जगाया और आज वह जिस कशमकश में है, सबके अलग-अलग चित्र हमारे साहित्य में भरे पड़े हैं। सरह, चन्द, कबीर, तुलसी, सूर, बिहारी, भूषण, हरिश्चन्द्र, प्रेमचन्द — जिस दिन आप अपने साहित्य का काल-विभाग वैज्ञानिक भित्ति पर करेंगे, इन्हीं को आधार मानकर आपको चलना पड़ेगा। सरह — हमारा समाज बौद्धधर्म से हटकर तंत्रवाद का पूजक है, दुनिया रहस्यमय, सबसे रहस्यमयी नारी। चन्द — बौद्धधर्म की प्रतिक्रिया रूप क्षात्रधर्म, किन्तु विलासिता साथ-साथ। तुलसी — नश्वरता पर भक्ति का पुट। सूर — भक्ति में शृंगार का पुट। बिहारी — शृंगार ही शृंगार, यानी विलास का घोर दौरदौरा। भूषण — फिर एक जागरण, किन्तु क्षणिक, विलास बना रहा। हरिश्चन्द्र — एक नई शक्ति ने नई ठोकरें लगाईं, 'जागो जागो रे भाई' की पुकार! प्रेमचन्द — हमारे पीड़ित समाज में एक नये वर्ग की अगवानी की सूचना। और, चूंकि यह नया वर्ग एक बिल्कुल नये समाज के पुनर्गठन की सूचना देता है, अतः इनमें भी प्रेमचन्द की महत्ता कहीं अधिक व्यापक है, सरह से लेकर हरिश्चन्द्र तक यद्यपि कितने उत्थान-पतन हुए हैं किन्तु इनका नेतृत्व एक ही वर्ग के हाथ में रहा है। प्रेमचन्द की रचनाएँ एक बिल्कुल नये वर्ग के नेतृत्व का आभास देती हैं। अतः यह भी सम्भव है कि जब कुछ शताब्दि बाद हिन्दी का इतिहास लिखा जाय तो हमारे साहित्य को दो ही भागों में बाँटा जाय, एक वह जिसका प्रारम्भ सरह से होता है और दूसरा वह जिसका प्रारम्भ प्रेमचंद से होता है।

मैं जानता हूँ, कुछ लोग मेरे इस काल-विभाग पर नाक-भौं क्यों सिकोड़ें; कुछ लोग कहेंगे, प्रेमचन्दजी के बारे में यह अतिशयोक्ति मैं उनकी मृत्यु-जनित भावुकता के कारण कर रहा हूँ। मैं मानता हूँ, प्रेमचन्दजी के प्रति मेरी भक्ति भावुकता से खाली नहीं है, भावुकता को मैं ऐसी बुरी चीज़ नहीं मानता कि अपने को इससे बचाऊँ। मैं यह भी मानता हूँ, उनकी मृत्यु ने मुझे बहुत ही मर्माहत किया। किन्तु यह निश्चय

जानिये, मेरा उपर्युक्त कथन, भावुक भक्त की आवेश-वाणी मात्र नहीं, उसमें तथ्य है। हाँ, इस तथ्य को जानने के लिए आपको साहित्य, कला, नीति, आदि को एकनई नज़र से देखना-परखना होगा। पर, यह स्थान नहीं कि उस नुक़्तये नज़र के बारे में कुछ विस्तार से कह सकूँ

संक्षेप में यों समझिये। हमारे हिन्दी-साहित्य का जन्म उस समय हुआ जब भारत सामन्त-शाही युग से गुज़र रहा था। संयोगवश देशी सामन्त-शाही बहुत बिखरी, ढीलीढाली थी। कुछ लिदेशी कबीले इस पर टूटे। दोनों लड़े। विदेशियों की विजय हुई। किन्तु, जहाँ उनकी तलवार जीती, वहाँ हारे हुए लोगों की तहज़ीब ने उन पर विजय प्राप्त की। तहज़ीब — सामंत-शाही तहज़ीब। कुछ दिनों तक दोनों में खूब घुटी। पर फिर कशमकश शुरू हुई — इतने ही में एक तीसरा कूद पड़ा। वह इन दोनों से मज़बूत था, क्योंकि वह उनके युग से गुज़र कर आगे के युग में पैर रख चुका था — यानी, यह तीसरा, सामंतशाही के बाद के वर्ग (पूंजीशाही) का प्रतिनिधि था। पूंजीशाही जीती, सामंतशाही हारी। पूंजीशाही का दौरदौरा शुरू हुआ। इसने सामन्त-शाही की ठठरी कहीं-कहीं भले ही रख छोड़ी हो — (जैसे बिहार, बंगाल, यू० पी० में) किन्तु उसने उसका सत्त ज़रा भी नहीं छोड़ा। यही नहीं, इस पूंजीशाही का पेट केवल इतने ही से नहीं भर सकता था — इसने आम शोषण शुरू किया जिसका फल हुआ देश में ऐसे दो वर्गों का उदय, जो थे तो अनादि काल से ही किन्तु जिनकी ओर हमारा ध्यान ही नहीं गया था। पूंजीशाही जिस प्रकार सामन्तशाही की ही पितृ-भक्ष औलाद है, उसी तरह यह मज़ूर-किसान वर्ग पूंजीशाही की पितृ-घाती सन्तान है।

अब अपने साहित्य को देखिये। वह आज तक सामन्तशाही को ही केन्द्र-बिन्दु मानकर अपना क्रीड़ा-कौतुक दिखाता रहा। चाहे हम किसी दशरथ राजा के बेटे की गाथा गायें या किसी शाहाजी के पुत्र शिवाजी की, पृथ्वीराज हों या अकबर, थे तो एक ही वर्ग के। कामुक जयपुर नरेश हों या काशी के कोई महाराज, या न कोई मिला तो स्वयं बेचारे श्रीकृष्ण तो हैं ही, उन्ही के सिर पर खेल लीजिए। पर इन सब के बीच एक ही वर्ग का सिलसिला है, स्थान, काल, पात्र से थोड़े विभेद के अनुसार। किन्तु, इस युग का तो खात्मा हो गया। अब तो युग पूंजीशाही का है। पूंजीशाही का यश गाइये या उसकी विद्रोही सन्तान किसान-मज़ूर का। यदि आप प्रगतिशील हैं, तो आप किसान-मज़ूर को ही अपना पात्र बनायेंगे। प्रेमचन्दजी ने यही किया। यही उनकी कला की सब से बड़ी खूबी है, जो उन्हें सदा के लिए अमर रखेगी। इस दृष्टि से देखिये, तभी आपको यथार्थ रूप में मालूम हो सकेगा कि प्रेमचन्द कितने महान्, कितने असाधारण थे। आप उन्हें साहित्यिक नवयुग का अग्रदूत मज़े में कह सकते हैं।

❀ ❀ ❀

और, जब आप यह देखेंगे कि इस वर्ग के इस प्रथम कलाकार ने ही अपनी कला को कितनी मोहक, आकर्षक और रंगीन बना पाया, तब तो आपको और भी ताज्जुब होगा। जिन्हें हम गूँगा मूक समझते थे, उन्हें उसने ज़ुबान दी; जिन्हें हम अंधा सूर समझते थे, उसकी आँखों को उसने नूर बख़्शा। झोपड़ियों की कौन बात, खेत की मेंड़ पर बनी मड़ैयों तक को उसने बोलना, हँसना, प्यार करना, रोना सिखलाया। हमारे विविधता-पूर्ण समाज की इस निचली तह में भी विविधता की कमी नहीं, प्रेमचन्द की कला ने स्पष्ट कर दिया। उनकी कहानियाँ देखिये, पता चल जायगा। उनकी अन्तिम रचना 'गोदान' के एक-एक पात्र — स्त्री और पुरुष — इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। ग़रीबों के भी दिल होते हैं, वे भी प्रेम करते हैं, प्रेम के लिए कुर्बानियाँ करते हैं; उनमें भी सहानुभूति और समवेदना होती है, जो धनियों की सहानुभूति और समवेदना की तरह उथली, केवल ज़ुबान की नहीं होती। उनमें भी मान और सम्मान का ख़्याल होता है और उस पर आघात किया जाय, तो जान लड़ाकर भी उसकी रक्षा वे करेंगे। हाँ, जिन्हें हम नर-कंकाल समझते हैं, उनमें भी जोश है, गरम ख़ून है, प्रतिरोध की भावना है, लड़ने की ताक़त है, बलिदान का माद्दा है — इत्यादि बातें आप प्रेमचन्दजी की कला में भरी पड़ी पायेंगे।

प्रेमचन्द उस युग में हुए, जब हमारा समाज, हमारा देश एक बड़े संक्रान्ति काल से गुज़र रहा है। बड़ी-छोटी शक्तियाँ आपस में टकरा रही हैं, जिनकी टक्कर वायुमण्डल को बेतरह विक्षुब्ध किये हुए है। कभी एक खास जगह में, एक महाभारत हुआ। आज तो ऐसे महाभारत, संसार को छोड़िये, हमारे देश के कोने-कोने में हो रहे हैं। इन महाभारतों के सजीव चित्रण के लिए हमें एक वेदव्यास चाहिए था। प्रेमचन्द हमारे इस युग के वेदव्यास थे। 'सेवा-सदन' से 'गोदान' तक पढ़ जाना हमारे इस युग के इतिहास को पढ़ जाना है — वैसा इतिहास, जो तारीखों और व्यक्तियों पर निर्भर न करके, उस अन्तर्धारा का सजीव चित्रण करता है, जो समाज की रीढ़ हैं।

उस साधारण झुर्रीदार चेहरे के अन्दर, बेतरतीब मूंछ और कुछ उभरी-सी भवों के बीच, जो मामूली आँखें थीं, वे कितनी सूक्ष्मदर्शी, पारदर्शी थीं। इसका पता तब लगता है, जब हम उनके पात्रों पर विचार करते हैं। राजकुमार से लेकर भिखमंगों तक, ख़ूंख़ार सरहदी से लेकर भोलेभाले यू० पी० के किसान तक, ख़ानाबदोश जिप्सियों की शोख़ औरतों से लेकर शत-शत आँखों पर नृत्यशील नर्तकियों तक — अजी, केवल मानवों की क्या बात घोड़ों, बैलों तक को उसने अपनी रचनाओं का पात्र बनाया किन्तु उनका चरित्र-चित्रण कितना सच्चा, कितना स्वाभाविक, कितना योग्य हो गया है। पूंजीपति, जमींदार, किसान, मज़दूर, हिन्दू, मुसलमान, क्रिस्तान; बूढ़ा, जवान, बच्चा; खोमचेवाला, कलन्दर, सँपेरा; दानी-सूम, राजा-रंक, गृहिणी-भिखमंगिन, ब्रामण-चमार; होली-ईद, अट्टालिका-झोपड़ी — जो जहाँ है, अपनी जगह पर है, अपनेपन के साथ है। कहीं भी अस्वाभाविकता, बनावट का नाम नहीं। यदि इस दृष्टि

से देखिये, तो वह संसार के कलाकारों में अपनी एक खास जगह रखता है।

प्रेमचन्द को, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, केवल कलाकार का नहीं, एक योद्धा का जीवन भी व्यतीत करना पड़ा। उसका बहुत-सा समय इस युद्ध में ही बीता। जब मैं दस बजे से पाँच बजे तक उसे प्रूफ़ देखते, या प्रेस की दूसरी झंझटों को सुलझाते देखता, फिर उसकी रचनाओं को देखता, मुझे आश्चर्य होता, वह कब समय बचाता है जो इतना लिख पाता है। ज़िन्दगी में उसका ऐसा बहुत कम समय बीता जब एकमात्र साहित्य निर्माण ही उसका पेशा हो। कभी स्कूल-मास्टरी, कभी प्रेस-मैनेजरी, कभी सम्पादकी, कभी पत्र-संचालन, कभी फ़िल्म-निर्माता, यों सदा किसी-न-किसी पेशे में वह जुता रहा। तो भी यदि उसकी कृतियों को आप परिमाण (Quantity) के ख्याल से भी देखिए तो आश्चर्य होगा। मालूम होता है, उसके इस छोटे शरीर का ज़र्रा-ज़र्रा साक्षात् प्रतिभा था। यों तो उसकी स्वतन्त्र, मौलिक रचनाएँ भी आजकल के हमारे किसी साहित्यकार की कृतियों से, परिमाण के ख्याल से भी, बाज़ी मार सकती हैं, फिर यदि हम उसमें उसके द्वारा अनूदित और संकलित ग्रन्थों को भी जोड़ दें तो वह अनायास ही बेजोड़ बन जाता है।

•

प्रेमचन्द अपने उपन्यासों और कहानियों के लिए मशहूर हैं। कुछ लोगों का कहना है, उपन्यासों की अपेक्षा वह कहानी लिखने में ज़्यादा सफल हुए। योंही कुछ लोग कहा करते हैं कि उनकी कुछ चीज़ें बहुत ही शिथिल और उनके नाम के अनुरूप नहीं। पहली बात का जवाब देना फ़िज़ूल है — यह तो अपनी-अपनी रुचि की बात है। कोई छोटी चीज़ें-पसन्द करता है, किसी की तृप्ति बड़ी चीज़ों से ही होती है। हाँ, एक बात और भी है। प्रेमचन्द के प्रायः सभी उपन्यास समस्या-मूलक हैं। हमारी समस्याओं को लेकर उन्हें उनके यथार्थ रूप में दिखाना, उन समस्याओं के चलते उत्पन्न हुई गुत्थियों को अलग अलग करके समझाना और फिर उन गुत्थियों के सुलझाव का अपना एक तरीक़ा पेश करना — प्रेमचन्द के प्रायः सभी उपन्यासों का यही मूल उद्देश्य है। दृष्टिकोण के भेद से समस्याओं के रूप, फल और सुलझाव के बारे में भिन्न-भिन्न रायें हो सकती हैं; उन रायों की विभिन्नता से उपन्यासकार की प्रतिपादन-प्रणाली पर हमें सहानुभूति या विरक्ति भी हो सकती है। फलतः उन उपन्यासों के बारे में रायें भी अलग-अलग हो सकती हैं। किन्तु उपन्यासकार की सफलता उसकी कृतियों के 'विषय' पर निर्भर नहीं माननी चाहिए, उसकी सफलता की मुख्य कसौटी है 'चरित्र-चित्रण। 'सुमन' (सेवासदन), 'सूरदास' (रंगभूमि) या 'होरी' (गोदान) की ज़िन्दगी की फिलासफ़ी पर मत जाइए, देखिए, जहाँ जिस रूप में इनके कार्य हुए हैं, उनमें अस्वाभाविकता तो नहीं है। और इसमें भी एक बात तो खयाल में रखिए ही कि प्रेमचन्द 'कला कला के लिए' वाले बेसिर पैर के जीव नहीं थे, वे आदर्शवादी लेखक थे, अतः साधारण कमज़ोरियों से अपने पात्रों को ऊपर उठाए रखना उनका कर्तव्य था।

अब दूसरी बात पर आइये। उनकी कुछ रचनाएँ मामूली हैं। मैं भी इस बात को मानता हूँ। कभी-कभी मुझे भी इस बात पर झिझक हुई है। किन्तु, इसमें एक बात याद रखनी है कि प्रेमचन्दजी को किस परिस्थिति में रह कर ये रचनाएँ रचनी पड़ीं। एक तरफ़ जीवन-युद्ध की वह झकझोर, दूसरी ओर आवश्यकताओं की चाबुकबाज़ी और तीसरी, मानो जले पर नमक, मेरे आपके ऐसे वे लोग जो अपनी पत्र-पत्रिकाओं के नाम और गरिमा को ऊपर उठाये रखने के लिए, उन्हें मुफ़्त लिखने को, तकाज़े के मारे नाकों दम किये रहते। यदि आप उच्च कोटि की चीज़ें ही चाहते हैं, 'तो पहले अपने कलाकारों की ज़िन्दगी को तो ऊंचा उठाइये, केवल थोथे आलोचक बनने से क्या होगा? प्रेमचन्द ही की क्या बात — आज हिन्दी जगत में दो-चार को छोड़कर, अन्य कलाकारों की जो हालत है, यदि उस पर ध्यान दिया जाय, तो रोंगटे खड़े हो जायँ। धन्य मानिये जो इतने पर भी कुछ अच्छी चीज़ें आपको मिल जाती हैं?

प्रेमचन्द की कला, जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ, हमारे साहित्य के उस क्षेत्र में प्रवेश करने की सूचना है, जो अब तक अछूता रहा। यदि हम पारिभाषिक शब्दों की शरण लें, तो प्रेमचन्द हिन्दी के प्रथम जन-साहित्य-निर्माता थे। हमारा साहित्य आज तक जमातों (Classes) का चरण-चुम्बन करता रहा, अब वह जनता (Masses) को अपना जीवन-संगी बनाने जा रहा है। प्रेमचन्द हमारे साहित्य के इस महान् विच्छेद (Great departure) के स्तूप थे। इस बात ने जहाँ उन्हें साहित्यिक विकास के इतिहास में एक अनुपम स्थान दे रखा है, वहाँ, इसके चलते उनकी रचनाओं में एक गड़बड़झाला भी है, जिसे हम लोग, जो उनके साहित्यिक वंशधर हैं, नहीं भूलें। स्वभावतः और मुख्यतः प्रेमचन्दजी जन-साहित्य के निर्माता थे, किन्तु उनकी रचनाओं में हम सामन्तशाही युग की कुछ अस्फुट झलक भी पाते हैं। ऐसा होना स्वाभाविक भी था। हमारी जनता में अब तक की चेतना उतनी प्रस्फुटित नहीं हुई और न हम जन-सेवियों का आदर्शवाद ही उतना निखर पाया है कि इसके पूर्व युग के अवशिष्टांश की कोई छाया हम पर न पड़े। अतः हमारी रचनाओं में कुछ ऐसा गड़बड़झाला होना कोई ग़ैरमामूली बात नहीं। मैंने स्वयं प्रेमचन्दजी से इसकी चर्चा की थी, उन्होंने अपनी नई रचना 'गोदान' तक प्रतीक्षा करने को मुझे आदेश दिया था। 'गोदान' निस्सन्देह ही, इस दृष्टि से, उनकी पूर्व रचनाओं पर तरजीह पाने योग्य है, किन्तु वहाँ भी वह 'निखार' नहीं। जो लोग जन-साहित्य के निर्णय में प्रेमचन्द जी के पद-चिन्हों पर चलने वाले हैं, उन्हें चाहिए कि अपने उस महान नेता के अधूरे काम को उसके अनिवार्य परिणाम तक पहुँचाएँ।

यहाँ एक बात की और चर्चा कर देना ज़रूरी है। वह है भाषा के बारे में। प्रेमचन्द ने हमें केवल जनता का साहित्य ही नहीं दिया, वरन् वह साहित्य कैसी भाषा में लिखा जाना चाहिए, उसका भी पथ-निर्देश किया है। जनता द्वारा बोले जाने

वाले कितने ही शब्दों को, उनकी कुटिया-मड़ैया से घसीट कर वह सरस्वती-मन्दिर में लाये और योंही, कितने अनधिकारी शब्दों को, जो केवल बड़प्पन का बोझ लिये हमारे सिर पर सवार थे, इस मन्दिर से निकाल बाहर किया। हमें इस पथ पर भी आगे बढ़ना है'।

❀ ❀ ❀

यों चाहे जिस दृष्टि से देखिये — साहित्य में नवयुग के निर्माता के रूप में उत्कृष्ट कोटि के कलाकार के रूप में, साहित्य-भंडार को बड़े परिमाण में पुष्टिकारक के रूप में, प्रेमचन्द महान् थे, अति महान् थे। कोई भी साहित्य उनके ऐसे सुपूत को पाकर अपने को धन्य, कृतकृत्य मान सकता था और उसको अपनी हथेलियों पर लेकर इतराये फिर सकता था। किन्तु, खेद है उन्होंने एक ऐसे साहित्य के लिए अपने को निछावर किया, जहाँ गुटबन्दों, मक्कारों और उजड्डों का बोल-बाला है, जिन्होंने उनको पूर्ण रूप से सम्मानित ही नहीं होने दिया, यही नहीं, वरन् उन्हें तङ्ग किया, चिढ़ाया, कुढ़ाया। प्रेमचन्द ने हिन्दी के साथ उर्दू भी लिखा। जब उर्दू वालों से मिलनेवाले उनके सम्मान को देखते हैं, तब तो अपनी इस भाषा और इसके भाषियों पर कुढ़न और चिढ़ होने से अपने को हम रोक नहीं पाते। प्रगतिशील लेखक संघ का हिन्दुस्तानी-सम्मेलन प्रयाग में हुआ था, जिसका सभापतित्व करने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ था। मैं वहाँ देख सका कि हमारे मुसलमान-दोस्त प्रेमचन्द की मृत्यु पर कितने दुखी हैं और उनकी स्मृति-रक्षा के लिए कितने उत्सुक। प्रगतिशील-लेखक-संघ की एक बैठक जो दिल्ली में हाल ही में हुई थी, उसमें भी अपने मुसलमान-दोस्तों की छटपटाहट इस बारे में देखी। प्रेमचन्दजी के मुंह से ही, उनके जीवन-काल में, जान पाया था कि बड़े-से-बड़े मुसलमान नेता उनकी क़दर कितनी करते थे। स्वर्गीय मौलाना मुहम्मद अली प्रेमचन्दजी के बड़े प्रशंसकों में थे और उनसे सदा खत किताबत रखते थे।

किन्तु, अब ज़रा हिन्दी — अपनी इस 'राष्ट्रभाषा' की ओर आइये। हमारे साहित्य-क्षेत्र में सम्मान-प्रदर्शन के दो मौक़े हैं — हिन्दी-साहित्य सम्मेलन का सभापतित्व और मंगला प्रसाद पारितोषिक। प्रेमचन्द जी इन दोनों से महरूम रखे गये — नाना तरह के प्रपंचों और बेइमानियों की शरण कुचक्रियों ने इसके लिए ली। राजनीति में जातपाँत का विष तो जर्जर और मुमूर्ष बना ही रहा है, साहित्य में भी इसका कितना कुप्रभाव है यह मैंने प्रेमचन्दजी के ही प्रसङ्ग में देखा। मेरे यू० पी० के दोस्त — खासकर प्रयाग के दोस्त माफ़ करें, उन्होंने जो इस सम्बन्ध में पाप किये हैं। उसका कोई भी प्रायश्चित नहीं है। मेरे कानों में वह वाक्य गूंज रहा है, जो हिन्दी-सम्मेलन के एक बड़े अधिकारी ने, ब्राह्मण होते हुए, मुझसे कहा था — 'बेनीपुरीजी, आप इन कायस्थों के चकमे में आते हैं, आप तो ब्राह्मण ठहरे!' उफ़,

कहाँ सरस्वती का सात्विक मन्दिर और कहाँ यह ब्राह्मण, कायस्थ, राजपूत आदि का भेद-भाव।

यों जिन्दगी भर तो उन्हें, 'भारतीय आत्मा' के शब्द में, 'उपेक्षित' रखा ही गया, उनकी मृत्य के बाद भी उनकी स्मृति-रक्षा के लिए हमने क्या किया ? देश पूज्य बाबू राजेन्द्र प्रसादजी की इच्छा रहते हुए भी उनके सभापतित्व काल में सम्मेलन अपने केचुल को नहीं छोड़ सका। आँसू पोंछने के लिए प्रेमचन्द दिवस मनाया गया, किन्तु वह भी बिना किसी खास कार्यक्रम का, मानो बेगारी टाल दी गयी।

किन्तु हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन ही तो सब कुछ नहीं है। प्रेमचन्द के प्रशंसकों का कर्त्तव्य है, कि वे स्वतन्त्र रूप से कुछ करें। श्रीयुत जैनेन्द्र कुमारजी और 'आज' सम्पादक पराड़करजी के संयुक्त मन्त्रित्व में एक ऐसी संस्था बनी थी। किन्तु, साफ़ कहने के लिए माफ़ किया जाय — जैनेन्द्रजी की स्वप्न-दर्शिता और पराड़करजी की सम्पादन-व्यस्तता के कारण यहाँ भी कुछ नहीं किया जा सका। यों तो प्रेमचन्दजी को जल्दी भूला नहीं जा सकता; किन्तु स्मृति-रक्षा के लिए मृत्यु के बाद ही सचेष्ट होने से कार्य-सम्पादन में सहूलियत होती है — भावावेश में लोग जी खोलकर सहायता करते हैं। हमने वह मौक़ा खो दिया, यह अफ़सोस की बात है।

पर देर होने पर भी यह काम तो हमें करना ही है। जैसा कि पहले कह चुका हूँ, प्रगतिशील लेखक संघ की बैठक हाल ही में हुई थी। उसमें प्रेमचन्द-स्मृति-रक्षा के बारे में विस्तार से बातचीत हुई और अन्त में इसके लिए तीन आदमियों की एक समिति बनाई गई, जिसमें एक मुझे भी रखा गया है। मेरा ख्याल है कि प्रेम-चन्दजी के प्रशंसकों एवं इस समिति में काफ़ी सहयोग होना चाहिए और मिल-जुलकर ऐसी चेष्टा करनी चाहिए कि जो देर हो चुकी सो हुई, अब तत्परता से कार्य शुरू हो।

स्मृति-रक्षा का क्या रूप हो ?

मैं सबसे पहले कह दूँ, जैनेन्द्रजी की जो स्कीम सर्वेंट्स ऑफ इन्डिया या पीपुल सुसाइटी की तरह एक साहित्यिक संस्था प्रेमचंद जी की स्मृति में कायम करने की है, मैं उसका विरोधी हूँ। किन्तु, अपने विरोध के कारणों पर मैं ज़्यादा स्थान नष्ट नहीं करना चाहता। मैं अपनी योजना ही प्रेमचन्द के प्रशंसकों और पूजकों के निकट रखता हूँ।

सबसे पहले तो प्रेमचन्द की रचनाओं का जनता में अधिकाधिक प्रचार करने की कोशिश होनी चाहिए। इसके लिए आवश्यकता यह है कि प्रेमचन्द जी की कृतियों का सस्ता-से-सस्ता संस्करण निकलना चाहिए। दूर की बात जाने दीजिए, बँगला में ऐसे प्रयत्न सफलता पूर्वक किए गए हैं, दो-ढाई रुपए में हम बँगला के उत्कृष्ट-तम लेखकों की पूरी कृतियाँ मजे में प्राप्त कर ले सकते हैं। प्रेमचंद की कृतियाँ, परिणाम के खयाल से भी, बहुत व्यापक हैं। अतः, हम सहूलियत के लिए उन्हें कई भागों में निकल सकते हैं — एक भाग में उनके सभी उपन्यास; दूसरे भाग में उनकी

सभी कहानियाँ, तीसरे भाग में उनके लेखों, व्याख्यानों आदि का संग्रह; चौथे भाग में उनके द्वारा अनुदित सभी चीजें। एक भाग ऐसा भी निकाला जाना चाहिए जिसमें प्रेमचन्दजी की पूरी जीवनी, उनके प्रति लोगों की श्रद्धांजलि, उनकी कला की खूबियों पर अच्छे-अच्छे लेख आदि हों। यदि हमने यह कर लिया, तो प्रेमचन्दजी की स्मृति रक्षा का आधा काम कर लिया।

प्रगतिशील लेखक संघ ने एक बात और सोची थी। हम चाहते हैं कि 'प्रेमचंद-पुरस्कार' के नाम से एक खासी रक़म का सालाना पुरस्कार देने की व्यवस्था हो। यह पुरस्कार भारत की भिन्न-भिन्न भाषाओं में प्रकाशित कहानियाँ या उन्यास की सर्वोत्तम पुस्तक पर दिया जाय। इस पुरस्कार के द्वारा हम लेखकों को उत्साहित करने के साथ ही साथ प्रेमचन्दजी की कीर्ति को भी भारत-व्यापी बना सकेंगे।

प्रेमचंदजी की कुछ चुनी हुई रचनाओं का भिन्न-भिन्न भारतीय भाषाओं में अनुवाद कराकर उसके प्रकाशित करने की व्यवस्था भी होनी चाहिए। यदि कोशिश की जाय, तो यह काम बहुत ही आसान है। प्रेमचन्दजी की चीजों के अनुवाद करनेवाले या प्रकाशित करने वाले, आर्थिक दृष्टि से भी घाटे में नहीं रहेंगे। हाँ, इसमें सबसे बड़ी शर्त यह है कि चीजों के चुनाव में सावधानी की जाय और अधिकारी से अनुवाद कराकर उसे सजधज कर प्रकाशित करने की व्यवस्था की जाय। प्रगतिशील लेखक संघ के सहयोग से यह काम मजे में हो सकता है, क्योंकि भारत की प्रायः सभी भाषाओं में उसकी शाखाएँ हैं ही।

फिर, प्रेमचन्दजी के 'हंस' को चिरस्थायी बनाने का सामान तो होना ही चाहिए। 'हंस' जन-साहित्य के सन्देश-वाहक के रूप में हिन्दी-जगत् के कोने-कोने को अपनी वाणी से मुखरित और गुंजारित करता रहे। यह प्रेमचन्द का सबसे बड़ा स्मारक होगा।

'प्रेमचन्द-मन्दिर' के नाम से एक सुन्दर भवन बनाकर उसी में हंस, सरस्वती-प्रेस, प्रेमचंद ग्रंथावली और प्रेमचंद पुरस्कार के दफ़्तर रखे जायँ।

और मेरा यह ख्याल है, यदि दो-तीन योग्य व्यक्ति, कम-से-कम दो वर्षों तक, अपना पूरा समय प्रेमचन्द-स्मारक के लिए दें। तो इस योजना के पूरा होने में कोई भी सन्देह नहीं रहे।

हम प्रेमचंद की क़ीमत अब भी जान सकें, उसकी क़दर करने का शऊर हम में अब भी आये, उसकी स्मृति को हम सदा तरोताजा रखें और उसका पदानुसरण करें, इसी की कामना करता हुआ, मैं अपना यह लेख समाप्त करता हूँ! पदानुसरण — किसी भी महापुरुष की स्मृति-रक्षा की सबसे जरूरी शर्त यही है। जन-साहित्य के निर्माण में अपने को बलिहार करते हुए, हम अपने इस स्वर्गीय नेता की पदपद पर जयध्वनि करें। प्रेमचंद मरकर भी अमर हैं, वह युग-युग अमर हैं, बोलिये — प्रेमचंद जिन्दाबाद!

●

३३ | लाल किशन

जहाँ नक्शे बरआबस्त ओ ज़िन्दगी बरबाद।
गुलाम हिम्मत आनम कि दिल बरू न निहाद ।।

(दुनिया पानी पर की लकीर है और ज़िन्दगी हवा पर है। मैं तो उसकी हिम्मत का गुलाम हूँ जो उस पर दिल नहीं रखता।)

मुन्शी प्रेमचन्द की ख्याति एक साहित्यकार की हैसियत से हुई लेकिन शायद ज़्यादा लोग इस सच्चाई से परिचित न होंगे। क्या आप शिक्षण कला के पण्डित और पूर्णतः दीक्षित शिक्षक भी थे। पन्द्रह-सोलह साल शिक्षा विभाग में सरकार की नौकरी करने के बाद असहयोग आन्दोलन के सिलसिले में आप इस्तीफा देकर अलग हो गये थे।

छात्र जीवन में और नौकरी के ज़माने में स्वर्गीय मुंशी जी का नाम धनपत राय था। ट्रेनिंग कालेज में जब आप माडल स्कूल के हेडमास्टर थे आपको लोग बाबू धनपत राय या मास्टर धनपत राय कहते थे। उपन्यास और लेख आदि लिखने के लिए पहले अपना उपनाम नवाब राय और फिर प्रेमचन्द रखा। बाद वाला उपनाम आखिर तक रहा और इसी नाम से बाबू धनपत राय अपने ज़माने के एक बड़े कहानीकार और लेखक और हिन्दू-मुस्लिम एकता के एक ऐसे समर्थक देशप्रेमी के रूप में प्रसिद्ध हुए जिस पर गर्व किया जा सकता है। आपका एक नाम और भी था जिसका ज़िक्र आगे आयेगा।

आप सन् १९०२ में ट्रेनिंग कालेज इलाहाबाद की प्रेपरेटरी क्लास में दाखिल हुए। इण्ट्रेन्स पास उम्मीदवार एक साल इसी क्लास में पढ़ते थे और दूसरे साल जूनियर क्लास में। उस वक्त इस सूबे में सिर्फ यही एक ट्रेनिंग कालेज था। जूनियर और सीनियर क्लास के प्युपिल टीचर साथ-साथ पढ़ते थे। उसके प्रिन्सिपल स्व० मिस्टर केम्पस्टर बड़े लोकप्रिय थे और अपने विद्यार्थियों का भला चाहने वाले, उनके सच्चे मददगार थे। यहाँ से सन् १९०४ में मुंशी जी जूनियर क्लास का इम्ति-

हान अव्वल दर्जे में पास करके जूनियर सर्टिफिकेट टीचर की सनद लेकर निकले। बाद में सरकारी नौकरी के दौरान में प्राइवेट तौर पर आपने एफ० ए० और बी० ए० के इम्तिहान पास किये।

बालाए सरश जे होशमन्दी
मीताफ़्त सितारये बलन्दी

उसके माथे पर बलन्दी का सितारा चमक रहा है।

प्रिन्सिपल साहब आपसे बहुत खुश थे। इसलिए उन्होंने आपको ट्रेनिंग कालेज के माडल स्कूल का हेडमास्टर मुकर्रर कर दिया था। उस ज़माने में इन पंक्तियों का लिखने वाला भी ट्रेनिंग कालेज के सीनियर क्लास में पढ़ रहा था। हम सब लोग यानी माडल स्कूल के सारे मुर्दारिस कालेज होस्टल में रहते थे। इसको आत्मिक खिंचाव समझना चाहिए कि मेरा मुंशी साहब से खास तौर पर परिचय हुआ और बहुत जल्द दोस्ताना सम्बन्ध हो गये। आप स्वभाव से बड़े नेक और प्रखर बुद्धि के थे।

मुंशी प्रेमचन्द शुरू से ही अध्ययन के बड़े प्रेमी थे। चुनांचे एक रोज़ मेरे साथ मिस्टर सच्चिदानन्द सिन्हा बैरिस्टर, मौजूदा वाइसचान्सलर, पटना यूनिवर्सिटी व आनरेरी सिक्रेटरी कायस्थ पाठशाला से जिनके पास मैं पहले से आया जाया करता था; मुलाकात की ताकि समय-समय पर उनकी लाइब्रेरी से फायदा उठाते रहें। एक बार कहीं से मौलवी जकाउल्ला साहब देहलवी की तारीखे हिन्द ले आये और चन्द ही रोज़ में उसकी तीनों या चारों मोटी-मोटी जिल्दें खत्म कर डालीं और इस ग़ौर से कहा कि जैसे इसपर कोई आलोचनात्मक लेख लिखना है। बहरहाल, उसके बारे में ज़बानी बातचीत ज़रूर हुई। इस शुरू के ज़माने में आपने एक नावेल 'कृष्णा' लिखा और छपवाया। शायद सन् १९०५ में आपका तबादला माडल स्कूल से गवर्नमेण्ट हाई स्कूल कानपुर को हो गया। जाने या अनजाने आपका 'कस्ब कमालकुन कि अज़ीज़े जहाँ शवी' पर पूरा अमल था। इसी का नतीजा वह ख्याति है जो स्वर्गीय मुंशी साहब को अरसे से हासिल हो चुकी थी और जिसके कारण उनकी याद में जगह-जगह मातमी जलसे हो रहे हैं।

हैफ़ दरचश्मेज़दन सुहबते यार आखिर शुद
(अफसोस कि पलक झपकने भर में दोस्त की सुहबत खत्म हो गयी)

बाबू धनपतराय नाटे कद के दुबले-पतले आदमी थे मगर मज़बूत। पंजा खोलने पर उंगलियों को मोड़ना मामूली आदमी के लिए आसान न था। उनका रहन-सहन उनकी वेश भूषा सादी थी। अचकन, पायजामा या खुले गले का लम्बा कोट पहनते थे। मुमकिन है कभी पतलून भी इस्तेमाल करते हों लेकिन याद नहीं पड़ता। उस ज़माने में विदेशी फैशन का भूत लोगों के सर पर इतना ज़्यादा सवार न था। सर पर हिन्दोस्तानी टोपी या साफा हुआ करता था। जिस तरह आपकी वेश भूषा सादी

थी, आपकी आदतें और आपका स्वभाव भी सीधा सच्चा और बनावट से परे था। विनयशीलता हमेशा से आपके स्वभाव का अंग थी। आवाज़ बुलन्द थी और खाम-खाह किसी से दबने वाले आदमी न थे। होस्टल में लड़ना-झगड़ना दरकिनार आपको कभी किसी से कठोर या असभ्य ढंग से बात करते हुए भी नहीं देखा गया। नौकरों के साथ भी अच्छी तरह पेश आते थे। इससे ज़ाहिर है कि वह कितने नेक, शान्तिप्रिय, सहानुभूतिशील और स्वाभिमानी व्यक्ति थे।

पढ़ते-लिखते वक्त अक्सर अपना कमरा अन्दर से बन्द कर लिया करते थे। और खेलकूद के वक्त दिल खोलकर खेलते कूदते थे। आपकी और स्वर्गीय बाबू गिरिजाकिशोर साहब असिस्टेण्ट कमिश्नर आबकारी की वजह से हमारा छोटा सा लाफिंग क्लब बन गया था जिसका रोज़ाना इजलास मेरे ही कमरे में हुआ करता था। उसमें शायद और भी दो-एक साहब थे लेकिन इस वक्त खयाल नहीं आता। बहरहाल, उनमें सभी हँसने वाले थे मगर धनपत राय ग़ज़ब करते थे। जब हँसते तो खूब हँसते और क़हक़हे पर क़हक़हा लगाते चले जाते। इसी वजह से हम लोग खासकर मैं और गिरजा किशोर उनको बम्बूख कहा करते थे और मुमकिन है कि यह नाम मेरा ही दिया हुआ हो। अक्सर इसी नाम से मेरी चिट्ठी-पत्री भी उनसे हुआ करती थी।

सन् १९२७ या २८ में स्वर्गीय मुंशी साहब देवरिया जिला गोरखपुर तशरीफ लाये थे। उस वक्त मैं किंग एडवर्ड स्कूल देवरिया में काम कर रहा था। आप मेरे घर पर रहे और दो-तीन दिन खूब मजे रहे। मगर उस वक्त उनकी क़हक़हाबाज़ी में बहुत फर्क आ चुका था, अलबत्ता उनका स्वभाव वैसा ही था। सेहत भी पहली-सी न थी। यह गिरावट बराबर की दिमाग़ी परेशानियों और तकलीफों का कुदरती नतीजा थी। मगर उस वक्त भी यह कोई न कह सकता था कि यह हँसी इतनी जल्द दुनिया से ग़ायब हो जायगी और यह प्रेम का चांद हमेशा के लिए अंधेरे परदे में छिप जायगा।

खुशस्त उम्र दरेग़ा कि जावेदानी नीस्त
बस एतमाद बरीं पंजरोज़ फानी नीस्त

(उम्र कितनी अच्छी है लेकिन अफ़सोस कि वह हमेशा रहने वाली नहीं है। भरोसा इसी बात पर है कि यह पाँच रोज मिटने वाले नहीं हैं।)

•

३४ | वीरेश्वर सिंह

उस अनोखे चाँद के सामने आज राहु-सा यह 'स्वर्गीय' लगाते हुए लेखनी विलप उठती है। विश्वास जड़ हो गया है, सारी भावनाएँ, सारे विचार आहत और स्तम्भित हैं। यह सब क्या है ? — यह सब जो हमारे चारों ओर फैला हुआ है, यह जो बोल रहा है, और यह जो इस मिट्टी के ऊपर अंधकार और असहायता-सा छाया हुआ है ? मेरे भाई, मैं तुमसे पूछता हूँ कि जिसके संसार-व्यथित मस्तिष्क को उसने यों सहलाया और हँसाया, जिसके हारते हुए हृदय को उसने साहस और शक्ति दी ; मेरी बहिन, तुम्हीं बताओ कि जिसकी मूक-व्यथाओं को उसने ज़बान दी, जिसकी रोती आँखों को अपने प्रेम-भरे फटे दामन से पोंछ कर, पद-दलित गौरव को उसने फिर से उठाने का प्रयत्न किया ; मेरे किसान, तुम्हीं कह दो कि जिसकी तरस की उसने तस्वीर खींच दी, पसीने की बूंदों को मोतियों-सा पिरोया, और ज़िन्दगी के ख़ून से सींचे हुए उन खेतों के दानों को दुनिया की अन्धी आँखों के सामने सोने-सा तौलकर बता दिया — तुम्हीं बताओ कि अब हम क्या मानें, और किसे मानें, और क्या न मानें ? — इस दग़ाबाज़ जीवन को, उस बेरहम मौत को या उसको कि जिसके बाणों ने रावण को मारा पर हमारे दुःख को न मार सका ? इन गरीब आँखों के सहारे खोखले आसमान से टँगे हुए मानव-जीवन की अकथ दैन्यता की कहानी कौन कह सकता है ? केवल एक वस्तु इस जीवन में सत्य है — आँसू ; केवल एक वस्तु इस सृष्टि में अमर है — मृत्यु ; केवल एक वस्तु झूठी है — दुनिया ! — बाक़ी सब एक तूफ़ान है, परेशानी है, ख्वाब है !

फिर भी क्या हमें रोना चाहिए — उसके लिए जो अग्नि-सा तपा, सोने-सा निखरा, और हमें उठा कर उठ गया ? शक्तिमान् हिन्दी के उज्वल, बढ़ते हुए, और अमर प्रवाह में वह केवल गति बनकर मिल गया। उसके गर्वीले रव को सुनो और समझो। नहीं; वह मरा नहीं है — इन आँखों से नहीं, उसे उन आँखों से देखो जिससे वह देखने की निधि थी। वह जीवित है, क्योंकि हमारी हिन्दी जीवित है।

मैं नहीं रोता — इन कच्चे मोतियों से उस कोहिनूर की क्या स्मृति-पूजा हो सकती है ? मैं जानता हूँ कि इन आँसुओं से यदि भरेगा तो केवल उसी का खज़ाना जो हमें लूटता है — सिंचेगा तो केवल उसी निर्दय का बाग़ जो हमें उजाड़ देता है .... ।

❀ ❀ ❀

क़रीब एक साल से मुझसे और प्रेमचन्दजी से कोई पत्र-व्यवहार न हुआ था — यानी इसकी कोई आवश्यकता ही न पड़ी थी । लेकिन दूसरी सितम्बर को सुबह की डाक से एक लिफ़ाफ़ा मिला । उत्सुकता के साथ खोलकर पढ़ा —

'प्रिय वीरेश्वर,

भाई, मैं तो बुरा पड़ गया । इधर दो महीने से ज़्यादा हो गये चारपाई पर पड़ा हूँ । इस समय तो दो-तीन मर्ज़ों से मुबतिला हूँ । लीवर अलग ख़राब है, पेचिश हो रही है । तथा पेट में भी कुछ पानी आ गया है ....

आज 'भारत' में तुम्हारा लेख पढ़वाकर सुना । बड़ी तक़लीफ़ में था, लेकिन फिर भी कुछ आराम ही मिला । बड़ा अच्छा लेख है । ....

'हंस' .... अब मैं ज़मानत देकर निकालरहा हूँ । सितम्बर का अंक प्रेस में है । अब यदि तुम अपनी कोई छोटी-सी भी चीज़ भेज दोगे तो बड़ा अच्छा होगा । इस अंक में मैटर की बड़ी कमी पड़ रही है । यदि जल्दी ही भेजोगे तभी उसका कुछ फ़ायदा होगा । वैसे तो कभी भी तुम्हारी चीज़ के लिए स्थान है । जैनेन्द्र को मैंने साथ ले लिया है, तथा वे ही सब कुछ करेंगे, क्योंकि मैं तो अभी कुछ करने-धरने लायक हूँ नहीं × × × × ×

शुभाकांक्षी,

प्रेमचन्द'

— फिर तारीख १८ सितम्बर को एक और छोटा-सा खत मिला —

'प्रिय वीरेश्वर,

तुम्हारी कहानी 'काजल' और पत्र कुछ समय पहले मिले थे । × × × × ×

मैं तो अब बेहद कमज़ोर हो गया हूँ । उठ-बैठ भी नहीं सकता । लेकिन मर्ज़ घट रहा है । डाक्टर का कहना है कि १५ दिन में मर्ज बिल्कुल घट जायगा । फिर भी अच्छा होने में बड़ा समय लगेगा । × × × × ×

आर्शीवाद ।

शुभाकांक्षी,

प्रेमचन्द'

यह 'आशीर्वाद' कैसा ? इससे पहले के पत्र में ऐसी समाप्ति न थी, और न मुझे याद पड़ता है कि मेरे और किसी पत्र में उन्होंने ऐसा अचानक, एकाकी, ढुलक पड़े हुए एक अश्रु-सा 'आशीर्वाद' लिखा हो । उनके स्नेहपूर्ण पत्र स्वयं ही उनका हृदय व्यक्त कर देते थे.......लेकिन यह 'आशीर्वाद' ! आज सोचता हूँ तो मालूम पड़ता है कि उस

अगम अगोचर ने हाथ पकड़कर उनसे यह 'आशीर्वाद' लिखवा दिया था। यह उनका अन्तिम पत्र था।

यह १६ सितम्बर सन्' ३६ का पत्र था। मैंने उत्तर दिया कि ईश्वर करे आप शीघ्र स्वास्थ्य-लाभ करें..........लेकिन ईश्वर कहाँ ? ईश्वर तो इसी कातर मन का भूत है ! मौत सामने खड़ी हो तो फिर कौन बैठा रह सकता है ? .... मैं प्रतीक्षा ही कर रहा था कि अब खबर आती होगी .... खबर आई भी अखबार के काले पृष्ठ पर।

* * *

श्री प्रेमचन्दजी का जीवन सेवा तथा प्रेम का महान् स्तोत्र था। अपनी रजत-अस्थियों से उन्होंने हिन्दी के सूने प्रदेश में भव्य-आख्यायिका-मन्दिर का निर्माण किया, और उसमें त्याग तथा राष्ट्र-प्रेम का दीपक जलाया। इस गुदड़ी के लाल ने अपने खून से हिन्दी-माँ के पवित्र मस्तक पर विजय-तिलक दिया।

शायद मैं ग़लती कर रहा हूँ, लेकिन मेरे विचार में तो महात्मा गान्धी के चर्खे की — कृषक-भारत के उस निस्तारक चक्र की यदि कोई सच्ची संगिनी थी तो वह श्री प्रेमचन्दजी की लेखनी थी। लक्ष्मी-पुत्र भारतेन्दुजी के बाद ऐतिहासिक उदय ग़रीबों के भाई श्री प्रेमचन्द का हुआ। भारतेन्दुजी ने हमें गौरवशाली अतीत की याद दिलाई, भव्य हिमालय के मुकुट और मन्दाकिनी की हीरक-लहरों के दर्शन कराये, और प्रेमचन्दजी ने जीवित और त्रस्त वर्तमान की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया। एक सजीले मेघ की तरह झूमता, गरजता, और बरसता हुआ आया और अपने को लुटा दिया कि हमारा ख़ाली भण्डार भरा। उसमें भी तड़प थी सावन की; विरह और पुकार थी पपीहे की, स्मृति थी अतीत वसन्त की। वह तो हरसिंगार-सा फूला, महँका और फिर अन्तर्धान हो गया। हाँ, बेजोड़ था वह इन्द्रधनुष अपने रँगीले-पन, अपनी अलौकिक भंगिमा और सूचक महत्व के लिए। फिर भी प्रेमचन्दजी का अपना प्यारापन भी कम अनोखा न था। वह एक कसक-सी उठे, ग्राम्य-भारत के हृदय में सहानुभूति-से फैले और एक विवश किन्तु अविजित आँसू से ढुलक रहे। मेरे ऐसे मूर्ख लिखते हैं : दिमाग़ी ऐय्यारी के लिए, विक्षिप्त मनोविज्ञान की छीछा-लेदर करते हैं और समझते हैं कि यही कमाल है, भूखी और रोती हुई आँखों के सामने आँखें बन्द करके विदेशी तारों-से भरे आकाश में विचरण करते हैं और गर्व से अनुभव करते हैं कि हम साहित्य और राष्ट्र-सेवा के पुष्पक पर भारत का झंडा लिए फिर रहे हैं। पर प्रेमचन्दजी ने अपनी लेखनी को कभी रँगीली-रँगरेजिन न होने दिया। वह निश्चित लक्ष्य और पवित्र व्रत के मनुष्य थे। उनके उपन्यास हमारे गाँवों के जीवित और हृदय बेधक चित्र हैं; उनकी कहानियाँ भारतीय कुटुम्ब और मानव हृदय की बोलती हुई मैना। भारत के शुष्क धूल की उन्होंने प्यार और तरस दिखलाई, और कहा कि खयालों के ताजमहल में रहनेवालों, हिन्दुस्तान की सच्ची

चीज़ — इस देश की असलियत यही है। इसको ग़ौर करो, इसे अपनाओ, इसकी कहानी कहो। इस भिखारी देश के निस्सहाय, सन्तप्त बहते हुए पसीने में झलकते हुए ख़ून को देखो। मेंहदी लगा कर शहीद बनाना सच्चे साहित्यिकों का काम नहीं हैं। प्रेमचन्दजी एक सैनिक साहित्यिक थे। समाज की कुरीतियों से और दुनिया की जहालत से उन्होंने आजन्म धर्म्म-युद्ध किया। जन-मत के ज़ुल्म की ताक़त समझते हुए भी उन्हें मालूम था कि मानव हृदय के सत्य आदर्श की दृढ़ता क्या चीज़ है।

उनकी साहित्यिक-सेवा में एक आदर्श था, इससे कौन इनकार कर सकता है? 'हंस' उनके उसी लोभ-रहित साहित्यादर्श का देव-दूत है। एक बार मैंने उनसे कहा — 'आप 'हंस' के लिए विज्ञापन (Procure) करने के लिए कोई (Campaign) क्यों नहीं करते, आप तो जानते ही हैं, पत्रों के पाँव यही विज्ञापन हैं। इसमें तो मुझे कोई हर्ज नहीं दिखाई देता। क्या अंग्रेज़ी, क्या हिन्दी — सभी अख़बार और मैगज़ीन यह करते हैं....'। उन्होंने जो उत्तर दिया उससे मेरा सांसारिक हृदय केवल खीझा, सन्तुष्ट न हुआ। लेकिन मुझे कुछ अप्रतिभ होकर चुप होना ही पड़ा। वह बोले — 'भई, हंस साहित्यिक-पत्र है। मैं विज्ञापनों की क़ीमत जानता हूँ, लेकिन आदर्श तो लाभ के भरोसे नहीं जीते। हमारा एक ध्येय है और हम उसी ध्येय पर चल रहे हैं। एक ख़ास तरह के (यानी साहित्य-सम्बन्धी) विज्ञापनों के सिवा हम और तरह के विज्ञापन नहीं छाप सकते। हाँ, जो पत्र बाज़ारू व्यापार के इरादे से निकले हैं उनकी बात दूसरी है। यह तो अपने अपने उद्देश्य की बात है।'

प्रेमचन्दजी अखंड और अडिग चट्टान पर स्थित, इस अनिश्चित और विक्षिप्त साहित्य सागर में (Light House) प्रकाश-स्तम्भ की तरह थे। वे हमारी शान थे, हमारे मार्ग-निर्देशक तथा मित्र थे।

सदियों बाद उन्होंने फिर वही बाँसुरी बजाई जिससे जगकर हमने अपने ग्राम, गो और गोपालकों की ओर नज़र उठाई, अपनी माँ और बहिनों की तरफ़ इज्ज़त और सहानुभूति से देखा, और अपने हृदय से गलबहियाँ डालकर बातें करना सीखा।

उन्होंने अपनी मनमोहक कहानियों से हमारे मन को जीत हमें संसार में विजयी बनाया ....

❀ ❀ ❀

यह समीक्षा का समय नहीं है — और न मेरी यह इच्छा ही है। हम तो अपनी दोनों सजल आँखों से ढूंढ़ते हैं कि वह कहाँ? और अपने भाग्य से पूछते हैं कि उसके बाद अब और कौन आवेगा?

इसका उत्तर कुछ नहीं है। इसका उत्तर केवल धैर्य्य और निश्चल परिश्रम है। परिश्रम और प्रतीक्षा के सिवा हमारा वश ही क्या है?

❀ ❀ ❀

विरेश्वर सिंह

प्रेमचन्द जी मानव हृदय के महान् कवि थे, वर्तमान के देवदूत थे और ग्राम्य-भारत के चित्रकार, सेवक और मित्र थे। जब तक हमारे हृदय में धड़कन है, जब तक हमारे खेत और खलिहान हैं, जब तक हमारे गाँव और हमारे किसान हैं, और जब तक हमारी हिन्दी है — तब तक उनकी कीर्ति और स्मृति अमर और अक्षय रहेगी।

●

३५ | शिवरानी देवी

२५ जून की ढाई बजे राते को —

'बेटा धुन्नू ! जरा पंखा खोल दो; बड़ी गरमी हो रही है' — ये उनके शब्द थे; उसके थोड़ी देर बाद छोटा लड़का बन्नू दौड़ता हुआ मेरे कमरे में आया और बोला, — अम्मा, बाबूजी को क़ै हुई है, आशंका, भय और दुःख के मारे मैं चौंक पड़ी — झपट कर जब वहाँ पहुँची और खून की क़ै देखी तो मैं सिहर उठी । — मानो किसी ने मेरे देह में बिजली छुलाकर घाव कर दिया हो ! थोड़ी देर पश्चात् वह अस्फुट शब्दों में कह गये — रानी ! अब मैं चला ।

आती हुई दुःख की आँधी से सम्हल, धैर्य और साहस को बटोर, मैंने अपने स्वाभाविक शासन-स्वर में कहा — चुप रहो; आप मुझे छोड़कर नहीं जा सकते । तब खून की तरफ़ इशारा करके बोले — जिसके मुंह से इतना खून निकले, क्या उससे भी तुम आशा रखती हो कि वह जीये ? मैंने कहा —आशा क्यों न करूँ ? मैंने किसी का कुछ भी नहीं बिगाड़ा है । उन्होंने मुंह फेर लिया और मैंने धुन्नू को दौड़ाकर डॉक्टर को बुलवाया; डॉक्टर ने आकर ढाढ़स दिया और कहा, केवल पित्त की खराबी है । उसने ऐसे दो चार मरीज़ों को ठीक किया है । मेरे चित्त को सांत्वना मिली और मुझे विश्वास हो गया कि वे चंगे हो जायेंगे ।

उस दिन के बाद, आपको अच्छी तरह नींद नहीं आई । रात को आप रोशनी करके लिखते-पढ़ते थे; इस महान् पीड़ा-काल में भी वे बराबर लिखते रहे और इसी दशा में उन्होंने 'मंगलसूत्र' के बीसों सफ़े लिखे हैं । तबीयत अधिक खराब हो जायगी इस भय के मारे मैंने कई बार उनको लिखने से रोका, वे मान गये, परन्तु फिर अधिक बार मैं उनको न रोक सकी । कभी-कभी रात भर उनको नींद नहीं आती थी और इस प्रकार पढ़ने लिखने में उनका दिल बहलेगा यह सोच कर मैं उनको पुस्तक दे देती थी । मैं रात दिन उनके खाट के आसपास चक्कर काटती रहती थी;

और उनका सिर सहलाया करती थी। उनके सामने मैं सदैव खुश रहने की चेष्टा करती थी।

❀ ❀ ❀

एक रात को —

मेरे स्वामी के पेट में बहुत दर्द था ; मैं उनके सिरहाने बैठी हुई थी, जब दर्द कुछ कम हुआ तो वे बोले — रानी, मुझे तुम्हारी और बन्नू की बड़ी चिन्ता है। धुन्नू तो हाथ पैरवाला है; बेटी की शादी हो गई है — वह सुखी है परन्तु तुम्हारी और बन्नू की क्या दशा होगी ? उस समय मेरे संयम, धैर्य, और विश्वास के बाँध टूट गये; जीवन में मैं पहली बार रो पड़ी। हमेशा मैं समस्त रंजोग़म अपने ऊपर सह लेती थी परन्तु उस दिन मैं रो पड़ी। परन्तु मैंने अपने आँसुओं को छिपा लिया। उन्होंने मेरे हृदय को देख लिया परन्तु आँसुओं को न देख सके; क्योंकि मैं जानती थी कि वे सब दुःख देख सकते थे परन्तु मेरे आँसू उनके लिए असहनीय थे। इस प्रकार वे बोलते रहे — रानी, मैं भी तुम्हें छोड़कर जाना नहीं चाहता। यहाँ मैं सब कष्ट सहने को तैयार हूँ — परन्तु इसके आगे मेरा बस ही क्या है ? इसके बाद ....। फिर वे कहने लगे — रानी, तुम अगले जन्म में मेरी माँ थीं और इस जन्म में देवी हो। मैंने उनका मुंह बन्द कर दिया, फिर भी वें कहने लगे — रानी, तुम्हीं मेरी आदि-शक्ति हो; तुम घबराना मत, फिर तुम्हीं कौन यहाँ बैठी रहोगी ? इस प्रकार उस रात को बजाय मेरे, वे मुझे ही सांत्वना देने लगे। मैं चुपचाप बैठी हुई उनका आशीर्वाद ले रही थी। मेरी आँखें झुकी हुई थीं और उनका महान् हाथ मेरे मस्तक पर था ....।

❀ ❀ ❀

बारह वर्ष पूर्व

'प्रेस' खुल गया था, और आप स्वयं वहाँ काम करते थे; जाड़े के दिन थे। मुझे उनके सूती पुराने कपड़े भद्दे जँचे और गरम कपड़े बनाने के लिए अनुरोधपूर्वक दो बार चालीस-चालीस रुपये दिये परन्तु उन्होंने दोनों बार वे रुपये मजदूरों को दे दिये। घर पर जब मैंने पूछा — कपड़े कहाँ हैं ? तब आप हँस कर बोले— कैसे कपड़े ? वे रुपये तो मैंने मज़दूरों को दे दिये; शायद उन लोगों ने कपड़ा खरीद लिया होगा। इस पर मैं नाराज़ हो गई तब वे अपने सहज स्वर में बोले — रानी, जो दिन भर तुम्हारे प्रेस में मेहनत करे वह भूखा मरे और मैं गरम सूट पहनूँ, यह तो शोभा नहीं देता। उनकी इस दलील पर मैं खीझ उठी और बोली — मैंने कोई तुम्हारे प्रेस का ठेका नहीं लिया है। तब आप खिलखिला कर हँस पड़े और बोले — जब तुमने मेरा ठेका ले लिया है, तब मेरा रहा ही क्या ? सब कुछ तुम्हारा ही तो है। फिर हम तुम दोनों एक नाव के यात्री हैं; हमारा तुम्हारा कर्तव्य जुदा नहीं हो सकता। जो मेरा है वह भी तुम्हारा है क्योंकि मैंने अपने आपको तुम्हारे हाथों में सौंप दिया है। मैं निरुत्तर हो गई और बोली — मैं तो ऐसा सोचना नहीं चाहती। तब उन्होंने

असीम प्यार के साथ कहा — तुम पगली हो।

जब मैंने देखा कि इस तरह वे जाड़े के कपड़े नहीं बनवाते हैं तब मैंने उनके भाई साहब को रुपये दिये और कहा कि इनके लिए आप कपड़े बनवा दें। तब बड़ी मुश्किल से आपने कपड़ा खरीदा। जब सूट बनकर आया तब आप पहिन कर मेरे पास आये और बोले — मैं सलाम करता हूँ, मैंने तुम्हारा हुक्म बजा लिया है। मैंने भी हँस कर आशीर्वाद दिया और बोली — 'ईश्वर तुम्हें सुखी रखे, और हर साल नये-नये कपड़े पहिनो।' फिर मैंने कहा — सलाम तो बड़ों को किया जाता है; मैं तो न उमर में बड़ी हूँ, न रिश्ते में, न पदवी में; फिर आप मुझे सलाम क्यों करते हैं? तब उन्होंने उत्तर दिया — उम्र, रिश्ता, या पदवी कोई चीज़ नहीं है; मैं तो हृदय देखता हूँ और तुम्हारा हृदय माँ का हृदय है; जिस प्रकार माता अपने बच्चों को खिला पिलाकर खुश होती है, उसी प्रकार तुम भी मुझे देखकर प्रसन्न होती हो और इसलिए अब मैं हमेशा तुम्हें सलाम किया करूँगा। हा! पारसाल मई के महीने में उन्होंने स्नान करके नई बनियान पहनी थी और मुझे सलाम किया था — यही उनका अन्तिम सलाम था।

❀ ❀ ❀

सात साल पहिले

वे लखनऊ में 'माधुरी' का संपादन करते थे; कांग्रेस का तूफ़ानी युग था; मेरे हृदय में भी देश-सेवा की भावना हिलोरे मारने लगीं; एक दिन उन्होंने कहा — आज मैं घर पर ही रहूँगा, अच्छा हो अगर तुम भी आज के लिए न जातीं; नहीं तो अकेले में मेरी तबीयत नहीं लगेगी। मैं रुक गई परन्तु इतने में कई बहनें आकर मुझे घसीट ले गईं। आखिर मैं क्या करती? उस दिन शहर में मेरे नाम से नोटिस बँटी थी और मैं जाने के लिए मजबूर की गई थी। आठ बजे रात को जब लौटी तब लड़कों के ज़बानी मालूम हुआ कि आप भी कांग्रेस दफ़्तर की तरफ़ गये हैं। आखिर आप रात के दो बजे आये, मेरे पूछने पर आप मुस्किराकर बोले — जब तुम्हें देश-प्रेम बेबस कर सकता है तो क्या मुझे नहीं कर सकता? मैंने उसी स्वर में उत्तर दिया — ज़रूर, क्यों नहीं; तभी तो पोथे के पोथे लिखा करते हो, रात की रात एक-एक बात के सोचने में लगा देते हो फिर भी रुपयों के दर्शन नहीं होते; मैं कैसे कहूँ कि अब तक सरकारी पेंशन पाने लगते। परन्तु उन्होंने मुझे बीच में ही रोक दिया और सहज स्वाभाविक स्वर में बोले — हटाओ जी, इस लालसा को। मैं तो मज़दूर हूँ; लिखना मेरा धर्म है — यही मेरी मजदूरी है; इसमें मुझे सन्तोष है; दुःख की बात केवल एक यह है कि अगर मैं जेल चला गया तो तुम्हारी और बच्चों की क्या दशा होगी! कौन तुम्हारी खबर लेगा? ....इस प्रकार उस दिन बड़ी देर तक चर्चा होती रही।

❀ ❀ ❀

परन्तु आज—

आज मैं लुट गई हूँ, मेरी समस्त निधि आज खाली हो गई है। आज मुझे अपने ऊपर दुःख होता है — कि मैं कितनी अभागिनी हूँ। मेरे समस्त विचार और विश्वास उखड़ रहे हैं; ईश्वर के न्याय पर भी मेरा विश्वास घटता चला जा रहा है। यह तो मेरे जीवन की अमावस्या है। बार-बार यह स्मृति मेरे मन में आती है कि वे कितने महान् थे, देवता थे; और मैंने उन पर शासन किया। वे मेरे इतने निकट थे कि मैं उनके देवत्व को पहिचान तक न सकी। मुझ में क्या था — फिर भी उन्होंने मेरा उद्धार किया, प्यार किया, और सम्मान सहित अपने हृदय के ऊँचे से ऊँचे आसन पर बिठाया। उस दिन मुझे कितना गर्व था — मैं रानी थी — वे उपन्यास सम्राट् तो लोगों की आँखों में थे, परन्तु मेरे तो स्वामी होते हुए भी विनीत मित्र थे। मेरे पास उस समय विश्व का समस्त सुख था, परन्तु आज मैं अकेली हूँ। आज मेरे जीवन का समस्त बल पानी हो गया है; मेरा मन उचट गया है; न मेरी लेखनी चल सकती है, न घर का काम कर सकती हूँ — मैं उस अमूल्य मोती को खोकर दिङ्मूढ़-सी हो गई हूँ।

आज इस घर में उनका सरल हास्य नहीं; उनकी सम्पादकीय चौकी खाली है। यों तो सब कुछ है; परन्तु सब होते हुए भी कुछ नहीं है। आज मेरे ईश्वर नहीं हैं। मैं अपना सब कुछ त्याग कर भी उनको बचाना चाहती थी, परन्तु मैं कुछ नहीं कर सकी! मनुष्य का प्रयत्न इतना तुच्छ है, इसका आज मैं दुःखद अनुभव कर रही हूँ।

उनकी स्मृति — 'हंस' आज भी जीवित है, परन्तु 'हंस' का वह मोती कहाँ? शायद मैं इसीलिए जीवित हूँ कि मेरे देवता जिस छोटे से पौधे को छोड़ गये हैं उसको मैं हृदय के खून से सींच कर बड़ा कर जाऊँ।

फिर भी मेरे देवता ने सच कहा था, 'मैं पगली हूँ' और आज दुनिया की आँखों में भी पगली हूँ। बार-बार केवल यही ध्वनि मेरे कानों में आती है, 'मैं लुट गई!'

हा! मैं लुट गई!

शोक-ग्रस्ता—

उनकी दासी रानी।

(श्रीमती शिवरानी देवी)

●

३६ | श्री निवासाचार्य

दक्षिण भारत में हिन्दी प्रचार सभा (मद्रास) के चतुर्थ पदवीदान-समारम्भ के शुभ अवसर पर उपन्यास-सम्राट् बाबू प्रेमचन्द जी और श्रीमती शिवरानी देवी जी के दर्शन करने का सौभाग्य हमें प्राप्त हुआ था। प्रेमचन्द जी का स्मरण करते ही सरलता और सहृदयता की उस प्रतिमा और विलक्षण-शक्ति भरी पैनी दृष्टि की झाँकी हमें मिलती है।

'हंस' के पाठकों को प्रेमचन्द जी की बीमारी की खबर अगस्त १९३६ में ही मिली थी। पर किसे आशंका थी कि उनकी वह रुग्णता यह उग्र रूप धारण करेगी और उस भारतीय विभूति को हमसे इतनी जल्दी, असमय में ही, छीन लेगी।

बाबू प्रेमचन्दजी की गणना भारत के उन महान् संयमशील ऋषियों में है जो अपनी तपस्या का फल जन-साधारण को दे जाते हैं।

दक्षिण भारतीयों पर उनकी कितनी श्रद्धा थी, यह उनके इन वाक्यों से स्पष्ट है—

'अगर मैं यह कहूँ कि आप भारत के दिमाग़ हैं तो वह मुबालग़ा न होगा। .... जिन दिमाग़ों ने अंग्रेज़ी राज्य की जड़ जमायी, अंग्रेज़ी भाषा का सिक्का जमाया, जो अंग्रेज़ी आचार-विचार में भारत में अग्रगण्य थे और हैं, वे लोग राष्ट्रभाषा के उत्थान पर कमर बाँध लें तो क्या कुछ नहीं कर सकते ? और वह कितने बड़े सौभाग्य की बात है, कि जिन दिमाग़ों ने एक दिन विदेशी भाषा में निपुण होना अपना ध्येय बनाया था, वे आज राष्ट्रभाषा का उद्धार करने पर कमर कसे नज़र आते हैं, और जहाँ से मानसिक पराधीनता की लहर उठी थी, वहाँ से राष्ट्रीयता की तरंगें उठ रही हैं। जिन लोगों ने अंग्रेज़ी लिखने और बोलने में अंग्रेज़ों को भी मात कर दिया, यहाँ तक कि आज जहाँ कहीं देखिये, अंग्रेज़ी पत्रों के सम्पादक इसी प्रान्त के विद्वान् मिलेंगे, वे अगर चाहें तो हिन्दी बोलने और लिखने में हिन्दीवालों को भी मात कर सकते हैं। ....'

लक्षण कहते हैं कि उनके इन वचनों को सफल सिद्ध करने में दक्षिण भारत प्रयत्नशील है और होगा।

'राष्ट्रभाषा के सम्बन्ध में उनके विचार यों थे — 'इसे हिन्दी कहिये, हिन्दुस्तानी कहिये या उर्दू कहिये, चीज़ एक है। नाम से हमारी कोई बहस नहीं।.... जीवित भाषा तो जीवित देह की तरह बराबर बनती रहती है। 'शुद्ध हिन्दी' तो निरर्थक शब्द है। भारत शुद्ध हिन्दू होता तो उसकी भाषा शुद्ध हिन्दी होती। यहाँ तो मुसलमान, ईसाई, फ़ारसी, अफ़ग़ानी सभी जातियाँ मौजूद हैं। हमारी भाषा भी व्यापक रहेगी........ भाषा-सुन्दरी को कोठरी में बन्द करके आप उसका सतीत्व तो बचा सकते हैं, लेकिन उसके स्वास्थ्य का मूल्य देकर। उसकी आत्मा स्वयं इतनी बलवान् बनाइये कि वह अपने सतीत्व और स्वास्थ्य दोनों ही की रक्षा कर सके। बेशक हमें ऐसे ग्रामीण शब्दों को दूर रखना होगा जो किसी खास इलाके में बोले जाते हैं। हमारा आदर्श तो यह होना चाहिये कि हमारी भाषा अधिक से अधिक आदमी समझ सकें। अगर इस आदर्श को हम अपने सामने रखें तो लिखते समय भी हम शब्द-चातुरी के मोह में न पड़ेंगे।........ मैं अपने-अनुभव से इतना अवश्य कह सकता हूँ कि उर्दू को राष्ट्र-भाषा के स्टेण्डर्ड पर लाने में हमारे मुसलमान भाई हिन्दुओं से कम इच्छुक नहीं हैं। मेरा मतलब उन हिन्दू-मुसलमानों से है जो क़ौमियत के मतवाले हैं।........

'यह हम सभी का कर्तव्य है कि हम राष्ट्र-भाषा को उसी तरह सर्वाङ्गपूर्ण बनावें जैसी अन्य राष्ट्रों की सम्पन्न भाषाएँ हैं।........ हमें राष्ट्र भाषा का कोष बढ़ाते रहना चाहिए। वह संस्कृत और अरबी-फ़ारसी के शब्द, जिन्हें देखकर आज हम भयभीत हो जाते हैं, जब अभ्यास में आ जायंगे तो उनका हौवापन जाता रहेगा। भाषाविस्तार की यह क्रिया धीरे-धीरे ही होगी। इसके साथ हमें ऐसे विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं के विद्वानों का एक बोर्ड बनाना पड़ेगा जो राष्ट्रभाषा की ज़रूरत के क़ायल हैं। उस बोर्ड में उर्दू, हिन्दी, बँगला, मराठी, तामिल आदि सभी भाषाओं के प्रतिनिधि रखे जावें और इस क्रिया को सुव्यवस्थित करने और उसकी गति को तेज़ करने का काम उनको सौंपा जाय।............'

हमारे आधुनिक विद्यालयों पर उनके उद्‌गार बड़े मार्के के थे —

'हमारे जितने विद्यालय हैं सभी ग़ुलामी के कारखाने हैं, जो लड़कों को स्वार्थ का, ज़रूरतों का, नुमायश का, अकर्मण्यता का ग़ुलाम बनाकर छोड़ देते हैं; और लुत्फ़ यह है कि यह तालीम भी मोतियों के मोल बिक रही है।.... हमारे पास ऐसे विद्यालय होने चाहिए, जहाँ ऊँची-से-ऊँची शिक्षा राष्ट्र-भाषा में, सुगमता से मिल सके। इस वक्त अगर ज्यादा नहीं तो एक तो ऐसा विद्यालय किसी केन्द्र-स्थान में होना ही चाहिए।'

वे उस दिन का स्वप्न देख रहे थे, जब राष्ट्र-भाषा पूर्ण रूप से अंग्रेज़ी का स्थान

ले लेगी, जब हमारे विद्वान् राष्ट्र-भाषा में अपनी रचनाएँ करेंगे, जब मद्रास और मैसूर, ढाका और पूना सभी स्थानों से राष्ट्रभाषा के उत्तम ग्रन्थ निकलेंगे, उत्तम पत्र प्रकाशित होंगे और भूमण्डल की भाषाओं और साहित्यों की मजलिस में हिन्दुस्तानी साहित्य और भाषा को भी गौरव का स्थान मिलेगा, जब हम मँगनी के सुन्दर कलेवर में नहीं, अपने फटे वस्त्रों में ही सही, संसार के साहित्य में प्रवेश करेंगे। हमें आशा है, प्रेमचन्द जी के स्मारक इस दिव्य स्वप्न को यथार्थ रूप में परिणित करने का प्रयत्न करेंगे।

प्रेमचन्दजी उन इने-गिने लेखकों में से थे, जिनकी कृतियों का अनुवाद भारत की अन्य-अन्य भाषाओं में भी हो गया है। इधर 'मणिक्कोडि' आदि पत्रिकाओं में उनकी कई कहानियों का तामिल अनुवाद निकल चुका है। प्रेमचन्द जी का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास 'सेवा सदन' श्रीमती अम्बुजम्माल द्वारा अनुवादित होकर आजकल 'आनन्द-विकटन्' में प्रकाशित हो रहा है।

प्रेमचन्दजी की कृतियाँ यथार्थ और आदर्श चरित्रों के चित्रण से, मनोवैज्ञानिक सत्यों से और प्रेमानुभूति से पूर्ण हैं। एक आलोचक उन्हें यथार्थवादी साबित करते हैं तो दूसरे आलोचक का कहना है कि वे आदर्शवादी थे। बाबूजी ने स्वयं कहा था —

'मैं यथार्थवादी नहीं हूँ। कहानी में वस्तु ज्यों की त्यों रखी जाय तो वह जीवन-चरित्र हो जायगी। शिल्पकार की तरह साहित्यकार का यथार्थवादी होना आवश्यक नहीं, वह हो भी नहीं सकता। साहित्य की सृष्टि मानव-समुदाय को आगे बढ़ाने — उठाने के वास्ते ही होती है। .... आदर्श अवश्य हो, पर यथार्थवाद और स्वाभाविकता के प्रतिकूल न हो। उसी तरह अगर यथार्थवादी भी आदर्श को न भूले तो वह श्रेष्ठ है। .... हमें तो सुन्दर आदर्श-भावनाओं को चित्रित करके मानव-हृदय को ऊपर की ओर उठाना है; नहीं तो साहित्य की महत्ता और आवश्यकता क्या रह जायगी ?'

प्रान्तीय साहित्य के राष्ट्रीकरण में वे उद्योगशील रहे और उच्चतम भारतीय साहित्य को विश्व-साहित्य के उच्चातिउच्च आसन पर बिठाना उनका लक्ष्य रहा। हिन्दी-उर्दू की एकता पर वे हमेशा ज़ोर देते थे। और उनकी अमर कृतियाँ इसके स्थायी प्रमाण हैं।

हमें विश्वास है, 'हंस' उनके इन तक्ष्यों को पूर्ण करेगा।

●

३७ | श्री प्रकाश

यों तो प्रेमचन्दजी से मेरा सम्बन्ध सभी कार्यक्षेत्रों में था — कांग्रेस, ज्ञानमण्डल, विद्यापीठ, सब में वे काम कर चुके थे — तथापि मेरा उनका सम्पर्क, मेरे अभाग्य से, बहुत थोड़ा हुआ। जहाँ तक मुझे स्मरण आता है वह मेरे घर पर केवल एक बार आए थे। 'हंस' के किसी विशेषाङ्क के लिए वह लेख चाहते थे। मुझे खेद है, उस समय मैं उनके लिए लेख न लिख सका। आज उनकी स्मृति के विशेषाङ्क में दो-चार शब्द लिखकर वर्तमान सम्पादक के आज्ञापालन के साथ-साथ उस समय का प्रायश्चित भी कर लेना चाहता हूँ।

जिस समय वह मेरे यहाँ आए थे उसकी स्मृति बड़ी स्पष्ट मेरे सामने है। प्रातः-काल का समय था। मैं चाय पीने जा ही रहा था और उन्हें एकाएक देखकर उनसे कहा कि आप भी चले चलिये। मैंने अपनी कन्याओं और पुत्रों का उनको परिचय दिया। सबके चेहरों की वही दशा हुई जो आज से इक्कीस वर्ष पहले मेरी हुई थी जब हिन्दू विश्वविद्यालय के शिलान्यास के समय किसी ने महात्मा गाँधी की ओर संकेत कर मुझसे कहा — 'ये ही गाँधी जी हैं।' अर्थात् न मुझे यह विश्वास हुआ था कि दक्षिण अफ्रीका के वीर पुरुष, ब्रिटिश साम्राज्य का विरोध करने वाले, सत्यता-निर्भी-कता-साहस के कारण संसार को हिलानेवाले, गांधी जी यही हो सकते हैं, न मेरे बच्चों को यह विश्वास हुआ कि हिन्दी के प्रचण्ड लेखक, साहित्यिक संसार के सम्मान प्राप्त प्रेमचन्द जी यही हैं। यह समझकर कि मैं दिल्लगी कर रहा हूँ — जिस मेरी प्रवृत्ति से मेरे बच्चे आवश्यकता से अधिक परिचित हैं — वे सब हँस पड़े, और जब मैंने हर तरह से उन्हें विश्वास दिलाया कि ये वही हैं जिनकी कहानियाँ उन बच्चों ने पढ़ी थीं, तब जाकर सबने उनका समुचित आदर सत्कार किया।

गुण कहिये चाहे दोष, प्रेमचन्द जी की विशेषता यही थी कि उन्होंने अपने बड़प्पन को न माना न जाना। साधारणतः हम सबका यह विचार होता है कि जो कोई नामी पुरुष है वह साधारण मनुष्य से डील-डौल में बहुत बड़ा होगा और

उसकी बातचीत और आचार व्यवहार विशेष प्रकार का होगा । यह ख्याल ही नहीं होता कि वह साधारण मनुष्य-सा भी हो सकता है । यही कारण है कि पुराने चित्रकार राजाओं और देवताओं के चित्र को बहुत बड़ा बनाते थे और उनके चेहरे के चारों तरफ़ ज्योति अंकित करते थे । इससे किसी को भ्रम नहीं होता था और बड़ा आदमी फ़ौरन पहचाना जाता था । पुराने लेखकों ने रावण, कुम्भकर्ण आदि की रचना इतनी भीषण इसी कारण की है कि उनका बड़प्पन संसार में बना रहे । बाल्यावस्था का संस्कार ऐसा ही होता है कि हम जब बड़े आदमी की कल्पना करते हैं तो यही समझते हैं कि वह बृहदाकार कोई जीव होगा और यदि गान्धी जी या प्रेमचन्द जी की तरह का साधारण मनुष्यों से भी छोटा पुरुष देख पड़ता है तो हमारे बड़प्पन के विचार को गहरा धक्का लगता है । समझदारों के हृदय में तो उनकी ममता बढ़ जाती है और उनकी रचनाओं का अधिक आदर होने लगता है, पर बच्चों को तो खासी ठेस पहुँचती है और उनके मन में सम्भवतः श्रद्धा कम हो जाती है । अंग्रेज़ी में इसी भाव को प्रदर्शित करते हुए कहा है — 'अपने किंकर के प्रति कोई भी वीर पुरुष नहीं रहते' ('नो वन इज़ ए हीरो टु हिज़ वाले') क्योंकि नौकर अपने मालिक को हर समय और हर हालत में देखता है जिससे गुण और दोष दोनों ही प्रकट हो जाते हैं और उसकी श्रद्धा उतनी नहीं रहती जितनी दूर से देखनेवालों की रहती है ।

मैं कैसे कहूँ कि प्रेमचन्द जी में कोई दोष नहीं रहे होंगे ? मनुष्य ही थे, त्रुटियाँ अवश्य ही रही होंगी, पर मैं उन्हें नहीं जानता । प्रत्यक्ष सम्पर्क मेरा उनका बहुत ही कम रहा । दूर से ही उनको जानता हूँ और स्वभावतः उनका बहुत आदर करता हूँ । उनके व्यक्तिगत जीवन की विशेषता मुझे यही प्रतीत होती है कि विनय का भाव उनमें अत्यधिक मात्रा में मौजूद था । सम्भव है कि इसी कारण वे सामाजिक सम्बन्ध बहुत कम रख सकते थे और प्रत्यक्ष सम्पर्क से जो प्रभाव उत्पन्न किया जा सकता है, वह बहुत कम कर पाये । साथ ही वह काफ़ी साहसी पुरुष थे और समाज के बन्धनों को उन्होंने निज के जीवन में बार-बार तोड़ा । राजनीतिक लड़ाई से अधिक कठिन सामाजिक लड़ाई होती है और सामाजिक बुराइयों का सामना करने का साहस अधिक कष्टप्रद और, इसी कारण, अधिक प्रशंसनीय भी है । उनका यह आन्तरिक साहस उनके लेखों और पुस्तकों में प्रतिबिम्बित हुआ है । उन्होंने राजाओं और ग़रीबों की कथाओं को छोड़ कर साधारण नर-नारियों की कथाएँ लिखी हैं । महलों में न घूमकर झोपड़ियों में घूमे हैं । साधारण लोगों के प्रतिदिन के जीवन के भोजन और विवाह सम्बन्धी अभिलाषाओं की चर्चा की है और निम्न श्रेणी के लोगों के जीवन को समझने का संसार को मौक़ा दिया है । पौराणिक वीर पुरुषों के ही चारों तरफ मँड़राते हुए और उन्हीं की चेष्टाओं और भावनाओं में मर्यादित कल्पनाओं से अपने को पृथक कर उन्होंने वास्तविकता पर अपने विचारों और आदर्शों को केन्द्रभूत किया । हमारे साहित्य को

और हमारे समाज को उनकी यह देन बहुमूल्य है और इसके लिए उनके प्रति हमें कृतज्ञ होना चाहिए।

अवश्य ही हमारे ऐसे परतन्त्र, दरिद्र देशों में अधिकतर लोगों के जन्म से मृत्यु तक सहचर दुःख और कष्ट ही होते हैं। इस कारण यह स्वाभाविक है कि प्रेमचन्द जी के पात्र भी अपनी संसार-यात्रा में पग-पग पर कष्टों और दुःखों का सामना करें। मेरी प्रेमचन्द जी से यह शिकायत रही कि वे अपने पात्रों को ऐसा फँसा देते हैं कि फिर बाहर नहीं निकाल पाते। और अपनी आरम्भिक कहानियों में उन्होंने कितने ही पात्रों से आत्महत्या करा डाली है। मेरे ऐसा आदमी, जिसने योरोपीय साहित्य की बहुत सी कहानियाँ बाल्यावस्था में पढ़ी हों जिनमें लेखक अपने पात्रों को चाहे कितना ही फँसावे किस-न-किसी लौकिक सम्भावना के अनुकूल प्रकार से — पूर्व के हिन्दी लेखकों के तिलस्म के प्रकार से नहीं — बाहर निकाल ही लाता है, प्रेमचन्द जी का यह रूपक नहीं पसन्द कर सकता था।

शुरू में तो मुझे ऐसा ख़याल हुआ कि लेखक की लेखन-कला का यह दोष है कि वह अपने पात्र को बाहर निकाल न सके और अन्त में उसकी अभिलाषा पूरी न करा सके। पीछे मैंने अनुभव किया कि भारत के वर्तमान जीवन में यह अनिवार्य है, तथापि मुझे शिकायत बनी रही और एक बार मैंने अपनी प्राकृतिक उद्दण्डता से उनसे कहा था कि मैं अब आपकी कहानियाँ कभी न पढ़ूँगा यदि आप अपने पात्रों को केवल फँसाना जानते हैं और उनकी रक्षा न करके उनसे आत्महत्या कराते हैं। उत्तर में उन्होंने अपनी कोई सफ़ाई नहीं दी जैसा दूसरा तेता न मुझे ही उन्होंने बेवकूफ़ साबित करने कोशिश की जैसा मैं हूँ और जैसा दूसरे लेखक अवश्य करते। उन्होंने तुरन्त 'दोष' स्वीकार कर लिया और कहा कि अपने पात्रों का आगे से वह रक्षा करेंगे। मुझे खेद है कि पीछे की उनकी कहानियों के पढ़ने का मुझे मौक़ा नहीं मिला। पर मुझे मालूम हुआ है कि उन्होंने इस मामले में कुछ परिवर्तन अवश्य किया है। मैं यह तो नहीं कह सकता कि मेरे कहने से उन्होंने ऐसा किया, परन्तु मुझे सन्तोष है कि ऐसा किया गया।

प्रेमचन्द जी के समय का दर्पण उनकी पुस्तकें हैं। जिस विशेष युग से हम गुज़र रहे हैं उसे जानने और समझने में उनकी पुस्तकें सदा सहायक होंगी। भारत के इतिहास में यह युग भी विशेष युग है। पुराने और नये, पूर्व और पश्चिम का अद्‌भुत संघर्ष है, सबके मस्तिष्क डाँवाडोल हैं, समन्वय करना असम्भव हो रहा है। आगे अँधेरा देख पड़ रहा है। अनुभवसिद्धि साधनों से काम नहीं लिया जा रहा है। बड़ी-बड़ी आशाएँ और अभिलाषाएँ मँड़रा रही हैं। परम्परागत धार्मिक, आर्थिक और राजनीतिक विचारों की कड़ी समालोचना हो ही रही है। व्यक्तिगत, कौटुम्बिक और सामाजिक जीवन सब अस्त-व्यस्त हो रहा है। इस युग का जिस लेखक ने चरित्र चित्रण किया है वह अपने को अमर कर गया है। पर मैं उनकी अमरकीर्ति

से सन्तुष्ट नहीं हूँ। मुझे उनसे यह शिकायत है और रहेगी कि वे इतनी जल्दी संसार से उठ गये।

उन्होंने अपने स्वास्थ्य की चिन्ता नहीं की। स्वास्थ्य की तरफ हम अक्सर उदासीन होते हैं और इसके कारण अपनी उपयोगिता से अपने को, अपने कुटुम्ब को और अपने समाज को असमय और कुसमय वञ्चित कर देते हैं। मैं उनकी स्मृति में आज श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता हुआ उनके कुटुम्बी जन के साथ हार्दिक समवेदना प्रकट करता हूँ कि उनका अवलम्ब टूट गया, हिन्दी साहित्य के साथ दुःख प्रकट करता हूँ कि उसके भण्डार को सुशोभित करने वाला एक प्रधान पुरुष उठ गया, समाज के साथ सहानुभूति प्रकट करता हूँ कि उसका एक सेवक, सुधारक, पथ-प्रदर्शक चला गया, और सब भाइयों, बहिनों, साहित्यिकों, कार्यकर्ताओं से प्रार्थना करता हूँ कि अपना जीवन समझदारी के साथ सुसंगठित करें, इस बात का अनुभव करें कि यदि शरीर बिना आत्मा के किसी काम का नहीं है, तो आत्मा भी बिना शरीर के अपनी विभूति संसार के सामने प्रकट नहीं कर सकती और प्रेमचन्द जी की जीवनी और दुःखप्रद मृत्यु से यह शिक्षा ग्रहण करें कि आध्यात्मिक और मानसिक आकांक्षाओं की पूर्ति के साथ-साथ अपने शरीर को भी सुदृढ़ रखकर अपने को हर प्रकार से उपयोगी बनाते हुए चिरजीवी भी बनावें।

•

श्री प्रकाश

३८ | सद्गुरुशरण अवस्थी

स्मृति से विस्मृति कम उपयोगी नहीं। विश्व की सब चीज़ों की तरह स्मृति के भी दो पक्ष हैं। — एक पक्ष की उग्रता कभी-कभी दूसरे पक्ष की मृदुता से कहीं वेगवती होती है। ऐसी दशा में विस्मृति का स्पर्श साम्य स्थापित कर सकता है। यदि भुलावा हमारी सहायता न करे तो प्रेमचन्द ऐसे महान् व्यक्ति का विछोह सचमुच हृदय विदीर्ण कर दे।

प्रेमचन्द ऊँचे कलाकार ही न थे, ऊँचे मनुष्य थे। उनके निकट बैठने में अपूर्व स्वच्छ वायु आत्मा तक पहुँचती थी। उनकी सादगी में सरल चढ़ाव था। उनके मन और हृदय की सब कोठरियाँ खुली रहती थीं। उनमें झाँकने की आवश्यकता न पड़ती थी; वह स्वयं सबको झाँकती थी। बातें करते-करते उनके नेत्र खिंच जाते थे। वे किसी अमूर्त अस्पष्ट चिन्तना को आकार देने लगते थे। अथवा हृदय के भाव-विभोरता की सहसा उड़ान को ऊपर देखने लगते थे। परन्तु कभी बात करने-वाले के साथ अशिष्ट नहीं होते थे। उपेक्षा का तनिक भी आभास न मिलता था। उनकी उस मुद्रा को देखकर कभी-कभी संदेह होने लगता था कि कोई पहुँचा हुआ संत बैठा है।

मैंने जब पहिले-पहल उन्हें देखा तो वे कानपुर मारवाड़ी विद्यालय के प्रधाना-ध्यापक थे। उनकी उस समय की वेश-भूषा में और अंतिम समय की वेश-भूषा में थोड़ा अंतर था। मैं बी० ए० का विद्यार्थी था और 'प्रताप' में स्वर्गीय गणेशशंकर जी का सहकारी सम्पादक। गणेश जी ने ही मेरा परिचय उनसे कराया था। गणेश जी में और प्रेमचन्दजी में कई अंशों में साम्य था। दोनों का एक ढाँचे का एक ही लम्बान-चौड़ान का दुबला शरीर था। दोनों विभूतियों के नेत्रों में ज्योति थी। दोनों के शिरों के केश बिखरे हुए सूखे दिखाई देते थे। प्रेमचन्द जी गोरे और गणेश जी साँवले थे। एक बात में और बड़ा साम्य था। मार्ग में दोनों व्यक्ति बड़े ज़ोर से चलने के अभ्यासी थे। गणेश जी के साथ तो चलने का बहुत बार अवकाश मिला,

एक बार मुझे प्रेमचन्दजी के साथ भी चलने का अवसर मिला है। बनारस सेन्ट्रल जेल में मैं अपने छोटे भाई से मिलने जाया करता था। प्रेमचन्द जी का कांग्रेसी कैदियों से बड़ा स्नेह था। जितनी बार मैं काशी गया उनके आग्रह के अनुसार उनसे मिला। एक बार घर से अपने कार्यालय वह मेरे साथ पैदल गये। मुझे उनके साथ चलने में बड़ी कठिनाई हुई।

मेरा और प्रेमचन्द जी का अधिक परिचय हम लोगों के मित्र बाबू रघुपतिसहाय के यहाँ हुआ। वैसे हम एक-दूसरे को पत्र द्वारा काफ़ी जानते थे। एक-दूसरे के साहित्यिक जीवन से परिचित थे। परन्तु इस बार एक साथ तीन दिन तक रहने का अवकाश मिला। हम दोनों संयुक्त-प्रान्तीय हिन्दुस्तानी एकेडमी के सदस्य थे और उसी के उत्सव में सम्मिलित होने के लिए प्रयाग गये हुए थे। उनके साथ के ये दिन मेरी याद के पृष्ठों में उनके बड़प्पन का अमिट इतिहास लिख गये हैं। प्रेमचन्द के जीवन के सब स्वरूपों को ध्यानपूर्वक देखने का अवकाश मुझे मिला। रघुपतिसहाय के एक-एक चुटकुले पर प्रेमचन्द जी के क़हक़हे के बादल फूट पड़ते थे, और वह एक बार नहीं हँसते थे, एक ही बात पर बार-बार हँसते थे। उनके क़हक़हे के घोष में सारी क्लान्ति डूब जाती थी।

हम लोगों ने केवल विनोद ही नहीं किया। कला और साहित्य पर काफ़ी विचार-विनिमय हुआ। मुझे उस दिन ज्ञात हुआ कि प्रेमचन्द कला-निर्माणक ही नहीं, कला-समीक्षक भी अच्छे हैं। समीक्षा के प्रत्येक स्वरूप के लिए उन्होंने सिद्धान्त स्थिर कर रखे थे। सम्भव है, उन्होंने पश्चिम के विद्वानों की कला और समीक्षा की नई पुस्तकों को न देखा हो, परन्तु जो कुछ भी वे कहते थे उसमें निजीपन और मौलिकता थी।

सबसे विशेष बात जो प्रेमचन्द जी में देखने में आई वह उनकी आत्म-नकार की वृत्ति थी। कभी कहीं भूल से भी उनके मुँह से एक वाक्य नहीं निकला जिसमें थोड़ी भी आत्म-प्रदर्शन की बात हो। आत्म-विज्ञापन और आत्मश्लाघा तो बहुत दूर की वस्तुएँ हैं। उनके पास बैठकर बड़प्पन-जनित दूराव का आभास तक न होता था। वह हम सबसे घुल मिले और हम सबके समान ही दिखाई देते थे, और फिर भी बहुत ऊँचे थे।

प्रेमचन्द जी अपने विचारों में बड़े तार्किक और चिन्तना में बड़े हेतुवादी थे। पुरानी रूढ़ियों की बहुत मखौल उड़ाते थे। उनमें बड़ा अध्यवसाय था। चिन्तना का उनमें व्यसन था।

मानव-जीवन में उनकी गहरी पैठ थी। एक सहारे से वह बहुत समझ लेते थे। एक बात को वह खूब सुन लेते थे। उनकी सजगता का प्रवाह उबल कर विश्व के कोने-कोने में छलक चुका था। उनकी राग वृत्ति न जाने कितने स्वरूपों और कितनी घटनाओं में आबद्ध थी। उन्होंने जो कुछ भी देखा, अच्छी तरह देखा। जो कुछ भी

सुना, भलीभाँति सुना। उनकी ज्ञान-इन्द्रियों की परख में जो कुछ भी आया उसके सार तक पहुँच गये और उसे जैसे का तैसा खोल कर रख दिया। उनकी प्रतिबिम्बन-शक्ति वैसी ही निर्मल थी जैसी उनकी प्रशिक्षण-शक्ति।

हमें यहाँ उनकी कला की समीक्षा करना इष्ट नहीं। वह फुरसत की बात है। हमें तो उनका रूप अब भी दीख जाता है। उनका अट्टहास कानों में गूंज जाता है। उन्होंने सारे झटकों को सुख के मुस्कान में झेला है। सम्भव है कि कहानी और उपन्यास लेखकों में हमें प्रेमचन्द और भी आगे मिल जायँ, उनसे भी अच्छे कलाकार मिलें। परन्तु हमें प्रेमचन्द नहीं मिल सकते। कला किसी व्यक्ति में जन्म ले सकती है पर कला व्यक्ति को जन्म नहीं दे सकती।

३९ | सुदर्शन

१९०९ या '१० की बात है। मैंने कानपुर के मशहूर उर्दू मासिक पत्र 'ज़माना' में प्रेमचन्दजी[1] की पहली कहानी 'ममता' पढ़ी और पढ़ कर उछल पड़ा। भाषा का इतना चमत्कार भावों की ऐसी गहराई और कथानक का ऐसा स्वाभाविक विकास मैंने उससे पहले उर्दू में कभी न देखा था। अलिफ़-लैला, बाग़ोबहार और तलिस्मे-होशरुबा की अनदेखी और अनहोनी कहानियों से उकताया हुआ मन प्रेमचन्द की यह मानव-भावों से रँगी हुई कहानी पढ़कर मुग्ध हो गया। कई दिन तक इस कहानी को पढ़ता रहा और चटखारे लेता रहा। यहाँ तक कि लगभग सारी कहानी ज़बानी याद हो गई, और दूसरे महीने के 'ज़माना' में दूसरी कहानी निकल आई। अब इस कहानी की पाठ शुरू हुआ। इस तरह प्रेमचन्द की कहानियाँ पढ़ते हुए कई साल बीत गये। जी चाहता था ऐसे कलाकर से पत्र व्यवहार करूँ। मगर अपनी उम्र और योग्यता देख कर डर जाता था। सोचता था, जाने जवाब दें; इतने बड़े आदमी हैं, उनके पास हजारों पत्र आते होंगे। कई बार ऐसा हुआ कि पत्र लिखा और फाड़ डाला। मन में चाव था मगर हिम्मत न थी। उस ज़माने में मैंने भी क़लम चलाना शुरू कर दिया था, और लोग मेरी कहानियों को पसन्द करने लगे थे। यहाँ तक 'ज़माना' के सम्पादक मुन्शी दया नारायण निगम ने भी एक आध बार कहानी की फ़रमाइश की। मगर इस पर भी प्रेमचन्द जी को पत्र लिखते हुए डर लगता था।

❀ ❀ ❀

आख़िर १९२५ में जब मुझे सिवान आर्य समाज के वार्षिक उत्सव पर बुलाया

---

१ — इससे पहले प्रेमचन्द जी धनपतराय और नवाबराय के नाम से लिखा करते थे। चुनांचे उनकी कहानियों का एक संग्रह 'सोज़ेवतन' नवाबराय के नाम ही से प्रकाशित हुआ था।

गया तो मैंने फ़ैसला किया कि अबके प्रेमचन्द जी से भी मिलता आऊँगा। चुनांचे उत्सव की समाप्ति पर बनारस पहुँचा और वहाँ प्रेमचन्द जी के गाँव की राह ली। उस समय मन में क्या-क्या विचार उठते थे, यह कहने की बातें नहीं; मगर वहाँ पहुँच कर सारा उत्साह बैठ गया — प्रेमचन्द जी घर पर न थे। एक चिट लिखी और निराश होकर लौट आया। दूसरे दिन गंगा से नहा कर होटल आया तो देखता क्या हूँ कि मेरे कमरे के दरवाज़े पर एक साहब बैठे किसी का इंतज़ार कर रहे हैं। मुझ देखते ही वे उठ बैठे और मुस्करा कर बोले — नमस्ते।

मैंने समझा उन्हें धोखा हुआ है, जवाब दिया — आप किससे मिलना चाहते हैं?

'महाशय सुदर्शन से। मैं प्रेमचन्द हूँ।'

मैं फ़ौरन उनके पाँव की तरफ़ झुका, मगर उन्होंने मुझे गले से लगा लिया और बोले — मुझे अफ़सोस है कल आपको बेहद जहमत उठानी पड़ी। मगर भाई-जान! आज मुझे भी सज़ा मिल गई। दो घंटे से बैठा हूँ।

इस भाईजान के लफ़्ज़ ने मेरा मन मोह लिया। दस पन्द्रह मिनटों में हम दोनों बेतकल्लुफ़ हो गये। ऐसे, जैसे हम अजनबी न थे; बरसों के दोस्त थे। शाम तक बातें होती रहीं। मैंने कुरेद-कुरेद कर सवाल किए और उन्होंने खुल-खुल कर जवाब दिये। इस पहली ही मुलाक़ात में मुझ पर ज़ाहिर हो गया कि जो इनके मनमें है वही मुँह पर है। वह कोई बात छिपा कर नहीं रखते। यह इनके स्वभाव में नहीं है।

मैंने पूछा — आपने नवाबराय नाम क्यों छोड़ दिया?

हँसकर बोले — नवाब वह होता है जिसके पास कोई मुल्क भी हो। हमारे पास मुल्क कहाँ?

'बे-मुल्क नवाब भी होते है।'

'यह कहानी का नाम हो जाय तो बुरा नहीं, मगर अपने लिए यह नाम घमंड-पूर्ण है। चार पैसे पास नहीं और नाम नवाबराय। इस नवाबी से प्रेम भला जिसमें ठण्डक भी है, सन्तोष भी है।'

यह कह कर उन्होंने बड़े ज़ोर का क़हक़हा लगाया और बात उड़ा दी। उनका वह खुले दिल का क़हक़हा और घनी मूछों में से बाहर झाँकती हुई मुस्कराहट आज भी याद आती है तो कलेजे पर छुरियाँ सी चल जाती हैं, कि वह दिन कहाँ चला गया?

❀ ❀ ❀

सन् १९२७।

मैंने लिखा — मेरी कहानियों का एक संग्रह 'बहारिस्तान' छपने वाला है। मेरी इच्छा है कि उसमें आपकी भूमिका रहे। मगर डरता हूँ कि कोई मसलेहत आपके क़लम को न पकड़ ले।

प्रेमचन्द जी ने जवाब दिया — आज़ाद-रो आदमी हूँ, मसलेहतों का गुलाम नहीं। आपकी कहानियों पर दीबाचा लिखने में मुझे क्या एतराज़ हो सकता है? हम भी एक दूसरे के काम न आयेंगे तो और कौन आयेगा?

इसके बाद उन्होंने मेरी किताब पर भूमिका लिखी और मेरी कहानियों की दिल खोल कर प्रशंसा की। इस घटना में उन साहित्यिकों के लिए एक शिक्षा है जो किसी दूसरे साहित्यसेवी की प्रशंसा में दो शब्द कहते हुए भी समझते हैं कि इसमें उनकी शान मैली हो जायगी। प्रेमचन्द जी में यह बात न थी। वह जिसको अच्छा समझते थे उसकी प्रशंसा करते थे। इतना ही नहीं, वे अपने लेखकों का उत्साह बढ़ाना भी अपना कर्तव्य समझते थे। चुनांचे कई लेखक जो आज हिन्दी में काफ़ी मशहूर हैं सबसे पहले प्रेमचन्द जी की उँगली पकड़ कर साहित्य संसार में दाखिल हुए थे।

❀ ❀ ❀

सन् १९२८ में जब मैं कानपुर में नौकर हो गया और कहानियाँ लिखने में कम समय देने लगा तो उन्होंने लखनऊ से मुझे एक कड़ा पत्र लिखा। वह पत्र न था इबरत का ताज़याना था। शब्द ठीक ये न थे पर भाव कुछ इसी तरह का था —

'मैं तो समझता था आप फारग़-उल-बाल होकर अदब की ज़्यादा ख़िदमत कर सकेंगे, मगर मेरा ख़याल ग़लत निकला। अब महीनों गुज़र जाते हैं और आपका कोई क़िस्सा किसी अखबार में नज़र नहीं आता। चार नहीं दो सही, दो नहीं एक सही, लेकिन कुछ-न-कुछ तो हर महीने लिखते रहिए। इससे तो वह तङ्गदस्ती ही अच्छी थी जो आपसे कुछ-न-कुछ लिखवा लेती थी।'

मगर जब मैंने मिल कर अपनी हालत का बयान किया तो नरम पड़ गये। मैंने कहा — कहिये तो नौकरी छोड़ दूँ। फौरन बोले — यह हिमाक़त न कर बैठना वरना मुझे कोसोगे। हिन्दी प्रकाशकों में इतना दम कहाँ जो किसी लेखक को खाने पीने की तरफ़ से बेनयाज़ कर दें। उसकी बड़ी ख्वाहिश थी कि दो चार लेखक मिल कर प्रकाशन का काम साझे में करें। मगर मौत ने मुहलत न दी।

❀ ❀ ❀

उनसे अन्तिम भेंट मार्च १९३४ में हुई।

उस वक़्त मुझे वे कुछ दुबले से नज़र आए। मगर लिखने का काम करते जाते थे। मैं जब मिलने के लिए गया, उस वक़्त साँझ हो चुकी थी। वे जब भी लिख रहे थे। मैंने कहा — आप यह अपने ऊपर नहीं, हम लोगों पर जुल्म कर रहे हैं।

हँस कर बोले — शुक्र है, हम भी किसी के ज़ालिम तो हैं!

मैंने कहा — आप कहीं हवा पानी बदलने के लिए बाहर क्यों नहीं चले जाते?

'बाहर जाने के लिए रुपया चाहिए।'

'अच्छा, ज़रा मेहनत कम किया करें।'

'मज़दूर मेहनत न करेगा तो खायगा कहाँ से?'

मगर प्रेमचन्द जी पैसे के लिए मेहनत करते थे यह कहना उनका अपमान करना है। उनके मन में मानव जाति के लिए जो संदेशा आता था वह उसे लोगों के सामने रखने के लिए लिखते थे। वरना रुपया कमाना चाहते तो इतना कमा सकते थे कि उन्हें किसी चीज़ की परवाह न रहती। लेकिन उन्होंने सदा सिद्धान्त और कला का ख़याल रखा है। रुपया उनके लिए गौण वस्तु रहा है। तकलीफ़ और सङ्कट में रह कर भी उन्होंने सेवा के महान् आदर्श को आँखों से ओझल नहीं होने दिया, यह उनके महापुरुष होने का द्योतक है।

मैंने कहा — आप इन अखबारों को बन्द क्यों नहीं कर देते, अभी तक घाटे में जा रहे हैं।

प्रेमचन्द जी ने जवाब दिया — आज आप कहते हैं अखबार बन्द कर दो। कल कहेंगे किताबें लिखना छोड़ दो। मैं आपका कहा कहाँ तक मानूं।

मुझे अपनी ज़बान बन्द होती मालूम होने लगी मगर मैं हिम्मत न हारा, कहा — आखिर यह तपस्या आप ही क्यों करें ?

प्रेमचन्द जी का मुस्कराता हुआ चेहरा और भी मुस्कराने लगा, बोले — आप जिसे तपस्या कहते हैं मैं उसे भोग समझता हूँ। तपस्या जब हो जब तकलीफ़ हो। मुझे तो इसमें बराबर मज़ा आता है और जिसमें आदमी को मज़ा मिले वह भोग है।

मेरी आँखों के सामने से परदा हट गया। प्रेमचन्द ऐसे बड़े, ऐसे ऊँचे, निःस्वार्थ मेरी आँखों में कभी न थे। मेरा जी चाहा उनके पैरों पर गिर पड़ूँ, मगर ....

प्रेमचन्दजी ने फिर कहा — भाईजान ! सिर्फ़ रुपया कमाना ही आदमी का उद्देश्य नहीं है। मनुष्यत्व को ऊपर उठाना और मनुष्य के मन में ऊँचा विचार पैदा करना भी उसका कर्तव्य है। अगर यह नहीं है तो आदमी और पशु दोनों बराबर हैं। और जिसके हाथ में भगवान ने क़लम और क़लम में तासीर दी है उसका कर्तव्य तो और भी बढ़ जाता है।

आज ये शब्द याद आते हैं तो दिल पर हथौड़ा-सा लगता है कि हिन्दी साहित्य ने कितना ऊँचे दरजे का कलाकार खो दिया।

❀ ❀ ❀

लेकिन शोक इस बात का है कि हिन्दीवालों ने अभी तक अपने इतने महान् कलाकार को पूरे तौर पर नहीं पहचाना। वरना असम्भव था कि आज प्रेमचन्द की किताबों की घर-घर पूजा न होने लगती। प्रेमचन्द साधारण कलाकार न थे; भाव और भाषा के बादशाह थे। मुरदा से मुरदा विषय को भी लेते थे तो उसमें जान डाल देते थे। उनकी रचना पढ़ने के लिए हमको अपने ऊपर ज़ोर नहीं देना पड़ता। हम उसमें बहते चले जाते हैं। हर कहानी पढ़कर हमको मालूम होता है कि हमने जीवन का कोई नूतन चित्र देखा है। हमें अपने दिल की आँखें खुलती मालूम होती हैं। हमें मालूम होता है, किसी ने हमारे मन के तारों पर उँगली रख दी है, किसी

ने हमारा दिल पकड़ लिया है, किसी ने हमें नया रास्ता दिखा दिया है। जो चित्र और चरित्र हम रोज़ देखते हैं और जिनमें हमें कोई विशेष बात नहीं नज़र आती, प्रेमचन्द जब उन पर से परदा उठा कर हमें भीतरी रहस्य दिखाते हैं तो वहाँ हमें ऐसी मोहिनी नज़र आती है कि मन नाचने लगता है। ग्राम-जीवन के जो जीते जागते और भावपूर्ण चित्र उन्होंने हमारे सामने रखे हैं उन्हें भारतवर्ष सदियों तक याद रखेगा और सिर धुनेगा।

* * *

अभी प्रेमचन्द के मरने के दिन न थे। अभी वह बहुत कुछ कहना चाहते थे और हम बहुत कुछ सुनना चाहते थे। प्रेम, पवित्रता और प्रकाश की व्याख्या जो वे करना चाहते थे वह अभी तक पूरी न हुई थी। जीवन और जगत का जो संगीत उन्होंने शुरू किया था वह अभी अधूरा ही था कि मौत के निर्दयी हाथों ने उनका मुँह बन्द कर दिया।

बड़े शौक से सुन रहा था ज़माना।
तुम्हीं सो गये दास्ताँ कहते कहते॥

४० | हरिभाऊ उपाध्याय

प्रेमचन्दजी से मेरा प्रथम परिचय उनकी कहानियों द्वारा हुआ। 'पंच-परमेश्वर' नामक उनकी कहानी मुझे बहुत पसन्द आई थी। उनसे मिलने का इत्तफ़ाक तो कुल दो बार हुआ, एक बार लखनऊ में और दूसरी बार अभी नागपुर में। उनकी कहानियाँ और उपन्यास बोलते थे कि प्रेमचन्दजी मामूली लेखक नहीं हैं। वे कुछ कहानियाँ और उपन्यास ही लिख जाने के लिए पैदा नहीं हुए हैं, बल्कि उनका जन्म हिन्दी संसार को कुछ दे जाने के लिए है। जो साहित्य और समाज को कुछ देता और दे जाता है, वही वास्तव में सच्चा साहित्य-सेवी और समाज-सेवी कहला सकता है। बुद्धि के द्वारा मनुष्य जो कुछ समाज को देता है, उसका उतना मूल्य नहीं है, जितना उस वस्तु का जो वह अपने जीवन के द्वारा अपनी सहानुभूति और समवेदना के द्वारा भिन्न-भिन्न रूपों में देता है। प्रेमचन्दजी ने अपने और अपने भिन्न-भिन्न पात्रों के जीवन के द्वारा हिन्दी समाज को जो कुछ दिया है, वह वे हर्गिज न दे सकते थे, अगर उनमें भारत के दीन-दुखियों के प्रति, ग्रामवासी किसान और मज़दूरों के प्रति, गुलामी से पीड़ित अपने देशवासियों के प्रति व्यापक और गहरी सहानुभूति न होती। केवल बुद्धि के व्यापार से ऐसे वे सजीव पात्रों की सृष्टि नहीं कर सकते थे। भले ही कथानक की रचना करने में और विवाद तथा विश्लेषण में उनके बुद्धि-कौशल ने काम किया हो, परन्तु वह सब फीका और निर्जीव होता, यदि उनके हृदय का जीवन-तत्व उन पात्रों के द्वारा सजीव न हुआ होता।

ऐसे महान् लेखक और, शुद्ध अर्थ में, साहित्य-सेवी और कलाकार के दर्शन की आकांक्षा रहा ही करती थी। एक बार लखनऊ में 'माधुरी-कार्यालय' में उनसे साक्षात्कार हुआ। परिचय कराने पर भी यह विश्वास नहीं होता था कि सामने-वाला व्यक्ति जिसे आँख खोलकर देखने में भी संकोच मालूम होता है, जिसके चेहरे पर जाहिरा कोई महानता के लक्षण नहीं दिखाई देते हैं, सचमुच प्रेमचन्द ही हैं। मेरे मन में यह आश्चर्य हुआ कि आँख मूंद कर बैठने वाला यह लेखक मनुष्य

के जीवन का अवलोकन इतनी गहराई के साथ कैसे करता होगा; परन्तु उसी समय मैंने अपनी ग़लती महसूस की, कि सचमुच जो बाहर से आँख मूंद लेता है, वही अन्दर से और अन्दर का बहुत कुछ देख सकता है। नागपुर में भी कुशल समाचार के अलावा बातचीत का कोई मौक़ा नहीं मिला। उस समय उनके चेहरे में एक स्फूर्ति ज़रूर मालूम होती थी।

मुझे उनका विशेष परिचय तो उनकी पुस्तकों द्वारा ही हुआ है। उनके प्रेमाश्रम की समालोचना 'हिन्दी-नवजीवन' में और रंगभूमि की विस्तृत समालोचना 'मालव-मयूर' में मैंने की थी। 'मालव-मयूर' वाली समालोचना कई मित्रों को पसन्द आयी थी। असल में मैं समालोचक नहीं हूँ। गुण-ग्राहक और प्रशंसक की पंगत में बिठाया जा सकता हूँ। 'रंगभूमि' का 'सूरदास' मेरे हृदय में बैठ गया था। मुझे ऐसा प्रतीत हुआ, मानो वह हिन्दुस्तान के स्वराज्य की कुंजी लेकर आया है। उसे पाकर ऐसा लगता था, मानो कोई खोई हुई चीज़ मिल गई हो। मैंने उनका 'कर्मभूमि' और 'गोदान' भी पढ़ा है। परन्तु दोनों 'रंगभूमि' की होड़ के नहीं जँचे। 'गोदान' मैंने उनकी अन्तिम कृति के योग्य आदर के साथ पढ़ा पर मेरे हृदय को उसमें वह वस्तु न मिली जो 'रंगभूमि' में मिली थी। 'रंगभूमि' में एक ग़रीब अन्धे भिखारी ने अपने त्याग और आत्मबल के द्वारा एक विलक्षण जागृति और आन्दोलन खड़ा कर दिया था। आत्मबल क्या कर सकता है, इसका वह नमूना था। 'गोदान' में ऐसा कोई धीरोदात्त पात्र नहीं मिलता। उनके दूसरे उपन्यासों से यह जुदे प्रकार का है, यह यथार्थवादी है। इसका सब से बड़ा मूल्य यह है कि यह दीन-हीन और प्रपीड़ित देहातियों के दुःखमय जीवन की ओर शिक्षित कहलानेवाले लोगों का ध्यान खींचता है, और उनके प्रति अपने कर्तव्य की याद दिलाता है। मिस मालती के जीवन-परिवर्तन के द्वारा यह काम प्रेमचन्दजी बड़ी ख़ूबी से करते हैं। एक ओर देहात के ग़रीबों की दुःखगाथा है तो दूसरी ओर शिक्षित, धनी-मानो लोगों के ऊपर से सुखी और सुखलोलुप जीवन, लेकिन अन्दर से दुखी और क्लेशमय जीवन का दृश्य है। दोनों चित्र-पट एक साथ चलते हैं, बीच में कहीं-कहीं उनका मेल हो जाता है, नहीं तो ऐसा मालूम होता है, मानो दो स्वतन्त्र उपन्यास लिखकर जोड़ दिये गये हों। जहाँ तक समाज की इन दो श्रेणियों के यथार्थ चित्रांकन से सम्बन्ध है, वहाँ तक 'गोदान' में प्रेमचन्दजी बहुत सफल हुए हैं। जहाँ तक वर्तमान भारतीय समाज की ज्वलन्त समस्याओं को पेश करने से सम्बन्ध है, वहाँ तक प्रेमचन्दजी 'गोदान' में ठीक-ठीक सफल हुए हैं, परन्तु उनका कोई हल किसी तत्व या व्यक्ति के रूप में उन्होंने पेश नहीं किया है। सम्भव है, वे ख़ुद दुबिधा में रहे हों, या यथार्थवादी कला के दरबार में इसकी मनाही हो। मुझे यथार्थवादी चित्रांकन से तृप्ति नहीं होती। जो कुछ समाज में है और हो रहा है, उसे हम देखते हैं और जानते भी हैं। पुस्तक में उन्हें पढ़ने और देखने से कई चित्रों का और कई

दृश्यों का एक साथ, एक जगह, सम्मिलित रूप में, अवलोकन हो जाता है और उसका कुछ विशेष परिणाम मन पर ज़रूर होता है। परन्तु सर्व-साधारण को उससे कोई मार्ग नहीं दिखाई पड़ता। वे हृदय में एक हलचल मचाकर छोड़ देते हैं। यह ज़रूरी नहीं कि वह हलचल-फलोत्पादक ही हो; परन्तु जब हम उनका कोई हल पेश करते हैं, और किसी व्यक्ति के पुरुषार्थ के द्वारा उस कठिनाई को दूर करते हैं, या इष्ट वस्तु की सिद्धि कराते हैं, तब जनता को वह चीज़ मिलती है जो सहसा उनमें अपने आस-पास नहीं मिलती। धर्म और नीति ग्रन्थों में बहुत से उच्च और उपयोगी तत्वों और साधनों का विवेचन और प्रतिपादन मिलता है परन्तु जब हम किसी राम, कृष्ण, बुद्ध वा ईसामसीह या गान्धी के जीवन में उन तत्वों को मूर्तिमन्त देखते हैं, और उनके परम पुरुषार्थ से विकट समस्याओं को हल होते और कठिनाइयों और विपदाओं को दूर होते देखते हैं, तब जन-साधारण को उन तत्वों, साधनों और पुरुषार्थ पर विश्वास होने लगता है और उनमें यह स्फूर्ति पैदा होती है कि हम भी ऐसा क्यों न करें, क्यों नहीं कर सकते? 'गोदान' में जब 'गोबर' का आरम्भिक जीवन देखते हैं, तो ऐसा मालूम होता है, कि यह आगे चलकर किसानों का कोई नेता होगा और ग्रामीणों को अपने उद्धार का मार्ग दिखायेगा। परन्तु जब उसे शहर के जीवन में पड़कर हततेज और असहाय होता हुआ देखते हैं, प्रेमचन्द जी से कुछ शिकायत होने लगती है और 'गोबर' के साथ सहानुभूति। 'मालती' ज़रूर अपने अन्तिम जीवन-क्रम के द्वारा सेवा-मार्ग की ओर संकेत करती है — शिक्षित और मध्यम वर्ग के लोगों के प्रतिनिधि के रूप में। इससे ज़रूर कुछ तसल्ली मिलती है।

प्रश्न यह है कि प्रेमचन्दजी से हिन्दी-जगत् को क्या दिया? मनुष्य अपने से अच्छी चीज़ तो जगत् को दे ही नहीं सकता। जो कुछ उसके पास होगा, उससे कम ही वह जगत् को दे सकता है, क्योंकि देने के अर्थात् अभिव्यक्ति के साधन और शक्ति मर्यादित होती है। प्रेमचन्दजी के ग्रन्थों और पात्रों से सेवामय और सत्-जीवन व्यतीत करने की अखण्ड और अमर प्रेरणा मिलती है, इसे मैं उनकी सबसे बड़ी देन मानता हूँ। सत्प्रवृत्ति और असत्प्रवृत्ति के संघर्ष की किसी भी अवस्था में वे अपने पाठक पर असत्प्रवृत्ति को इतना हावी नहीं होते देते, कि मनुष्य पतन के गर्त में सदा के लिए डूब जाय। दूसरी उनकी देन है, सरल, सुन्दर और स्पष्ट लेखन शैली। कई लोग प्रेमचन्द की भाषा को हिन्दी-हिन्दुस्तानी का नमूना मानते हैं। विचार उनके सुलझे हुए और भाषा सरल और स्पष्ट। सूक्तियाँ हृदय में बैठ जाने वाली। मुझे याद है, जब प्रेमचन्दजी ने हिन्दी लिखना शुरू किया, तो वे उर्दू की नक़ल किया करते थे। जब मैं 'सरस्वती' में काम करता था उनकी एक कहानी की हस्त-लिपि मैंने देखी थी; जिसमें एक वाक्य था — 'यह आपका बड़ा आधिक्य है'; उनका मतलब था 'यह आपकी बड़ी ज़्यादती है।' यह कहकर खूब हँसी आई थी।

वही प्रेमचन्द हिन्दी को एक उत्तम भाषा-शैली दे गये, वह कितने आनन्द और अभिमान की बात है।

एक रोज़ मैंने कुछ साहित्यिक मित्रों से पूछा — अब प्रेमचन्दजी की जगह हिन्दी में किसको कहानी-लेखक और उपन्यास-लेखक मानें। प्रेमचन्दजी का नाम आते ही, जैसे हठात् उनकी ओर अँगुली उठ जाती थी, वैसे उनके अभाव में अब किसी भी ओर सहसा उठती दिखाई नहीं देती। जब प्रेमचन्द थे, तब हम कहानी और उपन्यास-क्षेत्र में बँगला, मराठी, और गुजराती के मुक़ाबले में उनको खड़ा कर सकते थे। अब हम उनके अभाव में निष्प्रभ से जान पड़ते हैं। मगर हमें यह दिखता है कि हिन्दी के विद्यमान कहानी और उपन्यास-लेखकों की आत्मा में प्रेमचन्दजी की आत्मा अवश्य काम करती रहेगी और प्रेमचन्दजी अब पंचभौतिक बन्धनों से रहित होकर अधिक स्वतन्त्रता और बल के साथ अपना जीवन-कार्य करते रहेंगे।

•

४१ | हरिकृष्ण 'प्रेमी'

स्वर्गीय मुंशी प्रेमचन्द के महान स्नेहशील व्यक्तित्व को मैं आज तक अपने जीवन नभ में घनीभूत पाता हूँ। उन्हें इस संसार से विदा हुए ८ अक्तूबर को १९ वर्ष बीतेंगे, किन्तु जान पड़ता है मानों वह आज भी मेरे सामने बैठे हुए हैं।

मैंने अपने पिता जी की मूंछों और मुंशी प्रेमचन्द जी की सघन सुदीर्घ मूंछों में साम्य पाया था और इसी कारण उनके प्रथम दर्शन में मुझे एक डर सा लगा, लेकिन कुछ क्षणों में ही संकोच और भय दूर हो गया। मैंने अपने पिताजी को प्रेमचन्द जी के समान अट्टहास करते कभी देखा नहीं और न उनके समान स्नेह भरी दृष्टि ही मैं अपने पिता से कभी पा सका — अतः प्रेमचन्द जी में मुझे मेरा अभिलषित पिता प्राप्त हो गया। मुंशीजी का सामीप्य मुझे कुछ काल के लिए ही मिला था, किन्तु उन सुनहरी घड़ियों की स्मृति मेरे जीवन को आज भी पुलकित करती आ रही है।

प्रकृति का नियम है कि दो दुखी दिल एक अदृश्य स्नेहालिंगन में आबद्ध हो जाते हैं। मेरे और मुंशीजी के जीवन की अनेक बातें, दोनों के दुर्भाग्य से आश्चर्यजनक साम्य रखती हैं। मुंशी जी सी प्रतिभा मुझे मिली है ऐसा दावा करना मुझे नहीं सुहाता, लेकिन उनकी भाँति ही दुख और विपत्तियों के भंवर में जीवन नौका को खेते रहने का अभ्यास मुझे अवश्य हो गया है और यह बल मैं बहुत कुछ उनसे पा सका हूँ।

वह आयु में मुझ से २७ वर्ष बड़े थे, किन्तु जब भी उनके समीप बैठने का सुअवसर प्राप्त हुआ, उन्होंने मुझे अपनी बुजुर्गी से अभिभूत करने का यत्न नहीं किया। उनकी स्नेह से डबडबायी आँखों से आर्शीवाद की वर्षा होती तो मैंने प्रायः देखी, लेकिन बड़प्पन का रोग उनमें चमकते नहीं देखा। मेरा स्वभाव कुछ ऐसा खराब है कि जो अपने-आप को बड़ा प्रदर्शित करते हैं, उनसे मैं दूर भागता हूँ। मुशीजी में बड़प्पन का मान बुजुर्गी का अलगाव जरा भी न था। अतः चुम्बक की

भाँति उन्होंने मुझे खींच लिया था। परिस्थितियों के कठोर हाथों ने हम दोनों को अलग न कर दिया होता एवं काल ने उन्हें उठा न लिया होता तो कौन जानता है मैं सचमुच ही उनके दोनों पुत्रों का बड़ा भाई न बन बैठता।

मुंशी प्रेमचन्द के प्रारम्भिक जीवन के कुछ ऐसे अभाव थे जिन्होंने उन्हें एक अमर वेदना प्रदान की थी। एक तो उनकी माता का उनकी ८ वर्ष की आयु में स्वर्गवास हो जाना एवं उनके स्थान पर सौतेली माँ का आगमन। दूसरा उनका विवाह, मरजी के विरुद्ध, एक कुरूप और कर्कशा नारी से हो जाना। तीसरा गरीबी का गला-घोंटू वातावरण। मुंशी जी के सौभाग्य से उनकी पत्नी अपने पति के साथ गरीबी के कष्ट सहने में मजा न ले सकीं। वह वापस अपने गाँव चली गयीं। मुंशी जी की तकदीर ने कुछ और जोर मारा और उन्हें शिवरानी जैसी सहचरी प्राप्त हो गयी जिनका पति बचपन में ही दुनिया से रूठ कर चला गया था। मुंशीजी ने शिवरानी जी में न केवल पत्नी को पाया, बल्कि माता को भी पा लिया। अविरत साहित्य सृजन में निमग्न रहने वाले साहित्यकार की पत्नी यदि केवल पत्नी बनकर रहे, सदा बराबरी का दावा करे, अपनी उपेक्षा बरदाश्त न कर सके, गरीबी में मज़ा न ले सके, चाहे कि पति उसी का मजनू बना रहे और माता की भाँति उसकी देख-भाल न करे तो वह न तो अच्छा साहित्यकार बनने पाए न अच्छा पति ही। मुंशीजी यदि पहली पत्नी के साथ ही रहते तो परिणाम क्या होता, इसकी कल्पना भी दुखद है। अपनी पहली पत्नी के चले जाने पर मुंशीजी ने अपने मित्र श्री मुंशी दयानारायण निगम को लिखा था —

'बरादरम, अपनी बीती किससे कहूँ, जब्त किए-किए कोफ्त हो रही है। ज्यों-त्यों करके एक अशरा काटा था कि खानगी तरद्दुदात का तांता बँधा। बीबी साहिबा ने जिद पकड़ी कि यहाँ न रहूँगी, मैके जाऊँगी। मेरे पास रुपया न था, लाचार खेत का मुनाफा वसूल किया, उनकी रुखसती की तैयारी की, वह रो-धोकर चली गयीं। मैंने पहुँचाना भी पसन्द न किया। आज उनको गये ८ रोज़ हो गये, खत न पत्र। मैं उनसे पहले हो नाखुश था। अब तो सूरत से बेजार हूँ, गालबन अब की उनकी विदाई दायमी साहिब हो। मैं बिना बीबी के रहूँगा।'

मुंशीजी के जीवन के इस अध्याय ने मुझे और भी उनके निकट पहुँचाया, क्योंकि ये दुखदायी उपकरण मुझे भी प्राप्त हुए। मैंने अपनी माँ को, जब मैं ढाई वर्ष का था, गँवा दिया और उसके ६-७ वर्ष बाद अचानक मुझ पर द्रवित हो मुझे पालने के लिए पिताजी एक नई माँ ले आए, जो उमर में मुझसे ४ या ५ वर्ष बड़ी थीं, मानों वे मेरी बड़ी बहन हों, और जब मैं १० वर्ष का हुआ तब मुझे भी एक धनी सेठ की लड़की से ब्याह दिया गया, जिसे मैं कुरूप और कर्कश कहने का साहस नहीं कर सकता, क्योंकि वह पतिव्रता की भाँति मुझे निभाए जा रही है। हाँ, इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि हम दोनों के स्वरों में मेल नहीं हो पाया। मैंने मुंशी प्रेमचन्द जी को जब

अपने जीवन की बातें बतलायीं तब बोले — भई, माँ का बदलना तो तुम्हारे हाथ में है नहीं, लेकिन पत्नी को तो बदल ही सकते हो।

मैंने कहा — मेरी पत्नी मामूली स्त्री नहीं है। उसकी वाणी की कड़क से हिमालय हिल उठता है। किसकी मजाल जो मेरे घर में उसका स्थान ले। उसमें रूप यद्यपि पूर्णतः महाकाली का नहीं है, लेकिन वाणी और साहस तो उससे कम नहीं।

प्रेमचन्द जी बोले — तब तो तुम्हारा मर्ज ला-इलाज है।

मैंने कहा — दर्द का हद से गुजरना है दवा हो :जाना, इस कथन के अनुसार मेरा इलाज हो चुका है। हम दोनों ने समझ लिया है कि एक दूसरे से छुटकारा नहीं। वैसे सच पूछा जाय तो आप ने मेरी पत्नी की सीरत बदल डाली है।

प्रेमचन्द जी ने साश्चर्य पूछा — मैंने ?

मैंने कहा — जी हाँ, माँ के घर से जब मेरी पत्नी आयी थी तब उसके लिए काला अक्षर भैंस बराबर था, लेकिन मेरी सोहबत से उसे अक्षर ज्ञान हो गया है और आपकी कहानियाँ और उपन्यास वह पढ़ लेती है। जबसे 'ग़बन' उसने पढ़ा है, उसका स्वभाव ही बदल गया। अपनी नई-नई पत्नी को चन्द्रहार पहनाने के लिए रमानाथ को गबन करना पड़ा है और बाद में फरारी की हालत में घोर कष्ट सहने पड़े। यह हाल पढ़कर मेरी पत्नी ऐसी डर गयी है कि जब कभी मुझे पैसे की तङ्गी होती है तब वह तुरन्त अपना कोई ज़ेवर उतार कर देती है और कहती है, ज़ेवर क्या आदमी से बड़ा है।

मुंशीजी बोले — गनीमत है, तुम्हारा दाम्पत्य जीवन सुखी तो हुआ। प्रेम से नहीं, डर से ही सही।

मैंने कहा — इस में केवल डर का ही हाथ नहीं, पचास प्रतिशत प्रेम का भी है।

मुंशीजी हँसे, बोले — प्रेम में भी परसेंटेज रहता है ?

मैंने कहा — रहता क्यों नहीं, प्यार जब इकतरफा हो तब उसे पचास प्रतिशत ही कहना चाहिए। मैं समझता हूँ, आज तक उसी ने मुझे चाहा है मैंने शायद नहीं।

मुंशीजी बोले — मैं तुम्हारे मधुर विश्वास को तोड़ना नहीं चाहता, लेकिन फिर भी कहता हूँ, हो सकता है कि यह प्यार न हो केवल हिन्दू नारी के संस्कार हों। कुछ भी हो, मुझे खुशी है कि तुम दोनों ने अपने आपको एडजस्ट कर लिया। फिर कुछ देर चुप रहकर पूछा, लेकिन, तुम पर मेरे किसी उपन्यास ने कोई असर नहीं किया ?

मैंने कहा — आपकी कहानियों एवं उपन्यासों ने मेरी आँखों का इतना पानी पिया है कि क्या बताऊँ। आप ऐसी सम्वेदना के साथ पात्रों का चित्रण करते हैं कि पढ़नेवाला भी उनमें तदात्मता का अनुभव करता है। उनके दुखों से दुखी उनकी व्यथा से व्यथित हो उठता है। मुझे तो आपने बरबाद ही कर डाला।

मुंशीजी बोले — मैंने तुम्हें बरबाद कर डाला। कहते क्या हो ?

मैंने कहा — दया दृष्टि से मारनेवाले अपनी करतूत कब जान पाते हैं। मैं अच्छा खासा कालेज का विद्यार्थी था, कवि थोड़ा हो गया था, पागलपन की सीमा तक पहुँच चला था, फिर भी पिताजी की 'इन्वेस्टमेंट' (पढ़ाई में लगायी गयी पूंजी) को बरबाद नहीं करना चाहता था, न उनकी आशाओं पर पानी फेरना चाहता था। कविता पर जब्त करके कम-से-कम ग्रेजुएट तो हो ही जाता, लेकिन एक रात आप ने आकर सब चौपट कर दिया।

मुंशीजी ने पूछा — मैं कब आया उस वक्त तुम्हारी जिन्दगी में ?

मैंने कहा — आप आए अपनी एक कहानी में बैठकर। मैं कहानी पढ़ने बैठ गया। उसके एक वाक्य ने मेरी भावुक हृदय को घायल कर दिया। मैं रात भर तड़पता रहा और सुबह कविता लिखने बैठ गया। लिखता ही रहा जान भी न पाया कि परीक्षा का समय कब आया, कब चला गया और तब मैंने कालेज छोड़ दिया। अब आप बताइए, आप ने मुझे बरबाद किया या नहीं ? मुंशीजी ने अट्टहास से कमरा गुंजा दिया। हँसकर बोले — प्रेमी जी, धन्यवाद दो मुझे कि तुम नौकरी की जहमत से बचे, नहीं तो तुम्हें भी मेरी तरह छद्मनाम का सहारा लेना पड़ता। अंगरेज सरकार की नौकरी करके क्या कोई अपनी आत्मा की बात कर सकता है ? तुम्हारी जबान पर ताले पड़ जाते।

आज उनके कथन के इस मर्म को मैं समझ पाया हूँ, जबकि उनका जीवन प्रकाश में आ रहा है। प्रारम्भ में प्रेमचन्द अध्यापक थे। असली नाम धनपतराय था और उनके स्वभाव में न जाने क्या नवाबी देखी कि उनके घर के लोग उन्हें नवाबराय भी कहने लगे। अध्यापकी के पद पर रहकर उन्होंने कुछ रचनाएँ धनपतराय के नाम से छपवायीं। फिर नवाबराय के नाम से छपवाने लगे, लेकिन नवाबराय पर शासन की टेढ़ी नज़र पड़ने पर उन्होंने इस नाम को दफना कर प्रेमचन्द नाम रखा। इस सम्बन्ध में उन्होंने अपने मित्र निगम साहब को लिखा था—

'नवाब राय तो कुछ दिनों के लिए जहान से गये। दुबारा याददहानी हुई है कि तुमने मुआहिदा में गो अखबारी मज़ामीन नहीं लिखे, मगर मंशा हर किस्म की तहरीर से था। गोया मैं लेख किसी उनवान पर लिखूं, ख्वाह वह हाथी दाँत पर क्यों न हो, मुझे पहले उसे जनाब कलक्टर साहब की खिदमत में पेश करना पड़ेगा और मुझे छठे-छमाहे लिखना नहीं, यह तो रोज़ का धन्धा ठहरा। हर माह एक मजमून साहब बहादुर की खिदमत में पहुँचे तो वह यह समझेंगे कि मैं अपने फरायज़ में खयानत करता हूँ। सिर पर और काम थोपा जायगा। इसीलिए नवाबराय मरहूम हुए। उनके जांनशीन कोई और साहब होंगे।'

मुंशी प्रेमचन्द ही नवाबराय के जांनशीन हुए और ऐसे हुए कि अपने पूर्वज धनपतराय और नवाबराय को उन्होंने मार ही डाला।

मुंशी प्रेमचन्द जी स्वभाव से स्वतन्त्रता प्रिय थे। उन्होंने निगम साहब को एक पत्र में लिखा था —

'मैं आजिज हूँ मातहती से, ऐसा काम करना चाहता हूँ, जिसमें बजुज मेरी तबियत के और किसी का तकाजा न हो। जी में आए तो रात दिन काम करता रहूँ और जी चाहे तो न करूँ — मगर यह सिर्फ मालिकाना हैसियत से हो सकता है।'

मुंशी प्रेमचन्द में अपना मालिक बनने की प्रबल इच्छा थी। आखिर उन्होंने नौकरी छोड़ी और अपना सरस्वती प्रेस चालू किया। एक साहित्यिक मित्र और एक रिश्तेदार को हिस्सेदार बनाया था, किन्तु प्रेस को नुकसान देने वाला गुनाहे-बेलुत्फ़ समझ मित्र और नातेदार भागीदारी से भागे। ठीक प्रेमचन्द जी की तरह ही मैंने भी मालिकाना तबियत पायी है — और उन्हीं की तरह मैंने एक साहित्यिक मित्र, एक रिश्तेदार एवं अपनी पत्नी के जेवरों को भागीदार बनाकर लाहौर में प्रेस प्रारम्भ किया था। प्रेस में नुकसान होने पर मित्र और रिश्तेदार भागीदारी से पल्ला छुड़ाकर ऋणदाता की हैसियत बनाने का यत्न करने लगे। मुंशीजी से जब मेरी मुलाकात हुई थी तब मैं प्रेस वाला नहीं बना था। मुंशीजी प्रेस का करज पटाने के लिए बम्बई में एक फिल्म कम्पनी में गये थे और मैं प्रेस लगाने के लिए कुछ पैसा कमाने के लिए फिल्म कम्पनी में गया था। अकस्मात् ऐसा योग बना कि हम दोनों हिन्दूकालोनी दादर में एक ही मकान के दो फ्लैटों में बसे। पड़ोसी बनने पर एक दूसरे को समझने का अच्छा मौका मिला। मैं तो ऐसा महत्वपूर्ण प्राणी नहीं कि जिसे समझने की मुंशीजी को जरूरत थी, लेकिन मैं उन्हें बहुत ऊँचा साहित्यकार मानता हूँ, अतः मुझे तो उनका सामीप्य एक वरदान ही था। मैंने बहुत झिझकते हुए अपना 'रक्षाबन्धन' नाटक उन्हें भेंट किया। संकोचवश कभी पूछा भी नहीं कि उन्होंने उसे पढ़ा या नहीं, और पढ़ा तो उन्हें कैसा जँचा। मेरी प्रसन्नता का तब कोई ठिकाना नहीं रहा जब उनकी मृत्यु के पश्चात् एक साहित्यिक महारथी ने उनका एक पत्र प्रकाशित कराया, जिसमें उन्होंने लिखा था — 'प्रेमीजी में नाटक लिखने की असाधारण प्रतिभा है।' इस एक वाक्य ने मुझे कितना आत्मविश्वास प्रदान किया, इसे मैं ही जानता हूँ। मुंशीजी सदा ही नये लेखकों को प्रोत्साहित करते रहे। मुझे याद है, जब श्री उपेन्द्रनाथ अश्क उर्दू के क्षेत्र में टक्करें खाकर मेरे पास रहकर हिन्दी भाषा की साधना कर रहे थे, तब मुंशीजी ने भी उन्हें बहुत सहारा दिया था। अनेक साहित्यकार ऐसे भी देखे गये हैं, जो उठती हुई प्रतिभाओं को अपना भावी प्रतिद्वन्द्वी समझकर उनसे ईर्ष्या करते हैं, लेकिन मुंशीजी ने उन्हें सदा ही गले लगाया; उन्हें मार्ग दिखाया। श्री जैनेन्द्रकुमार को उन्होंने कितना बढ़ावा दिया, यह हिन्दी जगत जानता है।

मैंने मुंशी प्रेमचंद को विश्वास करने में अद्भुत पाया। वह स्वतंत्र रहना चाहते

थे, अतः अपने साहित्य के प्रकाशन के लिए उन्होंने सरस्वती प्रेस की स्थापना की थी, किन्तु साहित्यकार क्या सफल व्यवसायी बन सका है ? हमने ऐसे लोग देखे हैं जो कम्पोज़ीटर से प्रेस के मालिक और फिर लखपती भी बन गए हैं, लेकिन साहित्यकार तो प्रायः व्यापार में पड़कर परेशान ही हुआ है। मुंशीजी जब बम्बई में मेरे पड़ोसी थे तब मैंने उनसे पूछा था — 'आप किसलिए फिल्म कम्पनी में आ फंसे।' वह बोले — 'क्या करूँ ? प्रेस के कारण कुछ करज हो गया है, यहाँ से कुछ पैसा मिल जायगा तो वह अदा कर दूंगा।' उसके बाद उन्होंने मुझसे पूछा — 'लेकिन तुम क्यों अपनी उदीयमान प्रतिभा को बरबाद करने यहाँ आ गये हो ? मैंने कहा — 'जी, कुछ पैसा कमाकर प्रेस लगा लेना चाहता हूँ। मैं भी अपनी हस्ती को स्वतंत्र देखना चाहता हूँ।' वह हंसे और बोले — 'आज प्रेस में लगाने को पैसा कमाने फिल्म कम्पनी में आए हो, कल प्रेस के कारण होने वाले करज को अदा करने के लिए आओगे।'

मैंने मुंशीजी की इस चेतावनी की तरफ ध्यान नहीं दिया। मुंशीजी बनारस लौट गये और मैं भी कुछ अरसे बाद लाहौर आ पहुँचा और प्रेस लगा बैठा। प्रेमचंदजी समझते रहे मैं बम्बई हूँ।

उन्होंने मुझे बम्बई के पते पर तार दिया — 'फौरन बनारस आओ' उत्तर न पाकर उन्होंने मेरे अनन्य मित्र श्री जगन्नाथ प्रसाद मिलिंद, मेरे शुभचिन्तक श्री माखनलाल चतुर्वेदी एवं मेरे पिताजी को तार देकर मुझे बनारस पहुँचाने का आग्रह किया। आखिर प्रेमचंद जी का संदेश मुझे मिला। मैं अपने प्रेस को जमाने में व्यस्त था जा न सका, किन्तु पत्र द्वारा बुलाने का कारण पूछा, यह भी लिख दिया कि मैंने प्रेस लगा लिया है। मुंशीजी ने लिखा — 'सोचा था, तुम्हें अपनी मुसीबत में शामिल करूँ, लेकिन अब तुम खुद मुसीबत ले बैठे। मुझे डर है कि किसी दिन तुम मुझसे ही सहारा न मांगो।' और सचमुच ही एक दिन मुंशीजो की मृत्यु के बाद मैं अपने प्रेस के प्रपंचों के कारण शिवरानी देवी से आर्थिक सहायता लेने गया था। मुंशीजी ने मुझे क्यों अपने कारोबार में शामिल करना चाहा था, यह मेरे लिए आश्चर्य की बात है, क्योंकि मैं भी तो उनकी तरह व्यवसाय के अयोग्य था।

मुंशी जी का जीवन सदा ही मुसीबत और आर्थिक तंगी में रहा। उनकी आर्थिक तंगी के अनेक उदाहरण हिन्दी-जगत के सामने आ चुके हैं, मैं उन्हें दोहराना नहीं चाहता। मुझे हैरानी तो इस बात की थी कि सदा गलाघोंटू परिस्थिति में रहकर भी उन्हें कभी मैंने मोहर्रमी सूरत बनाए हुए नहीं पाया। उनके क़हक़हे तो जगत प्रसिद्ध हैं। उनकी बातचीत भी बड़ी मनोरंजक होती थी।

एक बार मेरे एक परिचित बन्धु दिल्ली से बम्बई आए। उनकी सुन्दर, सलोनी, युवती पत्नी साथ थीं। वह मुझे स्टूडियो में आकर मिले, जहाँ मेरी कहानी पर चित्र बन रहा था। सारा दिन पति-पत्नी ने बड़ी दिलचस्पी से शूटिंग देखा। संध्या समय

मेरे मित्र बोले — 'हम मुंशी प्रेमचन्द जी से मिलना चाहते हैं।' मैं उन्हें अपने साथ ले गया। मेरे मित्र को मुंशी प्रेमचन्द जी ने अपनी बैठक में बैठाया और उनकी पत्नी को शिवरानी देवी जी के पास अंदर भेज दिया। मेरे मित्र ने कुछ इधर-उधर की बातें करने के बाद पूछा — मुंशीजी, क्या भले घर की महिलाएँ फिल्मों में काम कर सकती हैं ?

मुंशीजी ने तपाक से कहा — क्यों नहीं ?

मेरे मित्र का चेहरा खिल उठा। लेकिन मुंशीजी आगे बोले — लेकिन उन्हें अपनी नाक अपने घर रख आनी होगी।

सुनकर मेरे मित्र पर बिजली गिरी। वह बोले — यदि महिला दृढ़चरित्र हो तो कोई उसका क्या बिगाड़ सकता है ?

मुंशीजी बोले — सो तो सीता रावण के यहाँ भी पवित्र रहीं, पर मेरे भाई, सीता को अग्निपरीक्षा देनी पड़ी, उसके बाद भी राम उसे घर में न रख सके।

मेरे मित्र ने स्पष्ट करना चाहा — आपका कहना है कि भद्र महिलाओं को फिल्मों में काम नहीं करना चाहिए ?

मुंशीजी ने कोई उत्तर नहीं दिया।

मित्र और उनकी रूपसी पत्नी के चले जाने पर मुंशीजी बोले — प्रेमीजी, ये अपनी पत्नी से फिल्म में अवश्य काम कराएँगे।

मैंने पूछा — आप की बात सुनकर भी ?

मुंशीजी बोले — भाई, हम लोग भी तो अपनी आत्मा की आवाज़ को अनसुनी करके फिल्मी दुनिया में बने हुए हैं। अर्थ का चक्र ऐसा ही है।

मुंशीजी के इस वाक्य में कितनी व्यथा थी, उसे मैं अनुभव कर पाया।

दूसरे दिन मुझे मालूम हुआ कि मेरे मित्र की पत्नी ने एक फिल्म कम्पनी में कांट्रेक्ट कर लिया है। मेरे मित्र की पत्नी वर्षों फिल्म कम्पनी में काम करती रहीं, लेकिन मुंशीजी अपनी लेखनी की पवित्रता की रक्षा करने के लिए फिल्मी दुनिया से भाग खड़े हुए। हिन्दी भाषा शायद कभी मुंशीजी से श्रेष्ठ कथाकार और उपन्यासकार पैदा कर सके, लेकिन उनसे श्रेष्ठ मनुष्य साहित्यकारों में पैदा होगा इसमें मुझे संदेह है।

●

२२ | कृष्णदेव प्रसाद गौड़

प्रेमचन्द का नाम आते ही एक विचित्र व्यक्ति का चित्र आँखों के सामने आ जाता है। छरहरा, गोरा बदन, मूंछें बड़े होने की होड़ करती हुई, व चेहरे पर सादगी की मुहर और बुद्धिमानी की झलक जिसकी विशेषता थी।

प्रेमचन्द से मेरी पहली भेंट स्वर्गीय रामदास गौड़ के घर पर हुई थी यहीं परस्पर परिचय भी हुआ था। यों तो वह बनारस के ही निकट के रहने वाले थे किन्तु नौकरी के कारण बाहर ही बाहर रहा करते थे। नौकरी छोड़ने के बाद जब वह यहाँ आये तब से बराबर शहर में ही रहने लगे। केवल बीच में वह माधुरी का सम्पादन करने लखनऊ चले गये थे। आने के कुछ महीनों बाद उनका पहला उपन्यास सेवा-सदन प्रकाशित हुआ। इस समय तक उनकी ख्याति उर्दू के कहानी-लेखकों में अच्छी हो गयी थी। मेरे कालेज में उनके दोनों लड़के पढ़ते थे इस कारण प्रेमचन्द से घनिष्ठता बढ़ती गयी। ३-४ साल तक वह मेरे पड़ोसी थे और नित्य प्रातः वह, प्रसाद जी तथा मैं निकट के बेनिया बाग में टहला करते थे। लगभग एक घण्टे हम लोग चक्कर लगाया करते थे। इस बीच राजनीतिक, सामाजिक, साहित्यिक बातें होती थीं। बातों के बीच-बीच वह दो सेकेण्ड के लिए खड़े हो जाया करते थे और अट्टहास किया करते थे जैसे वाक्यों के पश्चात् पूर्ण विराम होता है उसी प्रकार बातों के बाद उनका अट्टहास होता था। इधर-उधर जो लोग टहलते थे उनकी दृष्टि इस ओर खिंच जाती थी। एक बार की घटना है कि हम तीनों टहलने जा रहे थे, कोई बात छिड़ी और प्रेमचन्द ने ज़ोरों से क़हक़हा लगाया। सामने से दो महिलाएँ आ रही थीं। एक युवती थी और दुसरी वयस्क, सम्भवतः युवती की माता। वह लोग भी नित्य टहलने आया करती थीं। उन्होंने समझा यह हंसी हम लोगों पर हो रही है। विचित्र दृष्टि से दोनों ने हम लोगों की ओर देखा और दूसरे दिन से टहलने आना छोड़ दिया। इस अट्टहास की एक और मनोरंजक घटना है। प्रसाद जी के यहाँ एक कवि ठहरे हुए थे। टहलने के पश्चात् प्रसाद जी हम लोगों को ले

गये कि उन्हीं के यहाँ चाय-पानी हो। उनका परिचय प्रसाद जी ने कराया यद्यपि नाम से हम लोग सभी पहले से परिचित थे। प्रसाद खाने के शौकीन थे और उन्होंने मिठाई, नमकीन अनेक ढंग की बनवा रखी थीं। उनमें गरी की बर्फी भी थी। कवि महोदय ने उसका स्पर्श नहीं किया। प्रसाद जी बोल उठे मैंने इसे बड़ी विधि से बनाया है। इसे खाइए। कवि महोदय ने कहा कि गरी की बरफी से जुकाम हो जाने की आशंका है। यह वाक्य समाप्त हुआ ही था कि प्रेमचन्द बड़े ज़ोर से हँस पड़े। दूसरे दिन सबेरे टहलते समय प्रसाद जी ने प्रेमचन्द से कहा, आपका हँसना कवि महोदय को बुरा लगा। वह कहते थे कि युवकों की भावनाओं की कद्र बड़े लोग नहीं करते। इतना सुनते ही प्रेमचन्द फिर हंसे उसी प्रकार। और बोले, भाई हम तो मजबूर हैं। ऐसी जुकाम की बातों पर हंसी न आये तो क्या हो?

आरंभिक जीवन ग़रीबी में बीता था इस कारण उदारता उनके जीवन का अंग हो गयी थी। कथाकार, कवि, नाटककार, लेखक बहुधा उनके यहाँ आते थे, ठहरते थे, खाते थे और चलते समय उनसे कहते थे मेरे पास किराये के पैसे नहीं हैं और वह भी ले जाते थे। एक बार तो एक नाटककार महाशय उनके यहाँ २-३ दिन ठहरे और जाते समय उनका कोट भी चुपके से लेते गये। इसका पता बाद में चला। मेरे एक मित्र थे, उन्होंने एक मासिक पत्र निकाला। मैंने उन्हें सरस्वती प्रेस में छपाने की सलाह दी। प्रेमचन्द का प्रेस था। प्रेमचन्द को एक पत्र लिख दिया कि छपाई में कुछ रियायत कर सकें तो कर दीजियेगा। आज तक वह महाशय दिखाई नहीं दिये। पीछे पता चला कि चार अंक के बाद वह पत्रिका बन्द हो गयी। उसकी छपाई का भुगतान भी एक अंक का नहीं किया गया। मुझसे जब मुंशी जी ने कहा तब मैंने कहा मैंने उन्हें भेजा था। मैं छपाई दूँगा। वह बोले, इस प्रकार रुपये वसूल करता तो अब तक राजा होता। मैं क्या आग़ा हूँ? और फिर क़हक़हा लगाया।

मैंने ऐसे लोगों को देखा है कि दूसरों से पुस्तकें लिखवाते हैं, अपना नाम देते हैं। अपने विद्यार्थियों से साहित्यिक काम लेते हैं और पैसे अपने पासबुक में जमा करते हैं। प्रेमचन्द का नाम बहुत था। उनके पास साहित्यिक कार्य बहुत आता था। अवकाश न रहने पर हम लोगों को वह कार्य दे दिया करते थे। और जब वहाँ से उसका पुरस्कार आता था तुरन्त हम लोगों के पास भेजवा दिया करते थे। कभी एक पाई भी उसमें से ली नहीं और न ही इसका एहसान जताया।

सरलता उनका स्वभाव था। निकट ही वह रहते थे। बारह बजे के लगभग उनके घर पहुँचा। वह भोजन करने जा रहे थे। बोले, चलो तुम भी। और कहा देखो भाई दाल, भात, रोटी और एक तरकारी है। मुझे मजबूरन खाना पड़ा इस खयाल से कि कहीं ऐसा न समझें कि हमारा साधारण भोजन इन्हें पसन्द नहीं है। बनावट मैंने उनमें कभी देखी ही नहीं। मेरा पहिला कहानी का संकलन 'बनारसी

एक्का' प्रकाशित हुआ था। मैंने हंस में समालोचना के लिए भेज दिया। दो-तीन दिनों के बाद सबेरे घर पर आये और बोले तुम्हारा कोई संकलन निकला है। मैंने उत्तर दिया मैंने समालोचना के लिए भेज दिया है। बोले, देखो मुझसे लिखाना है कि किसी और से। मैंने कहा कि मैं तो आपका मत जानना चाहता हूँ। मुंशीजी ने कहा तब लाओ मुझे एक प्रति दो। मैं पढ़ूंगा और मैं ही लिखूंगा। मैंने कहा, तब यों कहिए। और मैंने एक प्रति उन्हें दी। उन्होंने स्वयं उसे पढ़ा और स्वयं आलोचना लिखी।

उनका असली नाम धनपत राय था किन्तु गाँव के लोग उन्हें नवाब के नाम से पुकारते थे। एक बार उनके गाँव का जो उनका बचपन का साथी था आया और अपनी गाँव की बोली में उसने कहा, कहो नवाब। तुम तो बड़े आदमी हो गये। कुछ हमें भी काम दो। उन्होंने उसे कुरसी पर बैठाया। क़लम मेज़ पर रख दी और खूब उससे बातें करते रहे। बचपन के संस्मरण मुझे भी सुनने को मिले। और बीच-बीच में में हंसी होती रही।

आरम्भ में वह हिन्दी के उपन्यासों को भी उर्दू लिपि में लिखते रहे। पीछे नागरी लिपि में लिखने लगे थे। लिखने का कोई विशेष समय न था। मिलने वाले आया-जाया करते थे।

जब वह माधुरी के सम्पादक थे तब प्रसाद जी का एक नाटक निकला था। उस पर उन्होंने प्रसाद जी को पत्र लिखा था, आप क्या गड़े मुर्दे उखाड़ रहे हैं। कुछ समाज के नये पहलू पर लिखिए। उससे उनकी विचारधारा का पता चलता है। किन्तु उन्होंने उग्रता कभी नहीं धारण की।

उनका विरोध भी लोगों ने किया तब भी वह उलझे नहीं। जब 'रंगभूमि' निकली तब एक सज्जन ने, जो अब इस जगत में नहीं हैं, लिखा कि यह उपन्यास थैकरे के वैनिटी फ़ेयर की चोरी है। इसका प्लाट उसी से लिया गया है। यद्यपि यह बात ऐसी थी जैसे कोई कहे कि हेलमेट उत्तर रामचरित से लिया गया है। एक दिन मेरे पास आये और बोले, तुम्हारे पास वैनिटी फ़ेयर है? मैं मुसकराया। मैंने कहा मिलाइएगा क्या। वह बोले नहीं भाई पढ़ूंगा। उनका मैं कृतज्ञ हूँ कि इसी बहाने वैनिटी फ़ेयर तो पढ़ डालूंगा। नहीं तो इतनी मोटी किताब इस जीवन में कब पढ़ी जाती।

बीमारी में सदा हम लोग उनके पास आया करते थे। मृत्यु से तीन दिन पहले की बात है। वह लेटे थे, मैं कुर्सी पर बैठा था, पूछा—गोदान पढ़ा? मैंने कहा बहुत अच्छा है। फिर बोले पढ़ा है कि यों ही कहते हो। मैं पढ़ चुका था। बोला पढ़ भी चुका हूँ, समझ भी चुका हूँ। मुसकराये। इस बार वह अट्टहास नहीं था।

●

कृष्णदेव प्रसाद गौड़

४३ | अमृत राय

प्रेमचन्द का संस्मरण मैं क्या दूँ ? मैं जान ही कितना पाया उस आदमी को ? मेरी उम्र मुश्किल से पन्द्रह की रही होगी जब वह आदमी हमसे अलग हो गया। मैं तब इण्टरमीडिएट के पहले साल में था। सन् ३६ को अब सत्रह बरस होते हैं, बड़ी कच्ची उम्र थी। ईमानदारी की बात है कि मेरे पास वैसे कोई संस्मरण नहीं हैं जो शायद आप मुझसे सुनना चाहते हैं।

छोटे रूप में कहूँ तो यही कहना होगा कि मैं एक पिता के रूप में ही देख पाया उन्हें। और जितनी कुछ समझ थी उतना एक व्यक्ति के रूप में भी देखने की कोशिश की, यानी अब करता हूँ, स्मृतियों के सहारे।

प्रेमचन्द बहुत सीधे-साधे, बेलौस, मुहब्बती आदमी थे। जो भी लोग उनके सम्पर्क में आये उनको प्रेमचन्द का यही रूप देखने को मिला होगा। घर में भी उनका यही रूप था। घर के बाहर और घर के भीतर, अपने बाहर और अपने भीतर कहीं भी उसमें कोई दुरंगापन नहीं था। सब जगह वह एक था, झील के नीले पानी की तरह साफ, पारदर्शक। यही उस आदमी की सबसे बड़ी महानता थी कि वह किसी तरह महान् नहीं था। न कपड़े-लत्ते में, न तौर-तरीके में, न बोल-चाल में, न रहन-सहन में। हर ओर से वह आदमी एक साधारण निम्न मध्यवर्ग का आदमी था — बाल-बच्चेदार, गृहस्थ, बाल-बच्चों में रमा हुआ।

क्या तो उनका हुलिया था — घुटनों से जरा ही नीचे तक पहुँचने वाली मिल की धोती, उसके ऊपर गाढ़े का कुर्त्ता और पैर में बंददार जूता। यानी कुल मिलाकर आप उसे देहक़ान ही कहते, गंवइया भुच्च जो अभी गाँव से चला आ रहा है, जिसे कपड़ा पहिनने की भी तमीज़ नहीं, जिसे यह भी नहीं मालूम कि धोती-कुर्ते पर चप्पल पहनी जाती है या पम्प। आप शायद उन्हें प्रेमचन्द कहकर पहचानने से भी इनकार कर देते। लेकिन तब भी वही प्रेमचन्द था, क्योंकि वही हिन्दुस्तान है। मुझे अच्छी तरह याद है कि वर्षों उन्होंने सस्ते के खयाल से किरमिच का जूता पहना और रंगरोग़न की झंझट न रहे, रोज़-

रोज़ उस पर सफ़ेदी पोतने की मुसीबत से नजात मिले, इसलिये वह किरमिच का जूता ब्राउन रंग का होता था जिसे आजकल तो शायद रिक्शेवाला भी नहीं पहनता और शौक से तो नहीं ही पहनता। और मुझे उनके दोनों पैरों की कानी उंगली की अच्छी तरह याद है जो जूते को चीर कर बाहर निकली रहती थी। सादगी इससे आगे नहीं जा सकती। अपने ऊपर कम-से-कम खर्च, यह उनकी ज़िन्दगी का साधारण नियम था। घर के बाकी लोग भी कोई मखमल नहीं पहनते थे, मगर उनसे सभी अच्छे थे। यों तो खैर कभी इतने पैसे ही नहीं हुए कि कोई बड़ी ऐशो-इशरत से रहता और मसल भी मशहूर है कि खुदा गंजे को नाखून नहीं देता। लेकिन जहाँ तक मैं समझता हूँ, उस आदमी को ऐशो-इशरत की भूख या हविस भी नहीं थी। उनकी ज़िन्दगी में ऐसे मौके आये जब कि ऐशो-इशरत की राह उनके लिए खुली हुई थी। दो-एक राजाओं ने भी उनको अपने यहाँ बुलाकर रखना चाहा। और कद्रदानी के खयाल से ही ऐसा किया — मगर वह राह प्रेमचन्द की नहीं थी। उन्हें ऐशो-इशरत पसन्द होती तो जहाँ अन्तःकरण को बेंचकर बहुत से लोग बम्बई की फिल्मी दुनिया में पड़े रहते हैं वहाँ प्रेमचन्द भी अपने अन्तःकरण का थोड़ा-बहुत सौदा करके पड़े ही रह सकते थे और बीस बरस पहले एक हज़ार रुपया महीना तो पा ही रहे थे, और भी ज्यादा बनाने के सिलसिले निकाल सकते थे — लेकिन नहीं, ऐशो-इशरत की संकरी सुनहरी गली उनके लिए नहीं थी। उनके लिये खुली हवा का राजमार्ग ही बेहतर था, जहाँ वे एक बड़ के तले, कुएँ के पास आराम से अपनी ज़िन्दगी गुज़ार सकते थे। वहाँ खुली हवा तो है, ताज़ा, ठंडा, मीठा पानी तो है, नीला आसमान तो दिखायी देता है, राह चलते किसी आदमी का बिरहा तो सुनाई दे जाता है, आदमी आदमी के दुख-दर्द की तो एकाध बात कर लेता है। सोने की उस मायानगरी में तो यह सब कुछ भी नहीं, वहाँ तो इंसानियत भी नहीं, वहाँ तो आदमी आदमी को रौंदकर आगे बढ़ता है। वहाँ कहाँ ठंडा पानी और कहाँ ताज़ी हवा।

लिहाज़ा शुरू से ही उन्होंने उस मायानगरी की गलियाँ झाँकने का खयाल ही छोड़ दिया और किसी क्षणिक आवेश में आकर नहीं, जीवन के एक संयत, गंभीर, सौम्य, दृढ़ निश्चय के रूप में। दुनियावी नुक्ते से कोई चाहे तो उन्हें बेवकूफ भी कह सकता है और वे शायद थे भी, वर्ना अगर उनमें भी दग़ा-फरेब की अक़्ल होती, बहुरूपिया बनने की कला होती, गिरगिट की तरह रंग बदलना आता; अभिनेता की तरह समाज के रंगमंच का उपयोग करने की कला आती, तो निश्चय ही उन्होंने भी अपने झंडे गाड़ दिये होते, दस बीस पचास लाख की जायदाद कर ली होती और अखबार में उनकी भी छींक का खुलासा निकला करता — लिहाज़ा इसमें क्या शक कि वह बेवकूफ तो थे ही जो दुनिया में दुनियावालों की तरह बरतना उन्होंने नहीं सीखा, अपनी आदर्शवादी सपनों की दुनिया में रहते रहे, ज़िन्दगी भर पैसे

की तंगी के शिकार रहे और मरते वक्त अपना इलाज भी ढंग से नहीं करवा सके। मेरी आँखों के सामने बनारस में राम कटोरा बाग का वह घर घूम रहा है और उस घर की वह कोने वाली कोठरी और उस कोठरी में वही चारपाई और उसपर नीली कुम्हलाई हुई पिंजरशेष आकृति, वे हड्डी-हड्डी बाँहें, पेशानी की वे मोटी-मोटी झुर्रियाँ और वे पैनी चमकती हुई, गहरी-गहरी आँखें जिनकी चमक आखिरी वक्त तक बुझी नहीं, मगर जितना ही वह तसवीर मेरी आँखों के सामने नुमायाँ होती हैं, उतना ही दर्द होता है और उतना ही गुस्सा मेरे अन्दर जागता है कि उस दुनियाँ को नेस्तो-नाबूद कर देना चाहिए जिसमें इंसान की इंसानियत की कद्र नहीं, जिसमें सिर्फ चोर और गिरहकट और भड्डरी और ढपोरशंख पनपते हैं। यह बात हज़ार मुंहों से भी कही जाय तो थोड़ी है कि प्रेमचन्द से बेहतर इन्सान मुश्किल से ही मिलेंगे। घर में उनसे अधिक प्रेमी पति और वत्सल पिता भी कम ही मिलेंगे। शुरू से ही उन्होंने हम लोगों के संग दोस्त का-सा बर्ताव किया। मैं अपनी बात कहता हूँ : वह मेरे सबसे प्यारे दोस्त थे। मुझे याद ही नहीं आता कि उन्होंने कभी किसी बात पर एक भी कड़ा शब्द मुझे कहा हो, मारने का तो खैर जिक्र ही बेकार है। यहाँ तक कि पढ़ने के लिए भी उन्होंने कभी एक बार भी नहीं कहा। हाँ, अगर इस सिलसिले की कोई बात मुझे याद है तो यही कि एक बार जब मैं छुट्टी का दिन भर गुल्ली-गबाड़ी में गंवाकर शाम को कमरे में बैठा भूगोल का होमवर्क कर रहा था, जो कि अगले रोज़ मास्टर साहब को दिखलाना था, तो उन्होंने डाँटकर मुझे कमरे से बाहर किया था और कहा था — जाओ खेलने, शाम को कभी घर में मत रहा करो। यह सही बात है कि हम उनको अपनी बराबरी का और अपना सबसे बड़ा दोस्त समझते थे, सबसे प्यारा दोस्त। मुझको अच्छी तरह याद है कि हम लोग पिता के संग खाना खाने के लिए ललकते थे और किसी भी दिन उनके बगैर नहीं खाते थे। सुबह को तो खैर खाना खाकर स्कूल भागना रहता था, मगर रात के खाने के लिए तो हम लोग दस-दस बजे रात तक उनका इतज़ार करते थे। नींद से आँखें झपीं जाती थीं, कभी-कभी तो सो भी जाते थे, मगर तब भी उनके संग खाना खाने का लोभ संवरण न कर पाते थे। यह बात देखने में छोटी मालूम पड़ती है मगर इतनी छोटी नहीं है। बाप-बेटे में इतनी सहज गहरी मैत्री, बराबर के दोस्त की जैसी कम ही देखने में आती है। हर छोटी-बड़ी बात में यही मैत्री दिखायी देती थी। मुझे याद आता है, सन् ३५ के दिनों की बात है। मैंने तब साल डेढ़ साल पहले से लिखना शुरू ही किया था। मैं तब इलाहाबाद में रहता था, हाईस्कूल में पढ़ता था और प्रेमचन्द बम्बई से लौटकर बनारस आ गये थे। मैंने अपनी एक कहानी पिता जी के पास उनकी राय और इसलाह के लिए भेजी। वह कहानी कुछ ऐसी थी जिसमें करुणरस की स्रोतस्विनी बहाने के उद्देश्य से मैंने अपने सभी प्रधान पात्रों को मौत के घाट उतार दिया था। मृत्यु से अधिक करुण तो कोई चीज होती नहीं, अगर करुणरस का पूर्ण

परिपाक करना है तो कहानी में दो-चार मौतें तो होनी ही चाहिए। लिहाज़ा नायक-नायिका सब मर गये। पिता जी कहानी पढ़कर बड़े दोस्ताना अंदाज़ में मुझे लिखा कि कहानी तो अच्छी है, बस एक बात है कि इतनी मौतें न हों तो अच्छा, क्योंकि ऐसी कहानियाँ कमज़ोर मानी जाती हैं जिसमें ज़्यादा मौतें होती हैं। बाकी सब बहुत ठीक है। बाकी उसमें था ही क्या, निरी बचकानी कोशिश थी। लेकिन मैंने बहुत सुपीरियर अंदाज़ में उनको जवाब लिखा कि हाँ जो बात तुम लिखते हो — हम लोग पिता जी को तुम कहते थे, 'आप' नहीं, आप में पता नहीं कितनी दूरी का आभास था — हाँ तो, जो बात तुम लिखते हो, वह आमतौर पर सही हो सकती है लेकिन जहाँ तक इस खास कहानी का ताल्लुक है, 'इसमें तो इन मौतों का होना अनिवार्य है, क्योंकि कहानी का यही तर्क है। इसी किस्म की कोई बात मैंने लिख दी जिसके बाद वे चुप ही रहे। बेचारे और करते भी क्या।

इस घटना का उल्लेख मैंने यह बतलाने के लिए नहीं किया कि मैं कितना गधा था या हूँ, बल्कि इसलिए कि आपको मालूम हो कि छोटे-से-छोटे लेखक से भी वे बराबरी की सतह पर उतर कर बात करते थे। हिमालय की ऊँचाई से बात करना उन्हें आता ही न था। वे तो आपके होकर घुल मिलकर ही आपसे बात कर सकते थे। इसलिए छोटे-से-छोटे आदमी की भी उनसे बराबरी से बात करने की जुरअत हो जाती थी और जब वह स्थिति होती है तभी आदमी सीखता भी है। भले आज उलटी ही परिपाटी हो, मगर आशीर्वादों और प्रवचनों से कभी किसी नये लेखक को कुछ नहीं मिला। प्रेमचन्द एक गहरे दोस्त की तरह, साथी की तरह नये लेखक के हाथ में हाथ देकर उसे अच्छा लिखना, आगे बढ़ना सिखलाते थे और मुक्त हृदय से नये लेखक की प्रशंसा करते थे जिससे उसका उत्साह बढ़ता था। मेरे जीवन का तो यह कठोरतम दुर्भाग्य है कि जब मैं उनसे कुछ सीखने के कबिल हुआ तभी वे मुझसे अलग हो गये। लेकिन आज हिन्दी में जैनेन्द्र, अज्ञेय। राधाकृष्ण, जनार्दनराय नागर, जनार्दन झा द्विज, गंगाप्रसाद मिश्र, वीरेश्वर सिंह, उपेन्द्रनाथ अश्क, वीरेन्द्रकुमार जैन, पहाड़ी जैसे अनगिनत लेखक हैं जिनको प्रेमचन्द्र ने अपने हाथ से संवारा है, जिनकी नयी प्रतिभा को उन्होंने पहचाना है और उजागर किया और प्रोत्साहन देकर आगे बढ़ाया। अभी उस रोज़ महादेवी जी बतला रही थीं कि अपनी पहली या दूसरी कविता पर उनको भी प्रेमचन्द का एक बहुत प्यारा सा कार्ड मिला था। वैसे ही सुभद्राकुमारी चौहान को 'बिखरे मोती' की कहानियों पर, और पता नहीं किन किनको। आज की तो सारी पीढ़ी ही उनके हाथ की गढ़ी हुई है। पता नहीं उस आदमी के पास स्फूर्ति का ऐसा कौन सा अक्षय स्रोत था, जो वह सबको हिन्दुस्तान के कोने-कोने में, उसका दान कर सकता था और एक नया लेखक जिसने शायद दो ही चार कहानियाँ लिखी होंगी, प्रेमचन्द का खत जेब में डाले उसकी शराब में झूमता रहता था और साहित्य सृष्टि के लिए अपने में अजस्र शक्ति का

उद्रेक होता अनुभव करता था। इस तरह पता नहीं कितनी प्रतिभाओं को मुकुलित होने का मौका मिला, जो यों शायद मर जातीं। और इस सारी चीज़ की जड़ में उसकी वह सरल निश्छल इंसानियत थी जो घर और बाहर सब जगह यकसां सोना बिखेरती रहती थी।

अंतिम वसीयत के रूप में प्रेमचंद की अंतिम दो कृतियाँ यहाँ प्रस्तुत की जा रही हैं।

महाजनी सभ्यता

और

मंगलसूत्र

महाजनी सभ्यता

मुज़्दः ए दिल कि मसीहा नफ़से मी आयद;
कि ज़े अनफ़ास खुशश बूए कसे मी आयद।※

जागीरदारी सभ्यता में बलवान् भुजाएँ और मज़बूत कलेजा जीवन की आवश्यकताओं में परिगणित थे, और साम्राज्यवाद में बुद्धि और वाणी के गुण तथा मूक आज्ञापालन उसके आवश्यक साधन थे; पर उन दोनों स्थितियों में दोषों के साथ कुछ गुण भी थे। मनुष्य के अच्छे भाव लुप्त नहीं हो गये थे। जागीरदार अगर दुश्मन के खून से अपनी प्यास बुझाता था, तो अकसर अपने किसी मित्र या उपकारक के लिए जान की बाजी भी लगा देता था। बादशाह अगर अपने हुक्म को कानून समझता था और उसकी अवज्ञा को कदापि सहन न कर सकता था, तो प्रजापालन भी करता था, न्यायशील भी होता था। दूसरे के देश पर चढ़ाई वह या तो किसी अपमान-अपकार का बदला फेरने के लिए करता था या अपनी आन-बान, रोब-दाब क़ायम रखने के लिए या फिर देश-विजय और राज्य-विस्तार की वीरोचित महत्वाकांक्षा से प्रेरित होता था। उसकी विजय का उद्देश्य प्रजा का खून चूसना कदापि न होता था। कारण यह कि राजा और सम्राट् जनसाधारण को अपने स्वार्थसाधन और धन शोषण की भट्ठी का ईंधन न समझते थे; किन्तु उनके दुःख-सुख में शरीक होते थे और उनके गुण की कद्र करते थे।

मगर इस महाजनी सभ्यता में सारे कामों की ग़रज़ महज़ पैसा होती है। किसी देश पर राज्य किया जाता है, तो इसलिए कि महाजनों, पूंजीपतियों को ज़्यादा-से ज़्यादा नफ़ा हो। इस दृष्टि से मानों आज दुनिया में महाजनों का ही राज्य है।

※ हृदय, तू प्रसन्न हो कि पीयूषपाणि मसीहा सशरीर तेरी ओर आ रहा है। देखता नहीं कि लोगों की साँसों से किसी की सुगन्धि आ रही है।

मनुष्य समाज दो भागों में बँट गया है। बड़ा हिस्सा तो मरने और खपने वालों का है, और बहुत ही छोटा हिस्सा उन लोगों का, जो अपनी शक्ति और प्रभाव से बड़े समुदाय को अपने बस में किये हुए हैं। इन्हें इस बड़े भाग के साथ किसी तरह की हमदर्दी नहीं, ज़रा भी रूरियायत नहीं। उसका अस्तित्व केवल इसलिए है कि अपने मालिकों के लिए पसीना बहाये, खून गिराये और एक दिन चुपचाप इस दुनिया से बिदा हो जाय। अधिक दुःख की बात तो यह है कि शासक वर्ग के विचार और सिद्धांत शासित वर्ग के भीतर भी समा गये हैं, जिसका फल यह हुआ है कि हर आदमी अपने को शिकारी समझता है और उसका शिकार है समाज। वह खुद समाज से बिलकुल अलग है, अगर कोई संबंध है, तो यह कि किसी चाल या युक्ति से वह समाज को उल्लू बनावे और उससे जितना लाभ उठाया जा सकता हो, उठा ले।

धन-लोभ ने मानव भावों को पूर्ण रूप से अपने अधीन कर लिया है। कुलीनता और शराफ़त, गुण और कमाल की कसौटी पैसा, और केवल पैसा है। जिसके पास पैसा है, वह देवता स्वरूप है, उसका अन्तःकरण कितना ही काला क्यों न हो। साहित्य, संगीत और कला — सभी धन की देहली पर माथा टेकनेवालों में हैं। यह हवा इतनी ज़हरीली हो गई है कि इसमें जीवित रहना कठिन होता जा रहा है। डाक्टर और हकीम है कि वह बिना लम्बी फ़ीस लिये बात नहीं करता। वकील और बारिस्टर है कि वह मिनटों को अशर्फ़ियों से तौलता है। गुण और योग्यता की सफलता उसके आर्थिक मूल्य के हिसाब से मानी जा रही है। मौलवी साहब और पण्डितजी भी पैसेवालों के बिना पैसे के गुलाम हैं, अख़बार उन्हीं का राग अलापते हैं। इस पैसे ने आदमी के दिलोदिमाग़ पर इतना क़ब्ज़ा जमा लिया है कि उसके राज्य पर किसी ओर से भी आक्रमण करना कठिन दिखाई देता है। वह दया और स्नेह, सचाई और सौजन्य का पुतला मनुष्य दया-ममताशून्य जड़ यन्त्र बनकर रह गया है। इस महाजनी सभ्यता ने नये-नये नीति-नियम गढ़ लिये हैं जिन पर आज समाज की व्यवस्था चल रही है। उनमें से एक यह है कि समय ही धन है। पहले समय जीवन था, और उसका सर्वोत्तम उपयोग विद्या-कला का अर्जन अथवा दीन-दुखी जनों की सहायता था। अब उसका सबसे बड़ा सदुपयोग पैसा कमाना है। डॉक्टर साहब हाथ मरीज़ की नब्ज़ पर रखते हैं और निगाह घड़ी की सुई पर। उनका एक-एक मिनट एक-एक अशर्फ़ी है। रोगी ने अगर केवल एक अशर्फ़ी नज़र की है, तो वह उसे मिनट से ज़्यादा वक्त नहीं दे सकते। रोगी अपनी दुःख-गाथा सुनाने के लिए बेचैन है; पर डॉक्टर साहब का उधर बिलकुल ध्यान नहीं। उन्हें उससे ज़रा भी दिलचस्पी नहीं। उनकी निगाह में उस व्यक्ति का अर्थ केवल इतना ही है कि वह उन्हें फ़ीस देता है। वह जल्द-से-जल्द नुस्खा लिखेंगे और दूसरे रोगी को देखने चले जायँगे। मास्टर साहब पढ़ाने आते हैं, उनका एक घण्टा वक्त बंधा है। वह घड़ी सामने रख

लेते हैं, जैसे ही घण्टा पूरा हुआ, वह उठ खड़े हुए। लड़के का सबक़ अधूरा रह गया है तो रह जाय, उनकी बला से, वह घण्टे से अधिक समय कैसे दे सकते हैं; क्योंकि समय रुपया है। इस धन-लोभ ने मनुष्यता और मित्रता का नाम शेष कर डाला है। पति को पत्नी या लड़कों से बात करने की फुर्सत नहीं, मित्र और संबंधी किस गिनती में हैं। जितनी देर वह बातें करेगा, उतनी देर में तो कुछ कमा लेगा। कुछ कमा लेना ही जीवन की सार्थकता है, शेष सब कुछ समय-नाश है। बिना खाये-सोये काम नहीं चलता, बेचारा इससे लाचार है और इतना समय नष्ट करना ही पड़ता है।

आपका कोई मित्र या सम्बन्धी अपने नगर में प्रसिद्धि प्राप्त कर चुका है, तो समझ लीजिए, उसके यहाँ अब आपकी रसाई मुमकिन नहीं। आपको उसके दरे-दौलत पर जाकर कार्ड भेजना होगा। उन महाशय को बहुत से काम होंगे, मुश्किल से आपसे एक-दो बातें करेंगे या साफ जवाब दे देंगे कि आज फ़ुर्सत नहीं है। अब वह पैसे के पुजारी हैं, मित्रता और शील-संकोच के नाम पर कब की तिलांजलि दे चुके हैं।

आपका कोई दोस्त वकील है और आप किसी मुक़दमे में फँस गये हैं, तो उससे किसी प्रकार की सहायता की आशा न रखिए। अगर वह मुरौवत तो गंगा में डुबो नहीं चुका है, तो आपसे देन-लेन की बात शायद न करेगा, पर आपके मुक़दमे की ओर तनिक भी ध्यान न देगा। इससे तो कहीं अच्छा है कि आप किसी अपरिचित के पास जायँ और उसको पूरी फ़ीस अदा करें। ईश्वर न करे कि आज किसी को किसी चीज़ में कमाल हासिल हो जाय, फिर उसमें मनुष्यता नाम को न रह जायगी, उसका एक-एक मिनट क़ीमती हो जायगा।

इसका अर्थ यह नहीं कि व्यर्थ की गपशप में समय नष्ट किया जाय, पर यह अर्थ अवश्य है कि धन-लिप्सा को इतना बढ़ने न दिया जाय कि वह मनुष्यता, मित्रता, स्नेह-सहानुभूति सबको निकाल बाहर करे।

पर आप उस पैसे के गुलाम को बुरा नहीं कह सकते। सारी दुनिया जिस प्रवाह में बह रही है, वह भी उसी में बह रहा है। मान-प्रतिष्ठा सदा से मानवीय आकांक्षाओं का लक्ष्य रहा है। जब विद्या-कला मान-प्रतिष्ठा का साधन थी, उस समय लोग इन्हीं का अर्जन-अभ्यास करते थे। जब धन उसका एकमात्र उपाय है, तब मनुष्य मजबूर है कि एकनिष्ठ भाव से उसी की उपासना करे। वह कोई साधु-महात्मा, संन्यासी-उदासी नहीं; वह देख रहा है कि उसके पेशे में जो सौभाग्यशाली सफलता की कठिन यात्रा पूरी कर सके हैं, वह उसी राजमार्ग के पथिक थे, जिस पर वह खुद चल रहा है। समय धन है एक सफल व्यक्ति का। वह इस सिद्धान्त का अनुसरण करते देखता है, फिर वह भी उसी के पद-चिह्नों का अनुसरण करता है, तो उसका क्या दोष ? मान-प्रतिष्ठा की लालसा तो दिल से मिटाई नहीं जा सकती। वह देख

रहा है कि जिनके पास दौलत नहीं, और इसलिए नहीं कि उन्होंने वक्त को दौलत नहीं समझा, उनको कोई पूछनेवाला नहीं। वह अपने पेशे में उस्ताद है फिर भी उसकी कहीं पूछ नहीं। जिस आदमी में तनिक भी जीवन की आकांक्षा है वह तो इस उपेक्षा की स्थिति को सहन नहीं कर सकता। उसे तो मुरौवत, दोस्ती और सौजन्य को धता बतलाकर लक्ष्मी की आराधना में अपने को लीन कर देना होगा, तभी इस देवी का वरदान उसे मिलेगा, और यह कोई इच्छाकृत कार्य नहीं किन्तु सर्वथा बाध्यकारी है। उसके मन की अवस्था अपने आप कुछ इस तरह की हो गई है कि उसे धनार्जन के सिवा और किसी काम से लगाव नहीं रहा। अगर उसे किसी सभा या व्याख्यान में आधा घण्टा बैठना पड़े, तो समझ लो, वह क़ैद की घड़ी काट रहा है। उसकी सारी मानसिक, भागवत और सांस्कृतिक दिलचस्पियाँ इसी केन्द्र बिन्दु पर आकर एकत्र हो गई हैं। और क्यों न हो? वह देख रहा है कि पैसे के सिवा उसका और कोई अपना नहीं। स्नेही मित्र भी अपनी गरज लेकर ही उसके पास आते हैं, स्वजन-सम्बन्धी भी उसके पैसे के ही पुजारी हैं। वह जानता है कि अगर वह निर्बल होता, तो वह जो दोस्तों का जमघट लग रहा है, उनमें से एक के भी दर्शन न होते, इन स्वजन-सम्बधियों में से एक भी पास न फटकता। उसे समाज में अपनी एक हैसियत बनानी है, बुढ़ापे के लिए कुछ बचाना है, लड़कों के लिए कुछ कर जाना है जिसमें उन्हें दर-दर ठोकरें न खानी पड़ें। इस निष्ठुर, सहानुभूति शून्य दुनिया का उसे पूरा अनुभव है। अपने लड़कों को वह उन कठिन अवस्थाओं में नहीं पड़ने देना चाहता, जो सारी आशाओं-उमंगों पर पाला गिरा देती हैं, हिम्मत-हौसले को तोड़कर रख देती हैं। उसे वह सारी मंज़िलें जो एक साथ जीवन के आवश्यक अङ्ग हैं, खुद तय करनी होंगी और जीवन को व्यापार के सिद्धान्त पर चलाये बिना वह इनमें से एक भी मंज़िल पार नहीं कर सकता।

इस सभ्यता का दूसरा सिद्धान्त है Business is business अर्थात् व्यवसाय व्यवसाय है, उसमें भावुकता के लिए गुंजाइश नहीं। पुराने जीवन-सिद्धान्त में वह लठमार साफ़गोई नहीं है, जो निर्लज्जता कही जा सकती है और जो इस नवीन सिद्धान्त की आत्मा है। जहाँ लेन-देन का सवाल है, रुपये-पैसे का मामला है, वहाँ न दोस्ती का गुज़र है, न मुरौवत का, न इन्सानियत का, 'बिज़नेस' में दोस्ती कैसी। जहाँ किसी ने इस सिद्धान्त की आड़ ली और आप लाजवाब हुए। फिर आपकी ज़बान नहीं खुल सकती। एक सज्जन ज़रूरत से लाचार होकर अपने किसी महाजन मित्र के पास जाते हैं और चाहते हैं कि वह उनकी कुछ मदद करें। वह भी आशा रखते हैं कि शायद सूद के दर में वह कुछ रियायत कर दें; पर जब देखते हैं कि यह महानुभाव मेरे साथ भी वही कारबारी बर्ताव कर रहे हैं, तो कुछ रियायत की प्रार्थना करते हैं, मित्रता और घनिष्ठता के आधार पर आँखों में आँसू भरकर बड़े करुण स्वर में कहते हैं — महाशय, मैं इस समय बड़ा परीशान हूँ, नहीं तो आपको

कष्ट न देता, ईश्वर के लिए मेरे हाल पर रहम कीजिए। समझ लीजिए कि एक पुराने दोस्त ....। वहीं बात काटकर आज्ञा के स्वर में फ़रमाया जाता है; लेकिन जनाब, आप 'बिज़नेस इज़ बिज़नेस' इसे भूल जाते हैं। उस दिन कातर प्रार्थी पर मानों बम का गोला गिरा। अब उसके पास कोई तर्क नहीं, कोई दलील नहीं। चुपके से उठकर अपनी राह लेता है या फिर अपने व्यवसाय-सिद्धान्त के भक्त मित्र की सारी शर्तें क़बूल कर लेता है।

इस महाजनी सभ्यता ने दुनिया में जो नई रीति-नीतियाँ चलाई हैं उनमें सबसे अधिक और रक्तपिपासु यही व्यवसायवाला सिद्धान्त है। मियाँ-बीबी में बिज़नेस, बाप-बेटे में बिज़नेस, गुरु-शिष्य में बिज़नेस! सारे मानवी, आध्यात्मिक और सामाजिक नेह-नाते समाप्त। आदमी-आदमी के बीच बस कोई लगाव है, तो बिज़नेस का। लानत है इस 'बिज़नेस' पर! लड़की अगर दुर्भाग्यवश क्वाँरी रह गई और अपनी जीविका का कोई उपाय न निकाल सकी, तो अपने बाप के घर में ही लौंडी बन जाना पड़ता है। यों लड़के-लड़कियाँ सभी घरों में काम-काज करते ही हैं, पर उन्हें कोई टहलुआ नहीं समझता; पर इस महाजनी सभ्यता में लड़की एक ख़ास उम्र के बाद लौंडी और अपने भाइयों की मज़दूरनी हो जाती है। पूज्य पिताजी भी अपने पितृ-भक्त बेटे के टहलुए बन जाते हैं और माँ अपने सपूत की टहलुई। स्वजन-सम्बन्धी तो किसी गिनती में नहीं। भाई भी भाई के घर आये तो मेहमान हैं। अकसर तो उसे मेहमानी का बिल भी चुकाना पड़ता है। इस सभ्यता की आत्मा है व्यक्तिवाद, आप स्वार्थी बना सब कुछ अपने लिए।

पर यहाँ भी हम किसी को दोषी नहीं ठहरा सकते। वही मान प्रतिष्ठा, वही भविष्य की चिन्ता, वही अपने बाद बीवी-बच्चों के गुज़र का सवाल, वही नुमाइश और दिखावे की आवश्यकता हर एक की गरदन पर सवार है, और वह हिल नहीं सकता। वह इस सभ्यता के नीति-नियमों का पालन न करे तो उसका भविष्य अन्धकारमय है।

अब तक दुनिया के लिए इस सभ्यता की रीति-नीति का अनुसरण करने के सिवा और कोई उपाय न था। उसे झख मारकर उसके आदेशों के सामने सिर झुकाना पड़ता था। महाजन अपने ज़ोम में फूला फिरता था। सारी दुनिया उसके चरणों पर नाक रगड़ रही थी। बादशाह उसका बन्दा, वज़ीर उसके ग़ुलाम, सन्धि-विग्रह की कुंजी उसके हाथ में, दुनिया उसकी महत्वाकांक्षाओं के सामने सिर झुकाए हुए, हर मुल्क में उसका बोलबाला।

परन्तु अब एक नई सभ्यता का सूर्य सुदूर पश्चिम से उदय हो रहा है, जिसने इस नाटकीय महाजनवाद या पूंजीवाद की जड़ खोदकर फेंक दी है, जिसका मूल सिद्धान्त यह है कि प्रत्येक व्यक्ति, जो अपने शरीर या दिमाग़ से मेहनत करके कुछ पैदा कर सकता है, राज्य और समाज का परम सम्मानित सदस्य हो सकता है, और

जो केवल दूसरों की मेहनत या बाप-दादों के जोड़े हुए धन पर रईस बना फिरता है, वह पतिततम प्राणी है। उसे राज्य प्रबन्ध में राय देने का हक़ नहीं और वह नागरिकता के अधिकारों का भी पात्र नहीं। महाजन इस नई लहर से अति उद्विग्न होकर बौखलाया हुआ फिर रहा है और सारी दुनिया के महाजनों की शामिल आवाज़ इस नई सभ्यता को कोस रही है, उसे शाप दे रही है। व्यक्ति-स्वातन्त्र्य, धर्म विश्वास की स्वाधीनता, अपनी अन्तरात्मा के आदेश पर चलने की आज़ादी, वह इन सबकी घातक, गला घोंट देनेवाली बताई जा रही है। उस पर नये-नये लांछन लगाये जा रहे हैं, नई-नई हुरमतें तराशी जा रही हैं। वह काले से काले रंग में रंगी जा रही है, कुत्सित रूप में चित्रित की जा रही है। उन सभी साधनों से जो पैसेवालों के लिए सुलभ हैं, काम लेकर उसके विरुद्ध प्रचार किया जा रहा है; पर सचाई है जो इस सारे अन्धकार को चीरकर दुनिया में अपनी ज्योति का उजाला फैला रही है।

निस्सन्देह इस नई सभ्यता ने व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के पंजे नाखून और दाँत तोड़ दिये हैं। उसके राज्य में अब एक पूंजीपति लाखों मज़दूरों का खून पीकर मोटा नहीं हो सकता। उसे अब यह आज़ादी नहीं कि अपने नफ़े के लिए साधारण आवश्यकता की वस्तुओं के दाम चढ़ा सके, अपने माल की खपत कराने के लिए युद्ध करा दे, गोला-बारूद और युद्ध-सामग्री बनाकर दुर्बल राष्ट्रों का दमन कराये। अगर इसकी स्वाधीनता ही स्वाधीनता है तो निस्संदेह नई सभ्यता में स्वाधीनता नहीं; पर यदि स्वाधीनता का अर्थ यह है कि जनसाधारण को हवादार मकान, पुष्टिकर भोजन, साफ़-सुथरे गाँव, मनोरंजन और व्यायाम की सुविधाएँ, बिजली के पंखे और रोशनी, सस्ता और सद्यः सुलभ न्याय की प्राप्ति हो, तो इस समाज-व्यवस्था में जो स्वाधीनता और आज़ादी है, वह दुनिया की किसी सभ्यता कहानेवाली जाति को भी सुलभ नहीं है। धर्म की स्वतन्त्रता का अर्थ अगर पुरोहितों, पादरियों, मुल्लाओं की मुफ्तख़ोर जमात के दंभमय उपदेशों और अन्धविश्वास-जनित रूढ़ियों का अनुसरण है, तो निस्संदेह वहाँ इस स्वातन्त्र्य का अभाव है; पर धर्म स्वातन्त्र्य का अर्थ यदि लोक-सेवा, सहिष्णुता, समाज के लिए व्यक्ति का बलिदान, नेकनीयती, शरीर और मन की पवित्रता है, तो इस सभ्यता में धर्माचरण की जो स्वाधीनता है और किसी देश को उसके दर्शन भी नहीं हो सकते।

जहाँ धन की कमी-बेशी के आधार पर असमानता है वहाँ ईर्ष्या, ज़ोर, जबर्दस्ती, बेईमानी, झूठ, मिथ्या अभियोग-आरोप, वेश्या-वृत्ति, व्यभिचार और सारी दुनिया की बुराइयाँ अनिवार्य रूप से मौजूद हैं। जहाँ धन का आधिक्य नहीं, अधिकांश मनुष्य एक ही स्थिति में हैं, वहाँ जलन क्यों हो और जब्र क्यों हो? सतीत्व-विक्रय क्यों हो और व्यभिचार क्यों हो? झूठे मुक़दमे क्यों चलें और चोरी-डाके की वारदातें क्यों हो? ये सारी बुराइयाँ तो दौलत की देन हैं, पैसे के प्रसाद हैं, महाजनी सभ्यता ने इनकी

सृष्टि की है। वही इनको पालती है और वही यह भी चाहती है कि जो दलित, पीड़ित और विजित हैं, वे इसे ईश्वरीय विधान समझकर अपनी स्थिति पर सन्तुष्ट रहें। उनकी ओर से तनिक भी विरोध-विद्रोह का भाव दिखाया गया, तो उनका सिर कुचलने के लिए, पुलिस है, अदालत है, काला पानी है। आप शराब पीकर उसके नशे से बच नहीं सकते। आग लगाकर चाहें कि लपटें न उठें, असम्भव है। पैसा अपने साथ यह सारी बुराइयाँ लाता है, जिन्होंने दुनिया को नरक बना दिया है। इस पैसा-पूजा को मिटा दीजिए, सारी बुराइयाँ अपने-आप मिट जायँगी, जड़ न खोदकर केवल फुनगी की पत्तियाँ तोड़ना बेकार है। यह नई सभ्यता धनाढ्यता को हेय और लज्जाजनक तथा घातक विष समझती है। वहाँ कोई आदमी अमीरी ढङ्ग से रहे तो लोगों की ईर्ष्या का पात्र नहीं होता; बल्कि तुच्छ और हेय समझा जाता है। गहनों से लदकर कोई स्त्री सुन्दरी नहीं बनती, घृणा की पात्र बनती है। साधारण जन-समाज से ऊँचा रहन-सहन रखना वहाँ बेहूदगी समझी जाती है। शराब पीकर वहाँ बहका नहीं जा सकता, अधिक मद्यपान वहाँ दोष समझा जाता है, धार्मिक दृष्टि से नहीं, किन्तु शुद्ध सामाजिक दृष्टि से; क्योंकि शराबखोरी से आदमी में धैर्य और कष्ट-सहन, अध्यवसाय और श्रमशीलता का अन्त हो जाता है।

हाँ, इस समाज-व्यवस्था ने व्यक्ति को यह स्वाधीनता नहीं दी है कि वह जन-साधारण को अपनी महत्वाकांक्षाओं की तृप्ति का साधन बनाये और तरह-तरह के बहानों से उनकी मेहनत का फ़ायदा उठाये, या सरकारी पद प्राप्त करके मोटी-मोटी रक़में उड़ाये और मूंछों पर ताव देता फिरे। वहाँ ऊँचे से ऊँचे अधिकारी की तनख्वाह भी उतनी ही है, जितनी एक कुशल कारीगर की। वह गगनचुम्बी प्रासादों में नहीं रहता, तीन-चार कमरों में ही उसे गुज़र करना पड़ता है। उसकी श्रीमतीजी रानी साहबा या बेगम बनी हुई स्कूलों में इनाम बाँटती नहीं फिरतीं; बल्कि अक्सर मेहनत-मज़दूरी या किसी अख़बार के दफ़्तर में काम करती हैं। सरकारी पद पाकर वह अपने को लाट साहब नहीं बल्कि जनता का सेवक समझता है। महाजनी सभ्यता का प्रेमी इस समाज-व्यवस्था को क्यों पसन्द करने लगा जिसमें उसे दूसरों पर हुकूमत जताने के लिए सोने-चाँदी के ढेर लगाने की सुविधाएँ नहीं? पूँजीपति और ज़मींदार तो इस सभ्यता की कल्पना से ही काँप उठते हैं। उनकी जूड़ी का कारण हम समझ सकते हैं। पर जब वह लोग भी उसकी खिल्ली उड़ाने और उस पर फबतियाँ कसने लगते हैं जो अनजान में महाजनी सभ्यता का उल्लू सीधा कर रहे हैं, तो हमें उनकी दास-मनोवृत्ति पर हँसी आती है। जिसमें मनुष्यता, आध्यात्मिकता, उच्चता और सौन्दर्यबोध है, वह कभी ऐसी समाज-व्यवस्था की सराहना नहीं कर सकता, जिसकी नींव लोभ, स्वार्थपरता और दुर्बल मनोवृत्ति पर खड़ी हो। ईश्वर ने तुम्हें विद्या और कला की संपत्ति दी है, तो उसका सर्वश्रेष्ठ उपयोग यही है कि उसे जन-समाज की सेवा में

लगाओ, यह नहीं कि उससे जन-समाज पर हुकूमत चलाओ, उसका खून चूसो और उसे उल्लू बनाओ।

धन्य है वह सभ्यता, जो मालदारी और व्यक्तिगत संपत्ति का अन्त कर रही है, और जल्दी या देर से दुनिया उसका पदानुसरण अवश्य करेगी। यह सभ्यता अमुक देश की समाज-रचना अथवा धर्म-मज़हब से मेल नहीं खाती या उस वातावरण के अनुकूल नहीं है — यह तर्क नितान्त असंगत है। ईसाई मज़हब का पौधा यरूशलम में उगा और सारी दुनिया उसके सौरभ से बस गई। बौद्ध-धर्म ने उत्तर-भारत में जन्म ग्रहण किया और आधी दुनिया ने उसे गुरुदक्षिणा दी। मानव-स्वभाव अखिल विश्व में एक ही है। छोटी-मोटी बातों में अन्तर हो सकता है; पर मूलस्वरूप की दृष्टि से सम्पूर्ण मानव जाति में कोई भेद नहीं। जो शासन-विधान और समाज-व्यवस्था एक देश के लिए कल्याणकारी है, वह दूसरे देशों के लिए भी हितकर होगी। हाँ, महाजनी सभ्यता और उसके गुर्गे अपनी शक्ति भर उसका विरोध करेंगे, उसके बारे में भ्रमजनक बातों का प्रचार करेंगे, जन-साधारण को बहकावेंगे, उनकी आँखों में धूल झोंकेंगे; पर जो सत्य है एक न एक दिन उसकी विजय होगी और अवश्य होगी।

●

मंगलसूत्र

१

बड़े बेटे संतकुमार को वकील बनाकर, छोटे बेटे साधुकुमार को बी० ए० की डिग्री दिलाकर और छोटी लड़की पंकजा के विवाह के लिए स्त्री के हाथों में पाँच हजार रुपए नकद रखकर देवकुमार ने समझ लिया कि वह जीवन के कर्त्तव्य से मुक्त हो गये और जीवन में जो कुछ शेष रहा है, उसे ईश्वरचिन्तन के अर्पण कर सकते हैं। आज चाहे कोई उन पर अपनी जायदाद को भोग-विलास में उड़ा देने का इलजाम लगाये, चाहे साहित्य के अनुष्ठान में; लेकिन इससे कोई इनकार नहीं कर सकता कि उनकी आत्मा विशाल थी। यह असंभव था कि कोई उनसे मदद माँगे और निराश हो। भोग-विलास जवानी का नशा था और जीवन भर वह उस क्षति की पूर्ति करते रहे, लेकिन साहित्य-सेवा के सिवा उन्हें और किसी काम में रुचि न हुई और यहाँ धन कहाँ? — हाँ, यश मिला और उनके आत्मसंतोष के लिए इतना काफी था। संचय में उनका विश्वास भी न था। संभव है, परिस्थिति ने इस विश्वास को दृढ़ किया हो, लेकिन उन्हें कभी संचय न कर सकने का दुःख नहीं हुआ। सम्मान के साथ अपना निबाह होता जाय इससे ज्यादा वह और कुछ न चाहते थे। साहित्य-रसिकों में जो एक अकड़ होती है, चाहे उसे शेखी ही क्यों न कह लो, वह उनमें भी थी। कितने ही रईस और राजे इच्छुक थे कि वह उनके दरबार में जायँ, अपनी रचनाएँ सुनायें, उनको भेंट करें, लेकिन देवकुमार ने आत्म-सम्मान को कभी हाथ से न जाने दिया। किसी ने बुलाया भी तो धन्यवाद देकर टाल गये। इतना ही नहीं, वह यह भी चाहते थे कि राजे और रईस मेरे द्वार पर आयें, मेरी खुशामद करें, जो अनहोनी बात थी। अपने कई मन्दबुद्धि सहपाठियों को वकालत या दूसरे सीगों में धन के ढेर लगाते, जायदादें खरीदते, नये-नये मकान बनवाते देखकर कभी-कभी उन्हें अपनी दशा पर खेद होता था, विशेषकर

जब उनकी जन्मसंगिनी शैव्या गृहस्थी की चिन्ताओं से जलकर उन्हें कटु वचन सुनाने लगती थी, पर अपनी रचना-कुटीर में कलम हाथ में लेकर बैठते ही वह सब कुछ भूल साहित्य-स्वर्ग में पहुँच जाते थे। आत्म-गौरव जाग उठता था। सारा अवसाद और विषाद शान्त हो जाता था।

मगर इधर कुछ दिनों से साहित्य-रचना में उनका अनुराग कुछ ठंढा होता जाता था। उन्हें कुछ ऐसा जान पड़ने लगा था कि साहित्य-प्रेमियों को उनसे वह पहले की सी भक्ति नहीं रही। इधर उन्होंने जो दो पुस्तकें बड़े परिश्रम से लिखी थीं और जिनमें उन्होंने अपने जीवन के सारे अनुभव और कला की सारी प्रौढ़ता भर दी थी उनका कुछ विशेष आदर न हुआ था। इसके पहले उनकी जो रचनाएँ निकली थीं, उन्होंने साहित्य-संसार में हलचल मचा दी थी। हर एक पत्र में उन पुस्तकों की विस्तृत आलोचनाएँ हुई थीं, साहित्य-संस्थाओं ने उन्हें बधाइयाँ दी थीं, साहित्य-मर्मज्ञों ने गुणग्राहकता से भरे पत्र लिखे थे। यद्यपि उन रचनाओं का देवकुमार की नजर में अब उतना आदर न था, उनके भाव उन्हें भावुकता के दोष से पूर्ण लगते थे, शैली में भी कृत्रिमता और भारीपन था पर जनता की दृष्टि में वही रचनाएँ अब भी सर्वप्रिय थीं। इन नयी कृतियों से बिना बुलाये मेहमान का सा आदर किया गया, मानो साहित्य-संसार संगठित होकर उनका अनादर कर रहा हो। कुछ तो यों भी उनकी इच्छा विश्राम करने की हो रही थी इस शीतलता ने उस विचार को और दृढ़ कर दिया। उनके दो-चार सच्चे साहित्यिक मित्रों ने इस तर्क से उनको ठाढ़स देने की चेष्टा की कि बड़ी भूख में मामूली भोजन भी जितना प्रिय लगता है, भूख कम हो जाने पर उससे कहीं रुचिकर पदार्थ भी उतने प्रिद नहीं लगते, पर इससे उन्हें आश्वासन न हुआ। उनके विचार में किसी साहित्यकार की सजीवता का यही प्रमाण था कि उसकी रचनाओं की भूख जनता में बराबर बनी रहे। जब वह भूख न रहे तो उसको क्षेत्र से प्रस्थान कर जाना चाहिए। उन्हें केवल पंकजा के विवाह की चिन्ता थी और जब उन्हें एक प्रकाशक ने उनकी पिछली दोनों कृतियों के पाँच हजार दे दिये तो उन्होंने इसे ईश्वरीय प्रेरणा समझा और लेखनी उठाकर सदैव के लिए रख दी। मगर इन छः महीनों में उन्हें बार-बार अनुभव हुआ कि उन्होंने वानप्रस्थ ले कर भी अपने को बन्धनों से न छुड़ा पाया। शैव्या के दुराग्रह की तो उन्हें कुछ ऐसी परवाह न थी। वह उन देवियों में थी जिनका मन संसार से कभी नहीं छूटता। उसे अब भी अपने परिवार पर शासन करने की लालसा बनी हुई थी। और जब तक हाथ में पैसे भी न हों, उसकी यह लालसा पूरी न हो सकती थी। जब-देवकुमार अपने चालीस वर्ष के विवाहित जीवन में उसकी तृष्णा न मिटा सके तो अब उसका प्रयत्न करना वह पानी पीटने से कम व्यर्थ न समझते थे। दुख उन्हें होता था संतकुमार के विचार और व्यवहार पर जो घर की सम्पत्ति लुटा देने के लिए इस दशा में भी क्षमा न करना चाहता था। वह संपत्ति जो पचास साल

पूर्व दस हजार में फेंक दी गई, आज होती तो उससे दस हजार साल की निकासी हो सकती थी। उनकी जिस आराजी में दिन को सियार लोटते थे वहाँ अब नगर का सब से गुलजार बाजार था जिसकी जमीन सौ रुपए वर्ग फुट पर बिक रही थी। सन्त कुमार का महत्वाकांक्षी मन रह रह कर अपने पिता पर कुढ़ता रहता था। पिता और पुत्र के स्वभाव में इतना अंतर कैसे हो गया यह रहस्य था। देवकुमार के पास जरूरत से हमेशा कम रहा, पर उनके हाथ सदैव खुले रहे। उनका सौन्दर्य भावना से जागा हुआ मन कभी कंचन की उपासना को जीवन लक्ष्य न बना सका। यह नहीं कि वह धन का मूल्य जानते न हों। मगर उनके मन में यह धारणा जम गई थी कि जिस राष्ट्र में तीन चौथाई प्राणी भूखों मरते हों वहाँ किसी एक को बहुत सा धन कमाने का कोई नैतिक अधिकार नहीं है, चाहे इसकी उसमें सामर्थ्य हो। मगर संतकुमार की लिप्सा ऐसे नैतिक आदर्शों पर हँसती थी। कभी-कभी तो निस्संकोच हो कर वह यहाँ तक कह जाता था कि जब 'आपको साहित्य से प्रेम था तो गृहस्थ बनने का क्या हक था। आपने अपना जीवन तो चौपट किया ही, हमारा जीवन भी मिट्टी में मिला दिया। और अब आप वानप्रस्थ लेकर बैठे हैं, मानों आपके जीवन के सारे ऋण चुक गये।'

जाड़ों के दिन थे। आठ बज गये थे। सारा घर नाश्ते के लिए जमा हो गया था। पंकजा तख्त पर चाय और मंतरे और सूखे मेवे तश्तरियों में रख दोनों भाइयों को उनके कमरों से बुलाने गई और एक क्षण में आकर साधुकुमार आकर बैठ गया। ऊँचे कद का, सुगठित, रूपवान्, गोरा, मीठे वचन बोलनेवाला, सौम्य युवक था जिसे केवल खाने और सैर-सपाटे से मतलब था। जो कुछ जुट जाय भरपेट खा लेता था और यार-दोस्तों में निकल जाता था।

शैव्या ने पूछा — संतू कहाँ रह गया ? चाय ठंढी हो जायगी तो कहेगा यह तो पानी है। बुला ले तो साधु, इसे जैसे खाने-पीने की भी छुट्टी नहीं मिलती।

साधु सिर झुकाकर रह गया। संतकुमार से बोलते उसकी जान निकलती थी।

शैव्या ने एक क्षण बाद फिर कहा — उसे भी क्यों नहीं बुला लेता ?

साधु ने दबी जबान से कहा — नहीं, बिगड़ जायँगे सबेरे-सबेरे तो मेरा सारा दिन खराब हो जायगा।

इतने में संतकुमार भी आ गया। शक्ल-सूरत में छोटे भाई से मिलता-जुलता, केवल शरीर का गठन उतना अच्छा न था। हाँ, मुख पर तेज और गर्व की झलक थी, और मुख पर एक शिकायत-सी बैठी हुई थी, जैसे कोई चीज उसे पसन्द न आती हो।

तख्त पर बैठकर चाय मुँह से लगाई और नाक सिकोड़कर बोले — तू क्यों नहीं आती पंकजा ? और पुष्पा कहाँ है ? मैं कितनी बार कह चुका कि नाश्ता खाना पीना सब का एक साथ होना चाहिए।

शैव्या ने आँखें तरेरकर कहा — तुम लोग खा लो, यह सब पीछे खा लेंगी। पंगत थोड़ी है कि सब एक साथ बैठें।

सन्तकुमार ने एक घूंट चाय पीकर कहा — वही पुराना ढचर। कितनी बार कह चुका कि उस पुराने लचर संकोच का जमाना नहीं रहा।

शैव्या ने मुंह बनाकर कहा — सब एक साथ तो बैठें लेकिन पकाये कौन और परसे कौन? एक महाराज रक्खो पकाने के लिए, दूसरा परसने के लिए, तब वह ठाट निभेगा।

'तो महात्माजी उसका इंतजाम क्यों नहीं करते या वानप्रस्थ लेना ही जानते हैं!'

'उनको जो कुछ करना था कर चुके। अब तुम्हें जो कुछ करना हो तुम करो।'

'जब पुरुषार्थ नहीं था तो हम लोगों को पढ़ाया-लिखाया क्यों? किसी देहात में ले जाकर छोड़ देते। हम अपनी खेती करते या मजूरी करते और पड़े रहते। यह खटराग ही क्यों पाला?'

'तुम उस वक्त न थे, सलाह किससे पूछते?'

सन्तकुमार ने कड़वा मुंह बनाये चाय पी, कुछ मेवे खाये, फिर साधुकुमार से बोले — तुम्हारी टीम कब बम्बई जा रही है जी?

साधुकुमार ने गरदन झुकाये त्रस्तस्वर में कहा — परसों!

'तुमने नया सूट बनवाया?'

'मेरा पुराना सूट अभी अच्छी तरह काम दे सकता है।'

'काम तो सूट के न रहने से भी चल सकता है। हम लोग तो नंगे पाँव, धोती चढ़ाकर खेला करते थे। मगर जब एक आल इंडिया टीम में खेलने जा रहे हो तो वैसा ठाट भी तो होना चाहिए। फटेहालों जाने से तो कहीं अच्छा है न जाना। जब वहाँ लोग जानेंगे कि तुम महात्मा देवकुमार जी के सुपुत्र हो तो दिल में क्या कहेंगे?'

साधुकुमार ने कुछ जवाब न दिया। चुपचाप नाश्ता करके चला गया। वह अपने पिता की माली हालत जानता था और उन्हें संकट में न डालना चाहता था। अगर सन्तकुमार नये सूट की जरूरत समझते हैं तो बनवा क्यों नहीं देते? पिता के ऊपर भार डालने के लिए उसे क्यों मजबूर करते हैं?

साधु चला गया तो शैव्या ने आहत कंठ से कहा — जब उन्होंने साफ-साफ कह दिया कि अब मेरा घर से कोई वास्ता नहीं और सब कुछ तुम्हारे ऊपर छोड़ दिया तो तुम क्यों उन पर गृहस्ती का भार डालते हो? अपने सामर्थ्य और बुद्धि के अनुसार जैसे हो सका उन्होंने अपनी उम्र काट दी। जो कुछ वह नहीं कर सके या उनसे जो चूकें हुईं उन पर फिकरे कसना तुम्हारे मुँह से अच्छा नहीं लगता। अगर तुमने इस

तरह उन्हें सताया तो मुझे डर है वह घर छोड़कर कहीं अंतर्धान न हो जायँ। वह धन न कमा सकें, पर इतना तो तुम जानते ही हो कि वह जहाँ भी जायँगे लोग उन्हें सिर और आँखों पर लेंगे।

शैव्या ने अब तक सदैव पति की भर्त्सना ही की थी। इस वक्त उसे उनकी वकालत करते देखकर संतकुमार मुस्करा पड़ा।

बोला — अगर उन्होंने ऐसा इरादा किया तो उठने से पहले मैं अंतर्धान हो जाऊँगा। मैं यह भार अपने सिर नहीं ले सकता। उन्हें इसको सँभालने में मेरी मदद करनी होगी। उन्हें अपनी कमाई लुटाने का पूरा हक था, लेकिन बापदादों की जायदाद को लुटाने का उन्हें कोई अधिकार न था। इसका उन्हें प्रायश्चित करना पड़ेगा। वह जायदाद हमें वापस करनी होगी। मैं खुद भी कुछ कानून जानता हूँ। वकीलों, मैजिस्ट्रेटों से भी सलाह कर चुका हूँ। जायदाद वापस ली जा सकती है। अब मुझे यही देखना है कि इन्हें अपनी संतान प्यारी है या अपना महात्मापन।

यह कहता हुआ संतकुमार पंकजा से पान ले कर अपने कमरे में चला गया।

२

संतकुमार की स्त्री पुष्पा बिल्कुल फूल-सी है, सुन्दर, नाजुक, हलकी-फुल्की, लजाधुर, लेकिन एक नंबर की आत्माभिमानी है। एक-एक बात के लिए कई-कई दिन रूठी रह सकती है। और उसका रूठना भी सर्वथा नई डिज़ाइन का है। वह किसी से कुछ कहती नहीं, लड़ती नहीं, बिगड़ती नहीं, घर का सब काम-काज उसी तन्मयता से करती है बल्कि और ज्यादा एकाग्रता से। बस जिससे नाराज होती है उसकी ओर ताकती नहीं। वह जो कुछ कहेगा, वह करेगी, वह जो कुछ पूछेगा, जवाब देगी, वह जो कुछ माँगेगा उठाकर दे देगी, मगर बिना उसकी ओर ताके हुए। इधर कई दिन से संत कुमार से नाराज हो गई है और अपनी फिरी हुई आँखों से उसके सारे आघातों का सामना कर रही है।

संतकुमार ने स्नेह के साथ कहा — आज शाम को चलना है न?

पुष्पा ने सिर नीचा करके कहा — जैसी तुम्हारी इच्छा।

'चलोगी न?'

'तुम कहते हो तो क्यों न चलूँगी?'

'तुम्हारी क्या इच्छा है?'

'मेरी कोई इच्छा नहीं है।'

'आखिर किस बात पर नाराज हो?'

'किसी बात पर नहीं।'

'खैर, न बोलो, लेकिन वह समस्या यों चुप्पी साधने से हल न होगी।'

पुष्पा के इस निरीह अस्त्र ने संतकुमार को बौखला डाला था। वह खूब झगड़ाकर उस विवाद को शांत कर देना चाहता था। क्षमा माँगने पर तैयार था, वैसी बात अब फिर मुँह से न निकालेगा, लेकिन उसने जो कुछ कहा था वह उसे चिढ़ाने के लिए नहीं, एक यथार्थ बात को पुष्ट करने के लिए ही कहा था। उसने कहा था जो स्त्री पुरुष पर अवलंबित है, उसे पुरुष की कुतूहल माननी पड़ेगी। वह मानता था कि उस अवसर पर यह बात उसे मुँह से न निकालनी चाहिए थी। अगर कहना आवश्यक भी होता तो मुलायम शब्दों में कहना था, लेकिन जब एक औरत अपने अधिकारों के लिए पुरुष से लड़ती है, उसकी बराबरी का दावा करती है तो उसे कठोर बातें सुनने के लिए तैयार रहना चाहिए। इस वक्त भी वह इसीलिए आया था कि पुष्पा को कायल करे और समझाये कि मुँह फेर लेने से ही किसी बात का निर्णय नहीं हो सकता। वह इस मैदान को जीत कर यहाँ एक झंडा गाड़ देना चाहता था जिसमें इस विषय पर कभी विवाद न हो सके। तब से कितनी ही नई-नई युक्तियाँ उसके मन में आ गई थीं, मगर जब शत्रु किले के बाहर निकले ही नहीं तो उस पर हमला कैसे किया जाय।

एक उपाय है। शत्रु को बहलाकर, उस पर अपने संधि-प्रेम का विश्वास जमाकर, किले से निकालना होगा।

उसने पुष्पा की ठुड्डी पकड़कर अपनी ओर फेरते हुए कहा — अगर यह बात तुम्हें इतनी लग रही है तो मैं उसे वापस लिये लेता हूँ। उसके लिए तुमसे क्षमा माँगता हूँ। तुम को ईश्वर ने वह शक्ति दी है कि तुम मुझसे दस-पाँच दिन बिना बोले रह सकती हो, लेकिन मुझे तो उसने वह शक्ति नहीं दी। तुम रूठ जाती हो तो जैसे मेरी नाड़ियों में रक्त का प्रवाह बंद हो जाता है। अगर वह शक्ति तुम मुझे भी प्रदान कर सको तो मेरी और तुम्हारी बराबर की लड़ाई होगी और मैं तुम्हें छेड़ने न आऊँगा। लेकिन अगर ऐसा नहीं कर सकतीं तो इस अस्त्र का मुझ पर वार न करो।

पुष्पा मुसकरा पड़ी। उसने अपने अस्त्र से पति को परास्त कर दिया था। जब वह दीन बन कर उससे क्षमा माँग रहा है तो उसका हृदय क्यों न पिघल जाय।

संधि-पत्र पर हस्ताक्षर स्वरूप पान का एक बीड़ा लगा कर संतकुमार को देती हुई बोली — अब से कभी वह बात मुँह से न निकालना। अगर मैं तुम्हारी आश्रिता हूँ तो तुम भी मेरे आश्रित हो। मैं तुम्हारे घर में जितना काम करती हूँ, इतना ही काम दूसरों के घर में करूँ तो अपना निबाह कर सकती हूँ या नहीं, बोलो।

संतकुमार ने कड़ा जबाव देने की इच्छा को रोककर कहा — बहुत अच्छी तरह।

'तब मैं जो कुछ कमाऊँगी वह मेरा होगा। यहाँ मैं चाहे प्राण भी दे दूँ पर मेरा किसी चीज़ पर अधिकार नहीं। तुम जब चाहो मुझे घर से निकाल सकते हो।'

'कहती जाओ, मगर उसका जवाब सुनने के लिए तैयार रहो।'

'तुम्हारे पास कोई जवाब नहीं है, केवल हठ धर्म है। तुम कहोगे यहाँ तुम्हारा जो सम्मान है वह वहाँ न रहेगा, वहाँ कोई तुम्हारी रक्षा करनेवाला न होगा, कोई तुम्हारे दुख-दर्द में साथ देनेवाला न होगा। इसी तरह की और भी कितनी ही दलीलें तुम दे सकते हो। मगर मैंने मिस बटलर को आजीवन क्वाँरी रह कर, सम्मान के साथ ज़िंदगी काटते देखा है। उनका निजी जीवन कैसा था, यह मैं नहीं जानती। संभव है वह हिन्दू गृहिणी के आदर्श के अनुकूल न रहा हो, मगर उनकी इज्जत सभी करते थे, और उन्हें अपनी रक्षा के लिए किसी पुरुष का आश्रय लेने की कभी जरूरत नहीं हुई।'

संतकुमार मिस बटलर को जानता था। वह नगर की प्रसिद्ध लेडी डाक्टर थी। पुष्पा के घर से उसका घराव-सा हो गया था। पुष्पा के पिता डाक्टर थे और एक पेशे के व्यक्तियों में कुछ घनिष्ठता हो ही जाती है। पुष्पा ने जो समस्या उसके सामने रख दी थी उस पर मीठे और निरीह शब्दों में कुछ कहना उसके लिए कठिन हो रहा था। और चुप रहना उसकी पुरुषता के लिए उससे भी कठिन था।

दुबधे में पड़ कर बोला — मगर सभी स्त्रियाँ मिस बटलर तो नहीं हो सकतीं ?

पुष्पा ने आवेश के साथ कहा — क्यों ? अगर वह डाक्टरी पढ़ कर अपना व्यवसाय कर सकती है तो मैं क्यों नहीं कर सकती ?

'उनके समाज में और हमारे समाज में बड़ा अंतर है।'

'अर्थात् उनके समाज के पुरुष शिष्ट हैं, शीलवान हैं, और हमारे समाज के पुरुष चरित्रहीन हैं, लम्पट हैं, विशेषकर जो पढ़े-लिखे हैं।'

'यह क्यों नहीं कहतीं कि उस समाज में नारियों में आत्मबल है, अपनी रक्षा करने की शक्ति है और पुरुषों को काबू में रखने की कला है।'

'हम भी तो वही आत्मबल और शक्ति और कला प्राप्त करना चाहती हैं लेकिन तुम लोगों के मारे जब कुछ चलने पावे। मर्यादा और आदर्श और जाने किन-किन बहानों से हमें दबाने की और हमारे ऊपर अपनी हुकूमत जमाये रखने की कोशिश करते रहते हो।'

संतकुमार ने देखा कि बहस फिर उसी मार्ग पर चल पड़ी है जो अंत में पुष्पा को असहयोग धारण करने पर तैयार कर देता है, और इस समय वह उसे नाराज करने नहीं, उसे खुश करने आया था।

बोला — अच्छा साहब सारा दोष पुरुषों का है, अब राजी हुईं। पुरुष भी हुकूमत करते-करते थक गया है, और अब कुछ दिन विश्राम करना चाहता है। तुम्हारे अधीन रहकर अगर वह इस संघर्ष से बच जाय तो वह अपना सिंहासन छोड़ने को तैयार है।

पुष्पा ने मुसकराकर कहा — अच्छा, आज से घर में बैठो।

'बड़े शौक से बैठूंगा, मेरे लिए अच्छे-अच्छे कपड़े, अच्छी-अच्छी सवारियाँ ला दो। जैसे तुम कहोगी वैसा ही करूँगा। तुम्हारी मरजी के खिलाफ एक शब्द भी न बोलूंगा।'

'फिर तो न कहोगे कि स्त्री पुरुष की मुहताज है, इसलिए उसे पुरुष की गुलामी करनी चाहिए?'

'कभी नहीं, मगर एक शर्त पर —'

'कौन-सी शर्त?'

'तुम्हारे प्रेम पर मेरा ही अधिकार रहेगा।'

'स्त्रियाँ तो पुरुषों से ऐसी शर्त कभी न मनवा सकीं?'

'यह उनकी दुर्बलता थी। ईश्वर ने तो उन्हें पुरुषों पर शासन करने के लिए सभी अस्त्र दे दिये थे।'

संधि हो जाने पर भी पुष्पा का मन आश्वस्त न हुआ। संतकुमार का स्वभाव वह जानती थी। स्त्री पर शासन करने का जो संस्कार है वह इतनी जल्द किसे बदल सकता है। ऊपर की बातों में संतकुमार उसे अपने बराबर का स्थान देते थे। लेकिन इसमें एक प्रकार का एहसान छिपा होता था। महत्व की बातों में वह लगाम अपने हाथ में रखते थे। ऐसा आदमी यकायक अपना अधिकार त्यागने पर तैयार हो जाय, इसमें कोई रहस्य अवश्य है।

बोली — नारियों ने उन शस्त्रों से अपनी रक्षा नहीं की, पुरुषों ही की रक्षा करती रहीं। यहाँ तक कि उनमें अपनी रक्षा करने की सामर्थ्य ही नहीं रही।

संतकुमार ने मुग्ध भाव से कहा — यही भाव मेरे मन में कई बार आया है पुष्पा, और इसमें कोई सन्देह नहीं कि अगर स्त्री ने पुरुष की रक्षा न की होती तो आज दुनिया वीरान हो गई होती। उसका सारा जीवन तप और साधना का जीवन है।

तब उसने उससे अपने मंसूबे कह सुनाये। वह उन महात्माओं से अपनी मौरूसी जायदाद वापस लेना चाहता है, अगर पुष्पा अपने पिता से जिक्र करे और दस हजार रुपए भी दिला दे तो संतकुमार को दो लाख की जायदाद मिल सकती है। सिर्फ दस हजार। इतने रुपये के बगैर उसके हाथ से दो लाख की जायदाद निकली जाती है।

पुष्पा ने कहा — मगर वह जायदाद तो बिक चुकी है।

संतकुमार ने सिर हिलाया — बिक नहीं चुकी है लुट चुकी है। जो जमीन लाख-दो-लाख में भी सस्ती है, वह दस हजार में कूड़ा हो गई। कोई भी समझदार आदमी ऐसा गच्चा नहीं खा सकता और अगर खा जाय तो वह अपने होश-हवास में नहीं है। दादा गृहस्ती में कुशल नहीं रहे। वह तो कल्पनाओं की दुनिया में रहते थे। बदमाशों ने उन्हें चकमा दिया और जायदाद निकलवा दी। मेरा धर्म है कि मैं वह जायदाद वापस लूं, और तुम चाहो तो सब कुछ हो सकता है। डाक्टर साहब के

लिए दस हजार का इंतजाम कर देना कोई कठिन बात नहीं है।

पुष्पा एक मिनिट तक विचार में डूबी रही। फिर संदेहभाव से बोली — मुझे तो आशा नहीं कि दादा के पास इतने रुपए फालतू हों।

'जरा कहो तो।'

'कहूँ कैसे — क्या मैं उनका हाल जानती नहीं? उनकी डाक्टरी अच्छी चलती है, पर उनके खर्च भी तो हैं। बीरू के लिए हर महीने पाँच सौ रुपए इंगलैंड भेजने पड़ते हैं। तिलोत्तमा की पढ़ाई का खर्च भी कुछ कम नहीं। संचय करने की उनकी आदत नहीं है। मैं उन्हें संकट में नहीं डालना चाहती।'

'मैं उधार माँगता हूँ। खैरात नहीं।'

'जहाँ इतना घनिष्ठ संबंध है वहाँ उधार के माने खैरात के सिवा और कुछ नहीं। तुम रुपए न दे सके तो वह तुम्हारा क्या बना लेंगे? अदालत जा नहीं सकते, पंचायत कर नहीं सकते, लोग ताने देंगे।'

संतकुमार ने तीखेपन से कहा — तुमने यह कैसे समझ लिया कि मैं रुपए न दे सकूंगा? दुनिया हँसेगी।

पुष्पा मुँह फेर कर बोली — तुम्हारी जीत होना निश्चित नहीं है। और जीत भी हो जाय और तुम्हारे हाथ में रुपए आ भी जायँ तो यहाँ कितने जमींदार ऐसे हैं जो अपने कर्ज चुका सकते हों। रोज ही तो रियासतें कोर्ट आफ वार्ड में आया करती हैं। यह भी मान लें कि तुम किफायत से रहोगे और धन जमा कर लोगे, लेकिन आदमी का स्वभाव है कि वह जिस रुपए को हजम कर सकता है उसे हजम कर जाता है। धर्म और नीति को भूल जाना उसकी एक आम कमजोरी है।

संत ने पुष्पा को कड़ी आँखों से देखा। पुष्पा के कहने में जो सत्य था वह तीर की तरह निशाने पर जा बैठा। उसके मन में जो चोर छिपा बैठा था उसे पुष्पा ने पकड़कर सामने खड़ा कर दिया था। तिलमिलाकर बोला — आदमी को तुम इतना नीच समझती हो, तुम्हारी इस मनोवृत्ति पर मुझे अचरज भी है और दुख भी। इस गये गुजरे जमाने में भी समाज पर धर्म और नीति का ही शासन है। जिस दिन संसार से धर्म और नीति का नाश हो जायगा उसी दिन समाज का अंत हो जायगा।

उसने धर्म और नीति की व्यापकता पर एक लम्बा दार्शनिक व्याख्यान दे डाला। कभी किसी घर में कोई चोरी हो जाती है तो कितनी हलचल मच जाती है। क्यों? इसी लिए कि चोरी एक गैर मामूली बात है। अगर समाज चोरों का होता तो किसी का साह होना उतनी ही हलचल पैदा करता। रोगों की आज बहुत बढ़ती सुनने में आती है, लेकिन गौर से देखो तो सौ में एक आदमी से ज्यादा बीमार न होगा। अगर बीमारी आम बात होती तो तंदुरुस्तों की नुमाइश होती। आदि। पुष्पा विरक्त सी सुनती रही। उसके पास जवाब तो थे, पर वह इस बहस को तूल नहीं देना

चाहती थी। उसने तय कर लिया था कि वह अपने पिता से रुपये के लिए न कहेगी और न किसी तर्क या प्रमाण का उस पर कोई असर हो सकता था।

संतकुमार ने भाषण समाप्त करके जब उससे कोई जवाब न पाया तो एक क्षण के बाद बोला — क्या सोच रही हो ? मैं तुमसे सच कहता है, मैं बहुत जल्द रुपए दे दूँगा।

पुष्पा ने निश्चल भाव से कहा — तुम्हें कहना हो जाकर खुद कहो, मैं तो नहीं लिख सकती।

संतकुमार ने होंठ चबाकर कहा — जरा सी-बात तुम से नहीं लिखी जाती, उस पर दावा यह है कि घर पर मेरा भी अधिकार है।

पुष्पा ने जोश के साथ कहा — मेरा अधिकार तो उसी क्षण हो गया जब मेरी गाँठ तुम से बँधी।

संतकुमार ने गर्व के साथ कहा — ऐसा अधिकार जितनी आसानी से मिल जाता है उतनी आसानी से छिन भी जाता है।

पुष्पा को जैसे किसी ने धक्का देकर उस विचार धारा में डाल दिया जिसमें पाँव रखते उसे डर लगता था। उसने यहाँ आने के एक-दो महीने के बाद ही संत कुमार का स्वभाव पहचान लिया था। उनके साथ निबाह करने के लिए उसे उनके इशारों की लौंडी बन कर रहना पड़ेगा। उसे अपने व्यक्तित्व को उनके अस्तित्व में मिला देना पड़ेगा। वह वही सोचेगी जो वह सोचेंगे, वही करेगी, जो वह करेंगे। अपनी आत्मा के विकास के लिए वहाँ कोई अवसर न था। उनके लिए लोक या परलोक में जो कुछ था वह सम्पत्ति थी। यहीं से उनके जीवन की प्रेरणा मिलती थी। सम्पत्ति के मुकाबले में स्त्री या पुत्र की भी उनकी निगाह में कोई हकीकत न थी। एक चीनी का प्लेट पुष्पा के हाथ से टूट जाने पर उन्होंने उसके कान ऐंठ लिये थे। फर्श पर स्याही गिरा देने की सजा उन्होंने पंकजा से सारा फर्श धुलवा कर दी थी। पुष्पा उनके रखे रुपयों को कभी हाथ तक न लगाती थी। यह ठीक है कि वह धन को महज जमा करने की चीज न समझते थे। धन, भोग करने की वस्तु है, उनका यह सिद्धान्त था। फजूलखर्ची या लापरवाही बर्दाश्त न करते थे। उन्हें अपने सिवा किसी पर विश्वास न था। पुष्पा ने कठोर आत्मसमर्पण के साथ इस जीवन के लिए अपने को तैयार कर लिया था। पर बार-बार यह याद दिलाया जाना कि यहाँ उसका कोई अधिकार नहीं है, यहाँ वह केवल एक लौंडी की तरह है उसे असह्य था। अभी उस दिन इसी तरह की एक बात सुन कर उसने कई दिन खाना-पीना छोड़ दिया था। और आज तक उसने किसी तरह मन को समझाकर शांत किया था कि यह दूसरा आघात हुआ। इसने उसके रहे-सहे धैर्य का भी गला घोंट दिया। संतकुमार तो उसे यह चुनौती देकर चले गये। वह वहीं बैठी सोचने लगी अब उसको क्या करना चाहिए। इस दशा

में तो वह अब नहीं रह सकती। वह जानती थी कि पिता के घर में भी उसके लिए शान्ति नहीं है। डाक्टर साहब भी संतकुमार को आदर्श युवक समझते थे और उन्हें इस बात का विश्वास दिलाना कठिन था कि संतकुमार की ओर से कोई बेजा हरकत हुई है। पुष्पा का विवाह करके उन्होंने जीवन की एक समस्या हल कर ली थी। उस पर फिर विचार करना उनके लिए असूझ था। उनकी जिंदगी की सबसे बड़ी अभिलाषा थी कि अब कहीं निश्चिंत होकर दुनिया की सैर करें। यह समय अब निकट आता जाता था। ज्यों ही लड़का इंगलैंड से लौटा और छोटी लड़की की शादी हुई कि वह दुनिया के बन्धन से मुक्त हो जायँगे। पुष्पा फिर उनके सिर पड़ कर उनके जीवन के सब से बड़े अर्मान में बाधा न डालना चाहती थी। फिर उसके लिए दूसरा कौन स्थान है? कोई नहीं। तो क्या इस घर में रहकर जीवन पर्यन्त अपमान सहते रहना पड़ेगा?

साधुकुमार आ कर बैठ गया। पुष्पा ने चौंक कर पूछा — तुम बम्बई कब जा रहे हो?

साधु ने हिचकिचाते हुए कहा — जाना तो था कल लेकिन मेरी जाने की इच्छा नहीं होती। आने-जाने में सैकड़ों का खर्च है। घर में रुपए नहीं हैं, मैं किसी को सताना नहीं चाहता। बम्बई जाने की ऐसी जरूरत ही क्या है। जिस मुल्क में दस में नौ आदमी रोटियों को तरसते हों, वहाँ दस-बीस आदमियों का क्रिकिट के व्यसन में पड़े रहना मूर्खता है। मैं तो नहीं जाना चाहता।

पुष्पा ने उत्तेजित किया — तुम्हारे भाई साहब तो रुपए दे रहे हैं?

साधु ने मुस्किराकर कहा — भाई साहब रुपए नहीं दे रहे हैं, मुझे दादा का गला दबाने को कह रहे हैं। मैं दादा को कष्ट नहीं देना चाहता। भाई साहब से कहना मत भाभी, तुम्हारे हाथ जोड़ता हूँ।

पुष्पा उसकी इस नम्र सरलता पर हँस पड़ी। बाईस साल का गर्वीला युवक जिसने सत्याग्रह-संग्राम में पढ़ना छोड़ दिया, दो बार जेल हो आया, जेलर के कटु वचन सुन कर उसकी छाती पर सवार हो गया और इस उद्दण्डता की सजा में तीन महीने काल कोठरी में रहा, वह अपने भाई से इतना डरता है, मानो वह हौवा हों। बोली — मैं तो कह दूँगी।

'तुम नहीं कह सकतीं। इतनी निर्दय नहीं हो।'

पुष्पा प्रसन्न होकर बोली — कैसे जानते हो?

'चेहरे से।'

'झूठे हो।'

'तो फिर इतना और कहे देता हूँ कि आज भाई साहब ने तुम्हें भी कुछ कहा है।'

पुष्पा झेंपती हुई बोली — बिल्कुल गलत। वह भला मुझे क्या कहते?

'अच्छा मेरे सिर की कसम खाओ।'

'कसम क्यों खाऊँ ? तुमने मुझे कभी कसम खाते देखा है ?'

'भैया ने कुछ कहा है जरूर, नहीं तुम्हारा मुँह इतना उतरा हुआ क्यों रहता ? भाई साहब से कहने की हिम्मत नहीं पड़ती वरना समझाता आप क्यों गड़े मुर्दे उखाड़ रहे हैं। जो जायदाद बिक गई उसके लिए अब दादा को कोसना और अदालत करना मुझे तो कुछ नहीं जँचता। गरीब लोग भी तो दुनिया में हैं ही, या सब मालदार ही हैं। मैं तुम से ईमान से कहता हूँ भाभी मैं जब कभी धनी होने की कल्पना करता हूँ तो मुझे शंका होने लगती है कि न जाने मेरा मन क्या हो जाय। इतने गरीबों में धनी होना मुझे तो स्वार्थान्धिता-सी लगती है। मुझे तो इस दशा में भी अपने ऊपर लज्जा आती है, जब देखता हूँ कि मेरे ही जैसे लोग ठोकरें खा रहे हैं। हम तो दोनों वक्त चुपड़ी हुई रोटियाँ और दूध और सेब-संतरे उड़ाते हैं। मगर सौ में निन्नानबे आदमी तो ऐसे भौं हैं जिन्हें इन पदार्थों के दर्शन भी नहीं होते। आखिर हम में क्या सुर्खाब के पर लग गये हैं ?

पुष्पा इन विचारों को न होने पर भी साधु की निष्कपट सच्चाई का आदर करती थी। बोली — तुम इतना पढ़ते तो नहीं, ये विचार तुम्हारे दिमाग में कहाँ से आ जाते हैं ?

साधु ने उठ कर कहा — शायद उस जन्म में भिखारी था।

पुष्पा ने उसका हाथ पकड़ कर बैठाते हुए कहा — मेरी देवरानी बेचारी गहने-कपड़े को तरस जायगी।

'मैं अपना ब्याह ही न करूँगा।'

'मन में तो मना रहे होगे कहीं से संदेसा आये।'

'नहीं भाभी, तुम से झूठ नहीं कहता। शादी का तो मुझे ख्याल भी नहीं आता। जिन्दगी इसी के लिए है कि किसी के काम आये। जहाँ सेवकों की इतनी जरूरत है वहाँ कुछ लोगों को तो क्वाँरे रहना ही चाहिए। कभी शादी करूँगा भी तो ऐसी लड़की से जो मेरे साथ गरीबी की जिन्दगी बसर करने पर राजी हो और जो मेरे जीवन को सच्ची सहगामिनी बने।'

पुष्पा ने इस प्रतिज्ञा को भी हँसी में उड़ा दिया — पहले सभी युवक इसी तरह की कल्पना किया करते हैं। लेकिन शादी में देर हुई तो उपद्रव मचाना शुरू कर देते हैं।

साधुकुमार ने जोश के साथ कहा — मैं उन युवकों में नहीं हूँ भाभी।

पुष्पा ने फिर कटाक्ष किया — तुम्हारे मन में तो बीबी (पंकजा) बसी हुई है।

'तुम से कोई बात कहो तो तुम बनाने लगती हो, इसी से मैं तुम्हारे पास नहीं आता।''

'अच्छा सच कहना पंकजा जैसी बीवी पाओ तो विवाह करो या नहीं ?'

साधुकुमार उठ कर चला गया। पुष्पा रोकती रही पर वह हाथ छुड़ाकर भाग गया। इस आदर्शवादी, सरलप्रकृति, सुशील, सौम्य युवक से मिलकर पुष्पा का मुरझाया हुआ मन खिल उठता था। वह भीतर से जितनी भारी थी, बाहर से उतनी ही हल्की थी। संतकुमार से तो उसे अपने अधिकारों की प्रतिक्षण रक्षा करनी पड़ती थी, चौकन्ना रहना पड़ता था कि न जाने कब उसका वार हो जाय। शैव्या सदैव उस पर शासन करना चाहती थी, और एक क्षण भी न भूलती थी कि वह घर की स्वामिनी है, और हरेक आदमी को उसका यह अधिकार स्वीकार करना चाहिए। देवकुमार ने सारा भार संतकुमार पर डालकर वास्तव में शैव्या की गद्दी छीन ली थी। वह यह भूल जाती थी कि देवकुमार के स्वामी रहने पर ही वह घर की स्वामिनी रही। अब वह माने की देवी थी जो केवल अपने अशीर्वादों के बल पर ही पुज सकती है। मन का यह संदेह मिटाने के लिए वह सदैव अपने अधिकारों की परीक्षा लेती रहती थी। यह चोर किसी बीमारी की तरह उसके अन्दर जड़ पकड़ चुका था और असली भोजन को न पचा सकने के कारण उसकी प्रकृति चटोरी होती जाती थी। पुष्पा उनसे बोलते डरती थी, उनके पास जाने का साहस न होता था। रही पंकजा उसे काम करने का रोग था। उसका काम ही उसका विनोद, मनोरंजन सब कुछ था। शिकायत करना उसने सीखा ही न था। बिल्कुल देवकुमार का-सा स्वभाव पाया था। कोई चार बात कह दे सिर झुकाकर सुन लेगी। मन में किसी तरह का द्वेष या मलाल न आने देगी। सबेरे से दस-ग्यारह बजे रात तक उसे दम मारने की मोहलत न थी। अगर किसी के कुरते के बटन टूट जाते हैं तो पंकजा टाँकेगी। किसी के कपड़े कहाँ रखे हैं यह रहस्य पंकजा के सिवा और कोई न जानता था। और इतना काम करने पर भी वह पढ़ने और बेल-बूटे बनाने का समय भी न जाने कैसे निकाल लेती थी। घर में जितने तकिए थे सबों पर पंकजा की कलाप्रियता के चिह्न अंकित थे। मेजों के मेजपोश, कुरसियों के गद्दे, संदूकों के गिलाफ सब उसकी कला कृतियों से रंजित थे। रेशम और मखमल के तरह-तरह के पक्षियों और फूलों के चित्र बनाकर उसने फ्रेम बना लिये थे जो दीवानखाने की शोभा बढ़ा रहे थे। और उसे गाने-बजाने का शौक भी था। सितार बजा लेती थी, और हारमोनियम तो उसके लिए खेल था। हाँ, किसी के सामने गाते-बजाते शरमाती थी। इसके साथ ही वह स्कूल भी जाती थी और उसका शुमार अच्छी लड़कियों में था। १५) महीना उसे वजीफा मिलता था। उसके पास इतनी फुर्सत न थी कि पुष्पा के पास घड़ी-दो-घड़ी के लिए आ बैठे और हँसी मजाक करे। उसे हँसी मजाक आता भी न था। न मजाक समझती थी, न उसका जवाब देती थी। पुष्पा को अपने जीवन का भार हल्का करने के लिए साधु ही मिल जाता। पति ने तो उल्टे उस पर और अपना बोझ ही लाद दिया था।

साधु चला गया तो पुष्पा फिर उसी ख्याल में डूबी — कैसे अपना बोझ उठाये?

इसी लिए तो पतिदेव उस पर यह रोब जमाते हैं। जानते हैं कि इसे चाहे जितना सताओ, कहीं जा नहीं सकती, कुछ बोल नहीं सकती। हाँ उनका ख्याल ठीक है। उसे विशाल वस्तुओं से रुचि है। वह अच्छा खाना चाहती है, आराम से रहना चाहती है। एक बार वह विलास का मोह त्याग दे और त्याग करना सीख ले, फिर उस पर कौन रोब जमा सकेगा फिर वह क्यों किसी से दबेगी।

शाम हो गई थी। पुष्पा खिड़की के सामने खड़ी बाहर की ओर देख रही थी ? उसने देखा बीस-पच्चीस लड़कियों और स्त्रियों का एक दल एक स्वर से एक गीत गाता चला जा रहा था। किसी की देह पर साबित कपड़े तक न थे। सिर और मुंह में गर्द जमी हुई थी। बाल रूखे हो रहे थे जिनमें शायद महीनों से तेल न पड़ा हो। यह मजूरनी थीं जो दिन भर ईंट और गारा ढो कर घर लौट रही थीं। सारे दिन उन्हें धूप में तपना पड़ा होगा, मालिक की घुड़कियाँ और गालियाँ खानी पड़ी होंगी। शायद दोपहर को एक-एक मुट्ठी चबेना खाकर रह गई हों। फिर भी कितनी प्रसन्न थीं; कितनी स्वतन्त्र। इनकी इस प्रसन्नता का, इस स्वतन्त्रता का क्या रहस्य है ?

३

मि० सिन्हा उन आदमियों में हैं जिनका आदर इस लिए होता है कि लोग उनसे डरते हैं। उन्हें देखकर सभी आदमी 'आइए, आइए' करते हैं लेकिन उनके पीठ फेरते ही कहते हैं — बड़ा ही मूजी आदमी है, इसके काटे का मन्त्र नहीं। उनका पेशा है मुकदमे बनाना। जैसे कवि एक कल्पना पर पूरा काव्य लिख डालता है, उसी तरह सिन्हा साहब भी कल्पना पर मुकदमों की सृष्टि कर डालते हैं। न जाने यह कवि क्यों नहीं हुए ? मगर कवि होकर वह साहित्य की चाहे जितनी वृद्धि कर सकते, अपना कुछ उपकार न कर सकते। कानून की उपासना करके उन्हें सभी सिद्धियाँ मिल गई थीं। शानदार बँगले में रहते थे, बड़े-बड़े रईसों और हुक्काम से दोस्ताना था, प्रतिष्ठा भी थी, रोब भी था। कलम में ऐसा जादू था कि मुकदमे में जान डाल देते हैं। ऐसे-ऐसे प्रसंग सोच निकालते, ऐसे-ऐसे चरित्रों की रचना करते कि कल्पना सजीव हो जाती थी। बड़े-बड़े घाघ जन भी उसकी तह तक न पहुँच सकते। सब कुछ इतना स्वाभाविक; इतना संबद्ध होता था कि उस पर मिथ्या का भ्रम तक न हो सकता था। वह संतकुमार के साथ के पढ़े हुए थे। दोनों में गहरी दोस्ती थी। संतकुमार के मन में एक भावना उठी और सिन्हा ने उसमें रंगरूप भर कर जीता जागता पुतला खड़ा कर दिया और आज मुकदमा दायर करने का निश्चय किया जा रहा है।

नौ बजे होंगे। वकील और मुवक्किल कचहरी जाने की तैयारी कर रहे हैं। सिन्हा अपने सजे कमरे में मेज पर टाँग फैलाये लेटे हुए हैं। गोरे-चिट्टे आदमी,

ऊँचा कद; एकहरा बदन, बड़े-बड़े बाल पीछे को कंघी ऐंचे हुए, मूंछे साफ, आँखों पर ऐनक, ओठों पर सिगार, चेहरे पर प्रतिभा का प्रकाश, आँखों में अभिमान, ऐसा जान पड़ता है कोई बड़ा रईस है। संतकुमार नीची अचकन पहने, फेल्ट कैप लगाये कुछ चिन्तित से बैठे हैं।

सिन्हा ने आश्वासन दिया — तुम नाहक डरते हो। मैं कहता हूँ हमारी फतेह है। ऐसी सैकड़ों नजीरें मौजूद हैं जिसमें बेटों पोतों ने बैनामे मंसूख कराये हैं। पक्की शहादत चाहिए और उसे जमा करना बायें हाथ का खेल है।

संतकुमार ने दुविधा में पड़कर कहा — लेकिन फादर को भी तो राजी करना होगा। उनकी इच्छा के बिना तो कुछ न हो सकेगा।

'उन्हें सीधा करना तुम्हारा काम है।'

'लेकिन उनका सीधा होना मुश्किल है।'

'तो उन्हें भी गोली मारो। हम साबित करेंगे कि उनके दिमाग में खलल है।'

'यह साबित करना आसान नहीं है। जिसने बड़ी-बड़ी किताबें लिख डालीं; जो सभ्य समाज का नेता समझा जाता है, जिसकी अक्लमन्दी को सारा शहर मानता है, उसे दीवाना कैसे साबित करोगे ?'

सिन्हा ने विश्वासपूर्ण भाव से कहा — यह सब मैं देख लूंगा। किताब लिखना और बात है, होश-हवास का ठीक रहना और बात। मैं तो कहता हूँ, जितने लेखक हैं, सभी सनकी हैं — पूरे पागल जो महज वाह-वाह के लिए यह पेशा मोल लेते हैं। अगर यह लोग अपने होश में हों तो किताबें न लिख कर दलाली करें, या खोंचे लगावें। यहाँ कुछ तो मेहनत का मुआवजा मिलेगा। पुस्तकें लिखकर तो बदहजमी, उन्निद्र, तपेदिक ही हाथ लगता है! रुपये का जुगाड़ तुम करते जाओ, बाकी सारा काम मुझ पर छोड़ दो। और हाँ आज शाम को क्लब में ज़रूर आना। अभी से कैम्पेन (मुहासरा) शुरू कर देना चाहिए। तिब्बी पर डोरे डालना शुरू करो। यह समझ लो वह सब जज साहब की अकेली लड़की है और उस पर अपना रंग जमा दो तो तुम्हारी गोटी लाल है। सब जज साहब तिब्बी की बात कभी नहीं टाल सकते। मैं यह मरहला करने में तुमसे ज्यादा कुशल हूँ। मगर मैं एक खून के मुआमले में पैरवी कर रहा हूँ और सिविल सर्जन मिस्टर कामत की वह पीले मुँह वाली छोकरी आजकल मेरी प्रेमिका है। सिविल सर्जन मेरी इतनी आवभगत करते हैं कि कुछ न पूछो। उस चुड़ैल से शादी करने पर आज तक कोई राजी न हुआ। इतने मोटे ओंठ हैं और सीना तो जैसे झुका हुआ सायबान हो। फिर भी आपको दावा है कि मुझसे ज्यादा रूपवती संसार में न होगी। औरतों को अपने रूप का घमण्ड कैसे हो जाता है, वह मैं आज तक न समझ सका। जो रूपवान हैं वह घमण्ड करें तो वाजिब है, लेकिन जिसकी सूरत देखकर कै आये, वह कैसे अपने को अप्सरा समझ लेती है। उसके पीछे-पीछे घूमते और आशिकी करते जी तो जलता है, मगर गहरी रकम

हाथ लगने वाली है, कुछ तपस्या तो करनी ही पड़ेगी। तिब्बी तो सचमुच अप्सरा है और चंचल भी। जरा मुश्किल से काबू में आयेगी। अपनी सारी कला खर्च करनी पड़ेगी।

'वह कला मैं खूब सीख चुका हूँ।'

'तो आज शाम को आना क्लब में।'

'जरूर आऊँगा।'

'रुपए का प्रबन्ध भी करना।'

'वह तो करना ही पड़ेगा।'

इस तरह सन्तकुमार और सिन्हा दोनों ने मुहासिरा डालना शुरू किया। सन्तकुमार न लम्पट था, न रसिक; मगर अभिनय करना जानता था। रूपवान भी था, जबान का मीठा भी, दोहरा शरीर, हँसमुख और जहीन चेहरा, गोरा चिट्टा। जब सूट पहनकर छड़ी घुमाता हुआ निकलता तो आँखों में खुब जाता था। टेनिस, ब्रिज आदि फैशनेबल खेलों में निपुण था ही, तिब्बी से राह-रस्म पैदा करने में उसे देर न लगी। तिब्बी यूनिवर्सिटी के पहले साल में थी, बहुत ही तेज, बहुत ही मगरूर, बड़ी हाजिरजवाब। उसे स्वाध्याय का शौक न था, बहुत थोड़ा पढ़ती थी, मगर संसार की गति से वाकिफ थी, और अपनी ऊपरी जानकारी को विद्वत्ता का रूप देना जानती थी। कोई विषय उठाइए, चाहे वह घोर विज्ञान ही क्यों न हो, उस पर भी वह कुछ न कुछ आलोचना कर सकती थी, कोई मौलिक बात कहने का उसे शौक था और प्रांजल भाषा में। मिजाज में नफासत इतनी थी कि सलीके या तमीज की जरा भी कमी उसे असह्य थी। उसके यहाँ कोई नौकर या नौकरानी न ठहरने पाती थी। दूसरों पर कड़ी आलोचना करने में उसे आनन्द आता था, और उसकी निगाह इतनी तेज थी कि किसी स्त्री या पुरुष में जरा भी कुरुचि या भोंडापन देखकर वह भौंओं से या ओठों से अपना मनोभाव प्रकट कर देती थी। महिलाओं के समाज में उसकी निगाह उनके वस्त्राभूषण पर रहती थी और पुरुष-समाज में उनकी मनोवृत्ति की ओर। उसे अपने अद्वितीय रूप-लावण्य का ज्ञान था और वह अच्छे से पहनावे से उसे और भी चमकाती थी। जेवरों से उसे विशेष रुचि न थी, यद्यपि अपने सिंगारदान में उन्हें चमकते देख कर उसे हर्ष होता था। दिन में कितनी ही बार वह नये-नये रूप धरती थी। कभी बैतालियों का भेष धारण कर लेती थी, कभी गुजरियों का, कभी स्कर्ट और मोजे पहन लेती थी। मगर उसके मन में पुरुषों को आकर्षित करने का जरा भी भाव न था। वह स्वयं अपने रूप में मग्न थी।

मगर इसके साथ ही वह सरल न थी और युवकों के मुख से अनुराग-भरी बातें सुन कर वह वैसी ही ठंडी रहती थी। इस व्यापार में साधारण रूप-प्रशंसा के सिवा उसके लिए और कोई महत्व न था। और, युवक किसी तरह का प्रोत्साहन न पाकर निराश हो जाते थे मगर संतकुमार की रसिकता में उसे अन्तर्ज्ञान से कुछ रहस्य; कुछ कुश-

लता का आभास मिला। अन्य युवकों में उसने जो असंयम, जो उग्रता, जो विह्वलता देखी थी उसका यहाँ नाम भी न था। संतकुमार के प्रत्येक व्यवहार में संयम था, विधान था, सचेतता थी। इसलिए वह उनसे सतर्क रहती थी और उनके मनोरहस्यों को पढ़ने की चेष्टा करती थी। संतकुमार का संयम और विचारशीलता ही उसे अपनी जटिलता के कारण अपनी ओर खींचती थी। संतकुमार ने उसके सामने अपने को अनमेल विवाह के एक शिकार के रूप में पेश किया था और उसे उनसे कुछ हमदर्दी हो गई थी। पुष्पा के रंग-रूप की उन्होंने इतनी प्रशंसा की थी जितनी उनको अपने मतलब के लिए जरूरी मालूम हुई, मगर जिसका तिब्बी से कोई मुकाबला न था। उसने केवल पुष्पा के फूहड़पन, बेवकूफी, असहृदयता और निष्ठुरता की शिकायत की थी, और तिब्बी पर इतना प्रभाव जमा लिया था कि वह पुष्पा को देख पाती तो संतकुमार का पक्ष लेकर उससे लड़ती।

एक दिन उसने संतकुमार से कहा — तुम उसे छोड़ क्यों नहीं देते ?

संतकुमार ने हसरत के साथ कहा — छोड़ कैसे दूँ मिस त्रिवेणी, समाज में रहकर समाज के कानून तो मानने ही पड़ेंगे। फिर पुष्पा का इसमें क्या कसूर है। उसने तो अपने आपको नहीं बनाया। ईश्वर ने या संस्कारों ने या परिस्थितियों ने जैसा बनाया वैसी बन गई।

'मुझे ऐसे आदमियों से जरा भी सहानुभूति नहीं जो ढोल को इसलिए पीटें कि वह गले पड़ गई है। मैं चाहती हूँ वह ढोल को गले से निकाल कर किसी खंदक में फेंक दें। मेरा बस चले तो मैं खुद उसे निकाल कर फेंक दूँ।'

संतकुमार ने अपना जादू चलते हुए देखकर मन में प्रसन्न हो कर कहा — लेकिन उसकी क्या हालत होगी, यह तो सोचो।

तिब्बी अधीर होकर बोली — तुम्हें यह सोचने की जरूरत ही क्या है ? अपने घर चली जायगी, या कोई काम करने लगेगी या अपने स्वभाव के किसी आदमी से विवाह कर लेगी।

संतकुमार ने कहकहा मारा — तिब्बी यथार्थ और कल्पना में भेद भी नहीं समझती, कितनी भोली है।

गंभीर उदारता के भाव से बोले — यह बड़ा टेढ़ा सवाल है कुमारी जी ! समाज की नीति कहती है कि चाहे पुष्पा को देखकर रोज मेरा खून ही क्यों न जलता रहे और एक दिन मैं इसी शोक में अपना गला क्यों न काट लूँ, लेकिन उससे कुछ नहीं हो सकता, छोड़ना तो असंभव है। केवल एक ही ऐसा आक्षेप है जिस पर मैं उसे छोड़ सकता हूँ, यानी उसकी बेवफाई। लेकिन पुष्पा में और चाहे जितने दोष हों यह दोष नहीं है।

संध्या हो गई थी। तिब्बी ने नौकर को बुलाकर बाग में गोल चबूतरे पर कुरसियाँ रखने को कहा और बाहर निकल आई। नौकर ने कुरसियाँ निकाल कर रख

दीं, और मानों यह काम समाप्त करके जाने को हुआ।

तिब्बी ने डाँट कर कहा — कुर्सियाँ साफ क्यों नहीं कीं ? देखता नहीं उन पर कितनी गर्द पड़ी हुई है ? मैं तुझसे कितनी बार कह चुकी, तुझे याद ही नहीं रहती। बिना जुर्माना किये तुझे याद न आयेगी।

नौकर ने कुरसियाँ पोंछ-पाँछकर साफ कर दीं और फिर जाने को हुआ।

तिब्बी ने फिर डाँटा — तू बार-बार भागता क्यों है ? मेजें रख दीं ? टी टेबल क्यों नहीं लाया ? चाय क्या तेरे सिर पर पिएँगे ?

उसने बूढ़े नौकर के दोनों कान गर्मा दिये और धक्का देकर बोली — बिल्कुल गावदी है, निरा पोंगा, जैसे दिमाग में गोबर भरा हुआ है।

बूढ़ा नौकर बहुत दिनों का था। स्वामिनी उसे बहुत मानती थी। उनका देहान्त होने के बाद गोकि उसे कोई विशेष प्रलोभन न था, क्योंकि इससे एक-दो रुपया ज्यादा वेतन पर उसे नौकरी मिल सकती थी पर स्वामिनी के प्रति उसे जो श्रद्धा थी वह उसे इस घर से बाँधे हुए थी और यहाँ अनादर और अपमान सब कुछ सहकर भी वह चिपटा हुआ था। सब-जज साहब भी उसे डाँटते रहते थे पर उनके डाँटने का उसे दुख न होता था। वह उम्र में उसके जोड़ के थे। लेकिन त्रिवेणी को तो उसने गोद खेलाया था। अब वही तिब्बी उसे डाँटती थी, और मारती भी थी। इससे उसके शरीर को जितनी चोट लगती थी उससे कहीं ज्यादा उसके आत्माभिमान को लगती थी। उसने केवल दो घरों में नौकरी की थी। दोनों ही घरों में लड़कियाँ भी थीं, बहुएँ भी थीं। सब उसका आदर करती थीं। बहुएँ तो उससे लजाती थीं। अगर उससे कोई बात बिगड़ भी जाती तो मन में रख लेती थीं। उसकी स्वामिनी तो आदर्श महिला थी। उसे कभी कुछ न कहा। बाबूजी कभी कुछ कहते थे तो उसका पक्ष लेकर उनसे लड़ती थी। और यह लड़की बड़े छोटे का जरा लिहाज नहीं करती। लोग कहते हैं पढ़ने से अक्ल आती है। यही है वह अक्ल ! उसके मन में विद्रोह का भाव उठा — क्यों यह अपमान सहे। जो लड़की उसको अपनी लड़की से भी छोटी हो, उसके हाथों क्यों अपनी मूंछें नुचवाये। अवस्था में भी अभिमान होता है जो संचित धन के अभिमान से कम नहीं होता। वह सम्मान और प्रतिष्ठा को अपना अधिकार समझता है, और उसकी जगह अपमान पाकर मर्माहत हो जाता है।

घूरे ने टी टेबल लाकर रख दी, पर आँखों में विद्रोह भरे हुए था।

तिब्बी ने कहा — जाकर बैरा से कह दो, दो प्याले दे जाय।

घूरे चला गया और बैरा को वह हुक्म सुनाकर अपनी एकान्त कुटीर में जाकर खूब रोया। आज स्वामिनी होती तो उसका अनादर क्यों होता !

बैरा ने चाय मेज पर रख दी। तिब्बी ने प्याली संतकुमार को दी और विनोद भाव से बोली — तो अब मालूम हुआ कि औरतें ही पतिव्रता नहीं होतीं, मर्द भी पत्नीव्रत वाले होते हैं।

संतकुमार ने एक घूंट पी कर कहा — कम से कम इसका स्वांग तो करते ही हैं।

'मैं इसे नैतिक दुर्बलता कहती हूँ। जिसे प्यारा कहो, दिल से प्यारा कहो, नहीं प्रकट हो जाय। मैं विवाह को प्रेमबंधन के रूप में देख सकती हूँ, धर्मबंधन या रिवाजबंधन तो मेरे लिए असह्य हो जाय।'

'उस पर भी तो पुरुषों पर आक्षेप किये जाते हैं।'

तिब्बी चौंकी। यह जातिगत प्रश्न हुआ जा रहा है।

अब उसे अपनी जाति का पक्ष लेना पड़ेगा — तो क्या आप मुझसे यह मनवाना चाहते हैं कि सभी पुरुष देवता होते हैं? आप भी जो वफादारी कर रहे हैं वह दिल से नहीं, केवल लोकनिन्दा के भय से। मैं इसे वफादारी नहीं कहती। बिच्छू के डंक तोड़कर आप उसे बिल्कुल निरीह बना सकते हैं, लेकिन इससे बिच्छुओं का जहरीलापन तो नहीं जाता।

संतकुमार ने अपनी हार मानते हुए कहा — अगर मैं भी यही कहूँ कि अधिकतर नारियों का पातिव्रत भी लोकनिंदा भय है तो आप क्या कहेंगी?

तिब्बी ने प्याला मेज पर रखते हुए कहा — मैं इसे कभी न स्वीकार करूँगी।

'क्यों?'

'इसलिए कि मर्दों ने स्त्रियों के लिए और कोई आश्रय छोड़ा ही नहीं। पतिव्रत उनके अंदर इतना कूट-कूटकर भरा गया है कि अब अपना व्यक्तित्व रहा ही नहीं। वह केवल पुरुष के आधार पर जी सकती है। उसका स्वतन्त्र कोई अस्तित्व ही नहीं। बिन ब्याहा पुरुष चैन से खाता है, विहार करता है और मूंछों पर ताव देता है। बिन ब्याही स्त्री रोती है, कलपती है, और अपने को संसार का सबसे अभागा प्राणी समझती है। यह सारा मर्दों का अपराध है। आप भी पुष्पा को नहीं छोड़ रहे हैं, इसीलिए न कि आप पुरुष हैं जो कैदी को आजाद नहीं करना चाहता।

संतकुमार ने कातर स्वर में कहा — आप मेरे साथ बेइंसाफी करती हैं। मैं पुष्पा को इसलिए नहीं छोड़ रहा हूँ कि मैं उसका जीवन नष्ट नहीं करना चाहता। अगर मैं आज उसे छोड़ दूँ तो शायद औरों के साथ आप भी मेरा तिरस्कार करेंगी।

तिब्बी मुसकिराई — मेरी तरफ से आप निश्चिंत रहिए। मगर एक ही क्षण के बाद उसने गंभीर होकर कहा — लेकिन मैं आप की कठिनाइयों का अनुमान कर सकती हूँ।

मुझे आपके मुँह से ये शब्द सुनकर कितना संतोष हुआ। मैं वास्तव में आप की दया का पात्र हूँ और शायद कभी मुझे इसकी जरूरत पड़े।'

'आपके ऊपर मुझे सचमुच दया आती है। क्यों न एक दिन उनसे किसी तरह मेरी मुलाकात करा दीजिए। शायद मैं उन्हें रास्ते पर ला सकूं।'

संतकुमार ने ऐसा लंबा मुंह बनाया जैसे इस प्रस्ताव से उसके मर्म पर चोट लगी है।

'उनका रास्ते पर आना असंभव है मिस त्रिवेणी। वह उलटे आप ही के ऊपर आक्षेप करेगी और आपके विषय में न जाने कैसी दुष्कल्पनाएँ कर बैठेगी। और मेरा तो घर में रहना मुश्किल हो जायगा।'

तिब्बी का साहसिक मन गर्म हो उठा — तब तो मैं उससे जरूर मिलूंगी।

'तो शायद आप यहाँ भी मेरे लिए दरवाजा बंद कर देंगी।'

'ऐसा क्यों ?'

'बहुत मुमकिन है आपकी सहानुभूति पा जाय और आप उसकी हिमायत करने लगें।'

'तो क्या आप चाहते हैं मैं आप को एकतर्फा डिग्री दे दूँ ?'

'मैं केवल आपकी दया और हमदर्दी चाहता हूँ। आपसे अपनी मनोव्यथा कहकर दिल का बोझ हल्का-करना चाहता हूँ। उसे मालूम हो जाय कि मैं आपके यहाँ आता जाता हूँ तो एक नया किस्सा खड़ा कर दे।'

तिब्बी ने सीधे व्यंग किया — तो आप उससे इतना डरते क्यों हैं ? डरना तो मुझे चाहिए।

संतकुमार ने और गहरे में जाकर कहा — मैं आपके लिए डरता हूँ अपने लिए नहीं।

तिब्बी निर्भयता से बोली — जी नहीं, आप मेरे लिए न डरिए।

'मेरे जीते जी, मेरे पीछे, आप पर कोई शुबहा हो यह मैं नहीं देख सकता।'

'आपको मालूम है मुझे भावुकता पसंद नहीं ?'

'यह भावुकता नहीं, मन के सच्चे भाव हैं।'

'मैंने सच्चे भाववाले युवक बहुत कम देखे।'

'दुनिया में सभी तरह के लोग होते हैं।'

'अधिकतर शिकारी किस्म के। स्त्रियों में तो वेश्याएँ ही शिकारी होती हैं, पुरुषों में तो सिरे से सभी शिकारी होते हैं।'

'जी नहीं, उनमें अपवाद भी बहुत हैं।'

'स्त्री रूप नहीं देखती। पुरुष जब गिरेगा रूप पर। इसी लिए उस पर भरोसा नहीं किया जा सकता। मेरे यहाँ कितने ही रूप के उपासक आते हैं। शायद इस वक्त भी कोई साहब आ रहे हों। मैं रूपवती हूँ, इसमें नम्रता का कोई प्रश्न नहीं। मगर मैं नहीं चाहती कोई मुझे केवल रूप के लिए चाहे।'

संतकुमार ने धड़कते हुए मन से कहा — आप उनमें मेरा तो शुमार नहीं करतीं ?

तिब्बी ने तत्परता के साथ कहा — आपको तो मैं अपने चाहने वालों में समझती ही नहीं।

संतकुमार ने माथा झुकाकर कहा — यह मेरा दुर्भाग्य है !

'आप दिल से नहीं कह रहे हैं, मुझे कुछ ऐसा लगता है कि आप का मन नहीं

पाती। आप उन आदमियों में हैं जो हमेशा रहस्य रहते हैं।'

'यही तो मैं आप के विषय में सोचा करता हूँ।'

'मैं रहस्य नहीं हूँ। मैं तो साफ़ कहती हूँ मैं ऐसे मनुष्य की खोज में हूँ, जो मेरे हृदय में सोये हुए प्रेम को जगा दे। हाँ, वह बहुत नीचे गहराई में है, और उसी को मिलेगा जो गहरे पानी में डूबना जानता हो। आपमें मैंने कभी उसके लिए बेचैनी नहीं पाई। मैंने अब तक जीवन का रोशन पहलू ही देखा है। और उससे ऊब गई हूँ अब जीवन का अँधेरा पहलू देखना चाहती हूँ, जहाँ त्याग है, रुदन है, उत्सर्ग है। संभव है उस जीवन से मुझे बहुत जल्दी घृणा हो जाय, लेकिन मेरी आत्मा यह नहीं स्वीकार करना चाहती कि वह किसे ऊँचे ओहदे की गुलामी या कानूनी धोखेधड़ो या व्यापार के नाम से की जाने वाली लूट को अपने जीवन का आधार बनाये। श्रम और त्याग का जीवन ही मुझे तथ्य जान पड़ता है। आज जो समाज और देश की दूषित अवस्था है उससे असहयोग करना मेरे लिए जुनून से कम नहीं है। मैं कभी-कभी अपने ही से घृणा करने लगती हूँ। बाबूजी को एक हजार रुपये अपने छोटे से परिवार के लिए लेने का क्या हक है और मुझे बे काम-धंधे इतने आराम से रहने का क्या अधिकार है? मगर यह सब समझकर भी मुझमें कर्म करने की शक्ति नहीं है। इस भोग-विलास के जीवन ने मुझे भी कर्महीन बना डाला है। और मेरे मिज़ाज में अमीरी कितनी है यह भी आपने देखा होगा। मेरे मुंह से बात निकलते ही अगर पूरी न हो जाय तो में बावली हो जाती हूँ। बुद्धि का मन पर कोई नियंत्रण नहीं है। जैसे शराबी बार-बार हराम कहने पर शराब नहीं छोड़ सकता वही दशा मेरी है। उसी की भाँति मेरी इच्छाशक्ति बेजान हो गई है।'

तिब्बी के प्रतिभावान् मुख-मंडल पर प्रायः चंचलता झलकती रहती थी। उससे दिल की बात कहते संकोच होता था, क्योंकि शंका होती थी कि वह सहानुभूति के साथ सुनने के बदले फबतियाँ कसने लगेगी। पर इस वक्त ऐसा जान पड़ा उसकी आत्मा बोल रही है। उसकी आँखें आर्द्र हो गई थीं। मुख पर एक निश्चिन्त नम्रता और कोमलता खिल उठी थी। संतकुमार ने देखा उसका संयम फिसलता जा रहा है। जैसे किसी सायल ने बहुत देर के बाद दाता को मनगुर देख पाया हो और अपना मतलब कह सुनाने के लिए अधीर हो गया हो।

बोला — कितनी ही बार। बिल्कुल यही मेरे विचार हैं। मैं आपसे उससे बहुत निकट हूँ, जितना समझता था।

तिब्बी प्रसन्न होकर बोली — आपने मुझे कभी बताया नहीं।

'आप भी तो आज ही खुली हैं।'

'मैं डरती हूँ कि लोग यही कहेंगे आप इतनी शान से रहती हैं, और बातें ऐसी करती हैं। अगर कोई ऐसी तरकीब होती जिससे मेरी यह अमीराना आदतें छूट जातीं

तो मैं उसे जरूर काम में लाती। इस विषय की आपके पास कुछ पुस्तकें हों तो मुझे दीजिए। मुझे आप अपनी शिष्या बना लीजिए।'

संतकुमार ने रसिक भाव से कहा — मैं तो आपका शिष्य होने जा रहा था। और उसकी ओर मर्मभरी आँखों से देखा।

तिब्बी ने आँखें नीची नहीं कीं। उनका हाथ पकड़ कर बोली — आप तो दिल्लगी करते हैं। मुझे ऐसा बना दीजिए कि मैं संकटों का सामना कर सकूं। मुझे बार-बार खटकता है अगर मैं स्त्री न होती तो मेरा मन इतना दुर्बल न होता।

और जैसे वह आज संतकुमार से कुछ भी छिपाना, कुछ भी बचाना नहीं चाहती। मानों वह जो आश्रय बहुत दिनों से ढूंढ़ रही थी वह यकायक मिल गया है।

संतकुमार ने रुखाई भरे स्वर में कहा — स्त्रियाँ पुरुषों से ज्यादा दिलेर होती हैं मिस त्रिवेणी!

'अच्छा आपका मन नहीं चाहता कि बस हो तो संसार की सारी व्यवस्था बदल डालें?'

इस विशुद्ध मन से निकले हुए प्रश्न का बनावटी जवाब देते हुए संतकुमार का हृदय काँप उठा।

'कुछ न पूछो। बस आदमी एक आह खींच कर रह जाता है।'

'मैं तो अक्सर रातों को यह प्रश्न सोचते-सोचते सो जाती हूँ और वही स्वप्न देखती हूँ। देखिए दुनियावाले कितने खुदगरज हैं। जिस व्यवस्था से सारे समाज का उद्धार हो सकता है वह थोड़े से आदमियों के स्वार्थ के कारण दबी पड़ी हुई है।'

संतकुमार ने उतरे हुए मुख से कहा — उसका समय आ रहा है। और उठ खड़े हुए। यहाँ की वायु में उनका जैसे दम घुटने लगा था। उनका कपटी मन इस निष्कपट, सरल वातावरण में अपनी अधमता के ज्ञान से दबा जा रहा था जैसे किसी धर्मनिष्ठ मन में अधर्म विचार घुस तो गया हो पर वह कोई आश्रय न पा रहा हो।

तिब्बी ने आग्रह किया — कुछ देर और बैठिए न?

'आज आज्ञा दीजिए, फिर कभी आऊँगा।'

'कब आइएगा?'

'जल्दी ही आऊँगा।'

'काश मैं आपका जीवन सुखी बना सकती।'

संतकुमार बरामदे से कूदकर नीचे उतरे और तेजी से हाते के बाहर चले गये। तिब्बी बरामदे में खड़ी उन्हें अनुरक्त नेत्रों से देखती रही। वह कठोर थी, चंचल थी, दुर्लभ थी, रूपगर्विता थी, चतुर थी, किसी को कुछ समझती न थी, न

कोई उसे प्रेम का स्वांग भरकर ठग सकता था, पर जैसे कितनी ही वेश्याओं में सारी आसक्तियों के बीच में भक्ति-भावना छिपी रहती है, उसी तरह उसके मन में भी सारे अविश्वास के बीच में एक कोमल, सहमा हुआ विश्वास छिपा बैठा था और उसे स्पर्श करने की कला जिसे आती हो वह उसे बेवकूफ बना सकता था। उस कोमल भाग के स्पर्श होते ही वह सीधी-सादी, सरल, विश्वासमयी, कातर बालिका बन जाती थी। आज इत्तफाक से संतकुमार ने वह आसन पा लिया था और अब वह जिस तरफ चाहे उसे ले जा सकता है, मानों वह मेस्मराइज हो। अब संतकुमार में उसे कोई दोष नहीं नजर आता। अभागिनी पुष्पा इस सत्य पुरुष का जीवन कैसा नष्ट किये डालती है। इन्हें तो ऐसी संगिनी चाहिए। जो इन्हें प्रोत्साहित करे, हमेशा इनके पीछे-पीछे रहे। पुष्पा नहीं जानती वह इनके जीवन का राहु बन कर समाज का कितना अनिष्ट कर रही है। और इतने पर भी संतकुमार का उसे गले बाँधे रखना देवत्व से कम नहीं। उनकी वह कौन सी सेवा करे, कैसे उनका जीवन सुखी करे।

४

संतकुमार वहाँ से चले तो उसका हृदय आकाश में था। इतनी जल्द देवी से उन्हें वरदान मिलेगा इसकी उन्होंने आशा न की थी। कुछ तकदीर ने ही जोर मारा नहीं तो युवती अच्छे अच्छों को उँगलियों पर नचाती है, उन पर क्यों इतनी भक्ति करती। अब उन्हें बिलंब न करना चाहिए। कौन जाने कब तिब्बी विरुद्ध हो जाय। और यह दो ही चार मुलाकातों में होने वाला है। तिब्बी उन्हें कार्य-क्षेत्र में आगे बढ़ने की प्रेरणा करेगी और वह पीछे हटेंगे। वहीं मतभेद हो जायगा। वहाँ से वह सीधे मि० सिन्हा के घर पहुँचे। शाम हो गई थी। कुहरा पड़ना शुरू हो गया था। मि० सिन्हा सजे-सजाये कहीं जाने को तैयार खड़े थे। इन्हें देखते ही पूछा —

'किधर से ?'

'वहीं से। आज तो रंग जम गया।'

'सच !'

'हाँ जी। उस पर तो जैसे मैंने जादू की लकड़ी फेर दी हो।'

'फिर क्या, बाजी मार लो है। अपने फादर से आज ही जिक्र छेड़ो।'

'आपको भी मेरे साथ चलना पड़ेगा।'

'हाँ, हाँ मैं तो चलूँगा ही मगर तुम तो बड़े खुशनसीब निकले — यह मिस कामत तो मुझसे सचमुच आशिकी कराना चाहती है। मैं तो स्वांग रचता हूँ और वह समझती है, मैं उसका सच्चा प्रेमी हूँ। जरा आजकल उसे देखो, मारे गरूर के जमीन पर पाँव ही नहीं रखती। मगर एक बात है, औरत समझदार है।

उसे बराबर यह चिंता रहती है मैं उसके हाथ से निकल न जाऊँ, इसलिए मेरी बड़ी खातिरदारी करती है, और बनावसिंगार से कुदरत की कमी जितनी पूरी हो सकती है उतनी करती है। और अगर कोई अच्छी रकम मिल जाय तो शादी कर लेने ही में क्या हरज है।'

संतकुमार को आश्चर्य हुआ — तुम तो उसकी सूरत से बेजार थे।

'हाँ, अब भी हूँ लेकिन रुपये की जो शर्त है। डाक्टर साहब २०-२५ हजार मेरी नजर कर दें, शादी कर लूं। शादी कर लेने में मैं उसके हाथ बिका तो नहीं जाता।'

दूसरे दिनों मित्रों ने देवकुमार के सामने सारे मंसूबे रख दिये। देवकुमार को एक क्षण तक तो अपने कानों पर विश्वास न हुआ। उन्होंने स्वच्छन्द, निर्भीक, निष्कपट जिन्दगी व्यतीत की थी कलाकारों में एक तरह का जो आत्माभिमान होता है, उसने सदैव उनको ढारस दिया था। उन्होंने तकलीफें उठाई थीं, फाके भी किये थे, अपमान सहे थे लेकिन कभी अपनी आत्मा को कलुषित न किया था। जिन्दगी में कभी अदालत के द्वार तक भी नहीं गये। बोले — मुझे खेद होता है कि तुम मुझसे यह प्रस्ताव कैसे कर सके। और इससे ज़्यादा दुःख इस बात का है कि ऐसी कुटिल चाल तुम्हारे मन में आई क्योंकर।

संतकुमार ने निस्संकोच भाव से कहा — जरूरत सब कुछ सिखा देती है। स्वरक्षा प्रकृति का पहला नियम है। वह जायदाद जो आपने बीस हजार में दे दी, आज दो लाख से कम की नहीं है।

'वह दो लाख की नहीं, दस लाख की हो। मेरे लिए वह आत्मा को बेचने का प्रश्न है। मैं थोड़े से रुपये के लिए अपनी आत्मा नहीं बेच सकता।'

दोनों मित्रों ने एक दूसरे की ओर देखा और मुसकराये। कितनी पुरानी दलील है। और कितनी लचर। आत्मा जैसी चीज है कहाँ? और जब सारा संसार धोखे-धड़ी पर चल रहा है तो आत्मा कहाँ रही? अगर सौ रुपये कर्ज देकर एक हजार वसूल करना अधर्म नहीं है, अगर एक लाख नीमजान, फाकेकश मजदूरों की कमाई पर एक सेठ का चैन करना अधर्म नहीं है तो एक पुरानी कागजी कार्रवाई को रद्द कराने का प्रयत्न क्यों अधर्म हो?

संतकुमार ने तीखे स्वर में कहा — अगर आप इसे आत्मा का बेचना कहते हैं तो बेचना पड़ेगा। इसके सिवा दूसरा उपाय नहीं है। और आप इस दृष्टि से इस मामले को देखते ही क्यों हैं? धर्म वह है जिससे समाज का हित हो। अधर्म वह है जिससे समाज का अहित हो। इससे समाज का अहित हो जायगा, यह आप बता सकते हैं?

देवकुमार ने सतर्क होकर कहा — समाज अपनी मर्यादाओं पर टिका है। उन मर्यादाओं को तोड़ दो और समाज का अन्त हो जायगा।

दोनों तरफ से शास्त्रार्थ होने लगे। देवकुमार मर्यादाओं और सिद्धान्तों और धर्मबंधनों की आड़ ले रहे थे, पर इन दोनों नौजवानों की दलीलों के सामने उनकी एक न चलती थी। वह अपनी सुफेद दाढ़ी पर हाथ फेर-फेर कर और खल्वाट सिर खुजा-खुजाकर जो प्रमाण देते थे उसको यह दोनों युवक चुटकी बजाते तून डालते थे, धुनककर उड़ा देते थे।

सिन्हा ने निर्दयता के साथ कहा — बाबूजी, आप न जाने किस जमाने की बातें कर रहे हैं। कानून से हम जितना फायदा उठा सकें, हमें उठाना चाहिए। उन दफों का मंशा ही यह है कि उनसे फायदा उठाया जाय। अभी आपने देखा जमींदारों की जान महाजनों से बचाने के लिए सरकार ने कानून बना दिया है और कितनी मिल्कियतें जमींदारों को वापस मिल गईं। क्या आप इसे अधर्म कहेंगे? व्यावहारिकता का अर्थ यही है कि हम इन कानूनी साधनों से अपना काम निकालें। मुझे कुछ लेना-देना नहीं, न मेरा कोई स्वार्थ है। संतकुमार मेरे मित्र हैं और इसी वास्ते मैं आपसे यह निवेदन कर रहा हूँ। मानें या न मानें, आपको अख्तियार है।

देवकुमार ने लाचार होकर कहा — तो आखिर तुम लोग मुझे क्या करने को कहते हो?

'कुछ नहीं, केवल इतना ही कि हम जो कुछ करें आप उसके विरुद्ध कोई कार्रवाई न करें।'

'मैं सत्य की हत्या होते नहीं देख सकता।'

संतकुमार ने आँखें निकालकर उत्तेजित स्वर में कहा — तो फिर आपको मेरी हत्या देखनी पड़ेगी।

सिन्हा ने संतकुमार को डाँटा — क्या फिजूल की बातें करते हो संतकुमार! बाबूजी को दो-चार दिन सोचने का मौका दो। तुम अभी किसी बच्चे के बाप नहीं हो। तुम क्या जानो बाप को बेटा कितना प्यारा होता है। वह अभी कितना ही विरोध करें, लेकिन जब नालिश दायर हो जायगी तो देखना वह क्या करते हैं। हमारा दावा यही होगा कि जिस वक्त आपने यह बैनामा लिखा, आपके होश-हवास ठीक न थे और अब भी आपको कभी-कभी जुनून का दौरा हो जाता है। हिन्दुस्तान जैसे गर्म मुल्क में यह मरज बहुतों को होता है, और आपको भी हो गया तो कोई आश्चर्य नहीं। हम सिविल सर्जन से इसकी तसदीक करा देंगे।

देवकुमार ने हिकारत के साथ कहा —मेरे जीते जी यह धाँधली नहीं हो सकती। हर्गिज़ नहीं। मैंने जो कुछ किया सोच समझ कर और परिस्थितियों के दबाव से किया। मुझे उसका बिल्कुल अफसोस नहीं है। अगर तुमने इस तरह को कोई दावा किया तो उसका सब से बड़ा विरोध मेरी ओर से होगा, मैं कहे देता हूँ।

और वह आवेश में आकर कमरे में टहलने लगे।

संतकुमार ने भी खड़े होकर धमकाते हुए कहा — तो मेरा भी आप को चैलेंज है। या तो आप अपने धर्म ही की रक्षा करेंगे या मेरी। आप फिर मेरी सूरत न देखेंगे।

'मुझे अपना धर्म, पत्नी और पुत्र सबसे प्यारा है।'

सिन्हा ने संतकुमार को आदेश किया — तुम आज दर्खास्त दे दो कि आपके होश-हवास में फर्क आ गया और मालूम नहीं आप क्या कर बैठें। आपको हिरासत में ले लिया जाय।

देवकुमार ने मुट्ठी तानकर क्रोध के आवेश में पूछा — मैं पागल हूँ ?

'जी हाँ, आप पागल हैं। आप के होश बजा नहीं हैं। ऐसी बातें पागल ही किया करते हैं। पागल वही नहीं है जो किसी को काटने दौड़े। आम आदमी जो व्यवहार करते हों उसके विरुद्ध व्यवहार करना भी पागलपन है।'

'तुम दोनों खुद पागल हो।'

'इसका फैसला तो डाक्टर करेगा।'

'मैंने बीसों पुस्तकें लिख डालीं, हजारों व्याख्यान दे डाले, यह पागलों का काम है ?'

'जी हाँ, यह पक्के सिरफिरों का काम है। कल ही आप इस घर में रस्सियों से बाँध लिये जायँगे।'

'तुम मेरे घर से निकल जाओ नहीं तो मैं गोली मार दूँगा।'

'बिल्कुल पागलों की सी धमकी। संतकुमार उस दर्खास्त में यह भी लिख देना कि आपकी बंदूक छीन ली जाय, वरना जान का खतरा है।''

और दोनों मित्र उठ खड़े हुए। देवकुमार कभी कानून के जाल में न फँसे थे। प्रकाशकों और बुकसेलरों ने उन्हें बारहा धोखे दिये, मगर उन्होंने कभी कानून की शरण न ली। उनके जीवन की नीति थी — आप भला तो जग भला, और उन्होंने हमेशा इसी नीति का पालन किया था। मगर वह दब्बू या डरपोक न थे। खासकर सिद्धान्त के मुआमले में तो वह समझौता करना जानते ही न थे। वह इस षड्यंत्र में कभी शरीक न होंगे, चाहे इधर की दुनिया उधर हो जाय। मगर क्या यह सब सचमुच उन्हें पागल साबित कर देंगे ? जिस दृढ़ता से सिन्हा ने धमकी दी थी वह उपेक्षा के योग्य न थी। उसकी ध्वनि से ऐसा मालूम होता था कि वह इस तरह के दाँव-पेंच में अभ्यस्त है, और शायद डाक्टरों को मिलाकर सचमुच उन्हें सनकी साबित कर दे। उनका आत्माभिमान गरज उठा — नहीं, वह असत्य शरण न लेंगे चाहे इसके लिए कुछ भी सहना पड़े। डाक्टर भी क्या अंधा है। उनसे कुछ पूछेगा, कुछ बातचीत करेगा या योंही कलम उठाकर उन्हें पागल लिख देगा ! मगर कहीं ऐसा तो नहीं है कि उनके होश-हवास में फ़ितूर पड़ गया हो। हुश ! वह भी इन छोकरों की बातों में आये जाते हैं। उन्हें अपने व्यवहार में कोई

अन्तर नहीं दिखाई देता। उनकी बुद्धि सूर्य के प्रकाश की भाँति निर्मल है। कभी नहीं, वह इन लौंडों के धौंस में न आयेंगे।

लेकिन यह विचार उनके हृदय को मथ रहा था कि संतकुमार की तथा मनोवृत्ति कैसे हो गई। उन्हें अपने पिता की याद आती थी। वह कितने सौम्य, कितने सत्यनिष्ठ थे। उनके ससुर वकील जरूर थे, पर कितने धर्मात्मा पुरुष थे। अकेले कमाते थे और सारी गृहस्थी का पालन करते थे। पाँच भाइयों और उनके बाल-बच्चों का बोझा खूब सँभाले हुए थे। क्या मजाल कि अपने बेटों बेटियों के साथ उन्होंने किसी तरह का पक्षपात किया हो। जब तक बड़े भाई को भोजन न करा लें खुद न खाते थे। ऐसे खानदान में संतकुमार जैसा दगाबाज कहाँ से धँस पड़ा। उन्हें कभी ऐसी कोई बात याद न आती थी जब उन्होंने अपनी नीयत बिगाड़ी हो।

लेकिन यह बदनामी कैसे सही जायगी। वह अपने ही घर में जब जागृति न ला सके तो एक प्रकार से उनका सारा जीवन नष्ट हो गया। जो लोग उनके निकटतम संसर्ग में थे, जब उन्हें वह आदमी न बना सके तो जीवन-पर्यन्त की साहित्य-सेवा से किसका कल्याण हुआ। और जब यह मुकदमा दायर होगा उस वक्त वह किसे मुँह दिखा सकेंगे। उन्होंने धन न कमाया, पर यश तो संचय किया ही। क्या वह भी उनके हाथ से छिन जायगा ? उनको अपने संतोष के लिए इतना भी न मिलेगा ? ऐसी आत्मवेदना उन्हें कभी न हुई थी।

शैव्या से कहकर वह उसे भी क्यों दुखी करें। उनके कोमल हृदय को क्यों चोट पहुँचावें। वह सब कुछ खुद झेल लेंगे। और दुखी होने की बात भी क्यों हो। जीवन तो अनुभूतियों का नाम है। यह भी एक अनुभव होगा। जरा इसकी भी सैर कर लें।

यह भाव आते ही उनका मन हल्का हो गया। घर में जाकर पंकजा से चाय बनाने को कहा।

शैव्या ने पूछा — सन्तकुमार क्या कहता था ?

उन्होंने सहज मुस्कान के साथ कहा — कुछ नहीं, वही पुराना खब्त।

'तुमने तो हामी नहीं भरी न ?'

देवकुमार स्त्री से एकात्मता का अनुभव करके बोले — कभी नहीं।

'न जाने इसके सिर यह भूत कैसे सवार हो गया !'

'सामाजिक संस्कार हैं और क्या ?'

'इसके यह संस्कार क्यों ऐसे हो गये ? साधु भी तो है, पंकजा भी तो है, दुनिया में क्या धर्म ही नहीं ?'

'मगर कसरत ऐसे ही आदमियों की है, यह समझ लो।'

उस दिन से देवकुमार ने सैर करने जाना छोड़ दिया। दिन-रात घर में मुँह छिपाये बैठे रहते। जैसे सारा कलंक उनके माथे पर लगा हो। नगर और प्रान्त के सभी

प्रतिष्ठित, विचारवान् आदमियों से उनका दोस्ताना था, सब उनकी सज्जनता का आदर करते थे। मानो वह मुकदमा दायर होने पर भी शायद कुछ न कहेंगे। लेकिन उनके अन्तर में जैसे चोर-सा बैठा हुआ था। वह अपने अहंकार में अपने को आत्मीयों की भलाई-बुराई का जिम्मेदार समझते थे। पिछले दिनों जब सूर्यग्रहण के अवसर पर साधु कुमार ने बढ़ी हुई नदी में कूदकर एक डूबते हुए आदमी की जान बचाई थी, उस वक्त उन्हें उससे कहीं ज्यादा खुशी हुई थी जितनी खुद सारा यश पाने से होती। उनकी आँखों में आँसू भर आये थे, ऐसा लगा था मानो उनका मस्तक कुछ ऊँचा हो गया है, मानों मुख पर तेज आ गया है। यही लोग जब सन्तकुमार की चितकबरी आलोचना होगी तो वह कैसे सुनेंगे।

इस तरह एक महीना गुजर गया और सन्तकुमार ने मुकदमा दायर न किया। उधर सिविल सर्जन को गाँठना था, इधर मि० मलिक को। शहदतें भी तैयार करनी थीं। इन्हीं तैयारियों में सारा दिन गुजर जाता था। और रुपये का इन्तजाम भी करना ही था। देवकुमार सहयोग करते तो यह सबसे बड़ी बाधा हट जाती। पर उनके विरोध ने समस्या को और जटिल कर दिया था। सन्तकुमार कभी-कभी निराश हो जाता। कुछ समझ में न आता क्या करे? दोनों मित्र देवकुमार पर दाँत पीस-पीस कर रह जाते।

सन्तकुमार कहता — जी चाहता है इन्हें गोली मार दूँ। मैं इन्हें अपना बाप नहीं, शत्रु समझता हूँ।

सिन्हा समझाता — मेरे दिल में तो भई, उनकी इज्जत होती है। अपने स्वार्थ के लिए आदमी नीचे से नीचा काम कर बैठता है, पर त्यागियों और सत्यवादियों का आदर तो दिल में होता ही है। न जाने तुम्हें उन पर कैसे गुस्सा आता है। जो व्यक्ति सत्य के लिए बड़े से बड़ा कष्ट सहने को तैयार हो वह पूजने के लायक है।

'ऐसी बातों से मेरा जी न जलाओ। सिन्हा! तुम चाहते तो वह हजरत अब तक पागलखाने में होते। मैं न जानता था तुम इतने भावुक हो।'

'उन्हें पागलखाने भेजना इतना आसान नहीं जितना तुम समझते हो। और इसकी कोई जरूरत भी तो नहीं। हम यह साबित करना चाहते हैं कि जिस वक्त बैनामा हुआ वह अपने होश-हवास में न थे। इसके लिए शहादतों की जरूरत है। वह अब भी उसी दशा में हैं इसे साबित करने के लिए डाक्टर चाहिए और मि० कामत भी यह लिखने का साहस नहीं रखते।

पं० देवकुमार को धमकियों से झुकाना तो असम्भव था मगर तर्क के सामने उनकी गर्दन आप ही आप झुक जाती थी। इन दिनों वह यही पहेली सोचते रहते थे कि संसार की कुव्यवस्था क्यों? कर्म और संस्कार लेकर वह कहीं न पहुँच पाते थे। सर्वात्मवाद से भी उनकी गुत्थी न सुलझती थी। अगर सारा विश्व एकात्म है तो फिर यह भेद क्यों है? क्यों एक आदमी जिंदगी भर बड़ी से बड़ी मेहनत करके

भी भूखों मरता है, और दूसरा आदमी हाथ पाँव न हिलाने पर भी फूलों की सेज पर सोता है। यह सर्वात्म है या घोर अनात्म ! बुद्धि जवाब देती — यहाँ सभी स्वाधीन हैं, सभी को अपनी शक्ति और साधना के हिसाब से उन्नति करने का अवसर है। मगर शंका पूछती — सब को समान अवसर कहाँ है ? बाजार लगा हुआ है। जो चाहे वहाँ से अपनी इच्छा की चीज खरीद सकता है। मगर खरीदेगा तो वही जिसके पास पैसे हैं। और जब सब के पास पैसे नहीं हैं तो सब का बराबर का अधिकार कैसे माना जाय। इस तरह का आत्ममंथन उनके जीवन में कभी न हुआ था। उनकी साहित्यिक बुद्धि ऐसी व्यवस्था से सन्तुष्ट तो हो ही न सकती थी, पर उनके सामने ऐसी कोई गुत्थी न पड़ी थी जो इस प्रश्न को वैयक्तिक अंत तक ले जाती। इस वक्त उनकी दशा उस आदमी की सी थी जो रोज मार्ग में ईंटें पड़ी देखता है और बचाकर निकल जाता है। रात में कितने लोगों को ठोकर लगती होगी, कितनों के हाथ-पैर टूटते होंगे, इसका ध्यान उसे नहीं आता। मगर एक दिन जब वह खुद रात को ठोकर खाकर अपने घुटने फोड़ लेता है तो उसकी निवारण-शक्ति हठ करने लगती है और वह उस सारे ढेर को मार्ग से हटाने पर तैयार हो जाता है। देवकुमार को वही ठोकर लगी थी। कहाँ है न्याय ? कहाँ ? एक गरीब आदमी किसी खेत से बालें नोचकर खा लेता है, कानून उसे सजा देता है। दूसरा अमीर आदमी दिन-दहाड़े दूसरों को लूटता है और उसे पदवी मिलती है, सम्मान मिलता है। कुछ आदमी तरह-तरह के हथियार बाँध कर आते हैं हैं और निरीह, दुर्बल मजदूरों पर आतंक जमाकर अपना गुलाम बना लेते हैं। लगान और टैक्स और महसूल और कितने ही नामों से उसे लूटना शुरू करते हैं, और आप लंबा-लंबा वेतन उड़ाते हैं, शिकार खेलते हैं, नाचते हैं, रंगरेलियाँ मानते हैं। यही है ईश्वर का रचा हुआ संसार ? यही न्याय है ?

हाँ, देवता हमेशा रहेंगे और हमेशा रहे हैं। उन्हें अब भी संसार धर्म और नीति पर चलता हुआ नजर आता है। वे अपने जीवन की आहुति देकर संसार से विदा हो जाते हैं। लेकिन उन्हें देवता क्यों ? कायर कहो, आत्मसेवी कहो। देवता वह है जो न्याय की रक्षा करे और उसके लिए प्राण दे दे। अगर वह जानकर अनजान बनता है तो धर्म से गिरता है और अगर उसकी आँखों में यह कुव्यवस्था खटकती ही नहीं तो वह अंधा भी है और मूर्ख भी, देवता किसी तरह नहीं। और यहाँ देवता बनने की जरूरत भी नहीं। देवताओं ने ही भाग्य और ईश्वर और भक्ति की मिथ्याएँ फैलाकर इस अनीति को अमर बनाया है। मनुष्य ने अब तक इसका अंत कर दिया होता या समाज का ही अंत कर दिया होता जो इस दशा में जिंदा रहने से कहीं अच्छा होता। नहीं, मनुष्यों में मनुष्य बनना पड़ेगा। दरिन्दों के बीच में, उनसे लड़ने के लिए हथियार बाँधना पड़ेगा। उनके पंजों का शिकार बनना देवतापन नहीं, जड़ता है। आज जो इतने ताल्लुकेदार और राजे हैं वह अपने पूर्वजों की लूट का ही आनंद तो उठा रहे हैं। और क्या उन्होंने वह जायदाद बेच कर पागलपन नहीं किया ? पितरों को

पिंडा देने के लिए गया जाकर पिंडा देना और यहाँ आकर हजारों रुपए खर्च करना क्या जरूरी था ? और रातों को मित्रों के साथ मुजरे सुनना, और नाटक-मंडली खोल कर हजारों रुपए उसमें डुबाना अनिवार्य था ? वह अवश्य पागलपन था। उन्हें क्यों अपने बाल-बच्चों की चिंता नहीं हुई ? अगर उन्हें मुफ्त की सम्पत्ति मिली और उन्होंने उड़ाया तो उनके लड़के क्यों न मुफ्त की सम्पत्ति भोगें ? अगर वह जवानी की उमंगों को नहीं रोक सके तो उनके लड़के क्यों तपस्या करें ?

और अंत में उनकी शंकाओं को इस धारणा से तस्कीन हुई कि इस अनीति भरे संसार में धर्म-अधर्म का विचार गलत है, आत्मघात है और जुआ खेल कर या दूसरों के लोभ और आसक्ति से फायदा उठा कर सम्पत्ति खड़ी करना उतना ही बुरा या अच्छा है जितना कानूनी दाँव-पेंच से। बेशक वह महाजन के बीस हज़ार के क़र्ज़दार हैं। नीति कहती है कि उस जायदाद को बेच कर उसके बीस हजार दे दिये जायँ, बाकी उन्हें मिल जाय। अगर कानून कर्जदारों के साथ इतना न्याय भी नहीं करता तो कर्जदार भी कानून में जितनी खींचतान हो सके करके महाजन से अपनी जायदाद वापस लेने की चेष्टा करने में किसी अधर्म का दोषी नहीं ठहर सकता। इस निष्कर्ष पर उन्होंने शास्त्र और नीति के हरेक पहलू से विचार किया और वह उनके मन में जम गया। अब किसी तरह नहीं हिल सकता। और यद्यपि इससे उनके चिर-संचित संस्कारों को आघात लगता था, पर वह ऐसा प्रसन्न और फूले हुए थे मानों उन्हें कोई नया जीवन मंत्र मिल गया हो।

एक दिन उन्होंने सेठ गिरधर दास के पास जाकर साफ-साफ कह दिया — अगर आप मेरी जायदाद वापस न करेंगे तो मेरे लड़के आपके ऊपर दावा करेंगे।

गिरधर दास नये जमाने के आदमी थे, अंग्रेजी में कुशल कानून में चतुर, राजनीति में भाग लेने वाले, कंपनियों में हिस्से लेते थे और बाज़ार अच्छा देखकर बेच देते थे, एक शक्कर का मिल खुद चलाते थे, सारा कारोबार अंग्रेजी ढंग से करते थे। उनके पिता सेठ मक्कूलाल भी यही सब करते थे, पर पूजा-पाठ, दान दक्षिणा से प्रायश्चित करते रहते। कर्मचारियों का वेतन पहली तारीख को देते थे, मगर बीच में किसी को जरूरत पड़े तो सूद पर रुपए देते थे। मक्कूलाल जी साल-साल भर वेतन न देते थे, पर कर्मचारियों को बराबर पेशगी देते रहते थे। हिसाब होने पर उनको कुछ देने के बदले कुछ मिल जाता था। मक्कूलाल साल में दो-चार बार अफ़सरों को सलाम करने जाते थे, डालियाँ देते थे, जूते उतार कर कमरे में जाते थे और हाथ बाँधे खड़े रहते थे। चलते वक्त आदमियों को दो चार रुपए इनाम दे आते थे। गिरधर दास म्युनिसिपल कमिश्नर थे, सूट-बूट पहन कर अफ-

सरों के पास जाते थे और बराबरी का व्यवहार करते थे, और आदमियों के साथ केवल इतनी रिआयत करते थे कि त्योहारों में त्योहारी दे देते थे, वह भी खूब खुशामद करा के। अपने हकों के लिए लड़ना और आन्दोलन करना जानते थे, मगर उन्हें ठगना असंभव था।

देवकुमार का यह कथन सुनकर चकरा गये। उनकी बड़ी इज्जत करते थे। उनकी कई पुस्तकें पढ़ी थीं, और उनकी रचनाओं का पूरा सेट उसके पुस्तकालय में था। हिन्दी भाषा के प्रेमी थे और नागरी-प्रचार सभा को कई बार अच्छी रकमें दान दे चुके थे। पंडा-पुजारियों के नाम से चिढ़ते थे, दूषित दान प्रथा पर एक पैम्फ़लेट भी छपवाया था। लिबरल विचारों के लिए नगर में उनकी ख्याति थी। मक्कूलाल मारे मोटापे के जगह से हिल न सकते थे, गिरधर दास गठीले आदमी थे और नगर-व्यायामशाला के प्रधान ही न थे, अच्छे शहसवार और निशानेबाज थे।

एक क्षण तो वह देवकुमार के मुँह की ओर देखते रहे। उनका आशय क्या है, वह समझ में ही न आया। फिर ख्याल आया बेचारे आर्थिक संकट में होंगे, इससे बुद्धि भ्रष्ट हो गई है। बेतुकी बातें कर रहे हैं। देवकुमार के मुख पर विजय का गर्व देखकर उनका यह ख़याल और मजबूत हो गया।

सुनहरी ऐनक उतारकर मेज पर रखकर विनोद भाव से बोले — कहिए, घर में सब कुशल तो है?

देवकुमार ने विद्रोह के भाव से कहा — जी हाँ, सब आपकी कृपा है।

'बड़ा लड़का तो वकालत कर रहा है न?'

'जी हाँ।'

'मगर चलती न होगी और आपकी पुस्तकें भी आजकल कम बिकती होंगी। यह देश का दुर्भाग्य है कि आप जैसे सरस्वती के पुत्रों का यह अनादर! आप यूरोप में होते तो आज लाखों के स्वामी होते।'

'आप जानते हैं, मैं लक्ष्मी के उपासकों में नहीं हूँ।'

'धन-संकट में तो होंगे ही। मुझ से जो कुछ सेवा आप कहें, उसके लिए तैयार हूँ। मुझे तो गर्व है कि आप जैसे प्रतिभाशाली पुरुष से मेरा परिचय है। आपकी कुछ सेवा करना मेरे लिए गौरव की बात होगी।'

देवकुमार ऐसे अवसरों पर नम्रता के पुतले बन जाते थे। भक्ति और प्रशंसा देकर कोई उनका सर्वस्व ले सकता था। एक लखपती आदमी और वह भी साहित्य का प्रेमी, जब उनका इतना सम्मान करता है तो उससे जायदाद या लेन-देन की बात करना उन्हें लज्जाजनक मालूम हुआ। बोले — आपकी उदारता है जो मुझे इस योग्य समझते हैं।

'मैंने समझा नहीं आप किस जायदाद की बात रहे थे।'

देवकुमार सकुचाते हुए बोले — अजी वही, जो सेठ मक्कूलाल ने मुझ से लिखाई थी।

'अच्छा तो उसके विषय में कोई नयी बात है।'

उसी मामले में लड़के आप के ऊपर कोई दावा करने वाले हैं। मैंने बहुत समझाया, मगर मानते नहीं। आप के पास इसीलिए आया था कि कुछ ले देकर समझौता कर लीजिए, मामले अदालत में क्यों जाय। नाहक दोनों जेरबार होंगे।'

गिरधर दास का जहीन, मुरौवतदार चेहरा कठोर हो गया। जिन महाजनी नखों को उन्होंने भद्रता की नर्म गद्दी में छिपा रखा था, वहखटका पाते ही पैने और उग्र होकर बाहर निकल आये।

क्रोध को दबाते हुए बोले — आप को मुझे समझाने के लिए यहाँ आने की तकलीफ उठाने की कोई ज़रूरत न थी। उन लड़कों ही को समझाना चाहिए था।

'उन्हें तो मैं समझा चुका।'

'तो जरा शांत बैठिए। मैं अपने हकों के लिए लड़ना चाहता हूँ। अगर उन लोगों के दिमाग में कानून की गर्मी का असर हो गया है तो उसकी दवा मेरे पास है।'

अब देवकुमार की साहित्यिक नम्रता भी अविचलित न रह सकी। जैसे लड़ाई का पैगाम स्वीकार करते हुए बोले — मगर आप को मालूम होना चाहिए वह मिल्कियत आज दो लाख से अधिक, कम की नहीं है।'

'दो लाख नहीं दस लाख की हो, आपसे सरोकार नहीं।

'आपने मुझे बीस हजार ही तो दिये थे।'

आपको इतना कानून तो मालूम ही होगा, हालांकि कभी आप अदालत में नहीं गये, कि जो चीज बिक जाती है वह कानूनन् किसी दाम पर भी वापस नहीं की जाती। अगर इस नये कायदे को मान लिया जाय तो इस शहर में महाजन न नजर आयें।'

कुछ देर तक सवाल-जवाब होता रहा और लड़नेवाले कुत्तों की तरह दोनों भले आदमी गुर्राते, दाँत निकालते, खौंखियाते रहे। आखिर दोनों लड़ ही गये।

गिरधर दास ने प्रचंड होकर कहा — मुझे आप से ऐसी आशा नहीं थी।

देवकुमार ने भी छड़ी उठाकर कहा — मुझे भी न मालूम था कि आपके स्वार्थ का पेट इतना गहरा है।

'आप अपना सर्वनाश करने जा रहे हैं।'

'कुछ परवाह नहीं।'

देवकुमार वहाँ से चले तो माघ की उस अँधेरी रात की निर्दय ठंड में भी उन्हें पसीना हो रहा था। विजय का ऐसा गर्व अपने जीवन में उन्हें कभी न हुआ था।

उन्होंने तर्क में तो बहुतों पर विजय पायी थी। यह विजय थी जीवन में एक नई प्रेरणा, एक शक्ति का उदय।

उसी रात को सिन्हा और संतकुमार ने एक बार फिर देवकुमार पर जोर डालने का निश्चय किया। दोनों आकर खड़े ही थे कि देवकुमार ने प्रोत्साहन भरे हुए भाव से कहा — तुम लोगों ने अभी तक मुआमला दयर नहीं किया। नाहक क्यों देर कर रहे हो ?

संतकुमार के सूखे हुए निराश मन में उल्लास की आँधी-सी आ गई। क्या सचमुच कहीं ईश्वर है जिस पर उसे कभी विश्वास नहीं हुआ। जरूर कोई दैवी शक्ति है। भीख माँगने आये थे; वरदान मिल गया।

बोला — आप ही की अनुमति का इन्तजार था।

'मैं बड़ी खुशी से अनुमति देता हूँ। मेरे आशीर्वाद तुम्हारे साथ हैं।'

उन्होंने गिरधर दास से जो बातें हुईं वह कह सुनाई।

सिन्हा ने नाक फुलाकर कहा — जब आपकी दुआ है तो हमारी फतह है। उन्हें अपने धन का घमंड होगा, मगर यहाँ भी कच्ची गोलियाँ नहीं खेली हैं।

संतकुमार ऐसा खुश था गोया आधी मंजिल तय हो गई। बोला — आपने खूब उचित जवाब दिया।

सिन्हा ने तनी हुई ढोल की सी आवाज में चोट मारी — ऐसे-ऐसे सेठों को उँगलियों पर नचाते हैं यहाँ।

संतकुमार स्वप्न देखने लगे — यहीं हम दोनों के बँगले बनेंगे दोस्त।

'यहाँ क्यों, सिविल लाइन्स में बनवायेंगे।'

'अन्दाज से कितने दिन में फैसला हो जायगा ?'

'छः महीने के अन्दर।'

'बाबू जी के नाम से सरस्वती मंदिर बनवायेंगे।

मगर समस्या थी, रुपए कहाँ से आयें। देवकुमार निस्पृह आदमी थे। धन की कभी उपासना नहीं की। कभी इतना ज्यादा मिला ही नहीं कि संचय करते। किसी महीने में पचास जमा होते तो दूसरे महीने में खर्च हो जाते। अपनी सारी पुस्तकों का कापीराइट बेचकर उन्हें पाँच हजार मिले थे। वह उन्होंने पंकजा के विवाह के लिए रख दिये थे। अब ऐसी कोई सूरत नहीं थी जहाँ से कोई बड़ी रकम मिलती। उन्होंने समझा था संतकुमार घर कर खर्च उठा लेगा और वह कुछ दिन आराम से बैठेंगे या घूमेंगे। लेकिन इतना बड़ा मंसूबा बाँधकर वह अब शान्त कैसे बैठ सकते हैं। उनके भक्तों की काफी तादाद थी। दो चार राजे भी उनके भक्तों में थे जिनकी यह पुरानी लालसा थी कि देवकुमार जी उनके घर को अपने चरणों से पवित्र करें और वह अपनी श्रद्धा उनके चरणों पर अर्पण करें। मगर देवकुमार थे कि कभी किसी दरबार में कदम नहीं रक्खा, अब अपने प्रेमियों और भक्तों से आर्थिक संकट

का रोना रो रहे थे और खुले शब्दों में सहायता की याचना कर रहे थे। वह आत्म-गौरव जैसे किसी कब्र में सो गया हो।

और शीघ्र ही इसका परिणाम निकला। एक भक्त ने प्रस्ताव किया कि देवकुमार जी की साठवीं सालगिरह धूमधाम से मनाई जाय और उन्हें साहित्य-प्रेमियों की ओर से एक थैली भेंट की जाय। क्या यह लज्जा और दुःख की बात नहीं है कि जिस महारथी ने अपने जीवन के चालीस वर्ष साहित्य पर अर्पण कर दिये, वह इस वृद्धावस्था में भी आर्थिक चिन्ताओं से मुक्त न हो? साहित्य यों नहीं फल-फूल सकता। जब तक हम अपने साहित्य-सेवियों का ठोस सत्कार करना न सीखेंगे, साहित्य कभी उन्नति न करेगा और दूसरे समाचारपत्रों ने मुक्त कंठ से इसका समर्थन किया। अचरज की बात यह थी कि वह महानुभाव भी जिनका देवकुमार से पुराना साहित्यिक वैमनस्य था, वे भी इस अवसर पर उदारता का परिचय देने लगे। बात चल पड़ी। एक कमेटी बन गई। एक राजा साहब उसके प्रधान बन गये। मि० सिन्हा ने कभी देवकुमार की कोई पुस्तक न पढ़ी थी, पर वह इस आन्दोलन में प्रमुख भाग लेते थे। मिस कामत और मिस मलिक की ओर से भी समर्थन हो गया। महिलाओं को पुरुषों से पीछे न रहना चाहिए। जेठ में तिथि निश्चित हुई। नगर के इंटरमीडियट कालेज में इस उत्सव की तैयारियाँ होने लगीं।

आखिर वह तिथि आ गई। आज शाम को वह उत्सव होगा। दूर-दूर से साहित्य-प्रेमी आये हैं। सोराँव के कुंवर साहब वह थैली भेंट करेंगे। आशा से ज्यादा सज्जन जमा हो गये हैं। व्याख्यान होंगे, गाना होगा, ड्रामा खेला जायगा, प्रीति भोज होगा, कवि-सम्मेलन होगा। शहर में दीवारों पर पोस्टर लगे हुए हैं। सभ्य-समाज में अच्छी खासी हलचल है। राजा साहब सभापति हैं।

देवकुमार को तमाशा बनने से नफरत थी। पब्लिक जलसों में भी कम आते-जाते थे। लेकिन आज तो बरात का दूल्हा बनना ही पड़ा। ज्यों-ज्यों सभा में जाने का समय समीप आता था उनके मन पर एक तरह का अवसाद छाया जाता था। जिस वक्त थैली उनको भेंट की जायगी और वह हाथ बढ़ाकर लेंगे वह दृश्य कैसा लज्जाजनक होगा। जिसने कभी धन के लिए हाथ नहीं फैलाया वह इस आखिरी वक्त में दूसरों का दान ले? यह दान ही है और कुछ नहीं। एक क्षण के लिए उनका आत्मसम्मान विद्रोही बन गया। इस अवसर पर उनके लिए शोभा तो यही देता है कि वह थैली पाते ही उसी जगह किसी सार्वजनिक संस्था को दे दें। उनके जीवन के आदर्श के लिए यही अनुकूल होगा, लोग उनसे यही आशा रखते हैं, इसी में उनका गौरव भी। पंडाल में पहुँचे तो उनके मुख पर उल्लास की झलक न थी। वह कुछ खिसिआये से लगते थे। नेकनामी की लालसा एक ओर खींचती थी, लोभ दूसरी ओर। मन को कैसे समझायें कि यह दान दान नहीं उनका हक है। लोग हँसेंगे, आखिर पैसे पर टूट पड़ा। उनका जीवन बौद्धिक था, और बुद्धि जो

कुछ करती है नीति पर कसकर करती है। नीति का सहारा मिल जाय तो फिर वह दुनिया की परवाह नहीं करती। वह पहुँचे तो स्वागत हुआ, मंगल-गान हुआ, व्याख्यान होने लगे जिनमें उनकी कीर्ति गाई गई। मगर उनकी दशा उस आदमी की-सी हो रही थी जिसके सिर में दर्द हो रहा हो। उन्हें इस वक्त इस दर्द की दवा चाहिए। कुछ अच्छा नहीं लग रहा है। सभी विद्वान हैं, मगर उनकी आलोचना कितनी उथली, ऊपरी है जैसे कोई उनके संदेशों को समझा ही नहीं, जैसे यह सारी वाह-वाह और सारा यशगान अंध-भक्ति के सिवा और कुछ न था। कोई भी उन्हें नहीं समझा, किस प्रेरणा ने चालीस साल तक उन्हें सँभाले रक्खा, वह कौन सा प्रकाश था जिसकी ज्योति कभी मंद नहीं हुई।

सहसा उन्हें एक आश्रय मिल गया और उनके विचारशील, पीले, मुख पर हल्की-सी सुर्खी दौड़ गई। यह दान नहीं प्राविडेन्ट फंड है जो आज तक उनकी आमदनी से कटता जा रहा है। सरकार की नौकरी में लोग पेन्शन पाते हैं, क्या वह दान है? उन्होंने जनता की सेवा की है, तन मन से की है, इस धुन से की है, जो बड़े से बड़े वेतन से भी न आ सकती थी। पेन्शन लेने में क्यों लाज आये?

राजा साहब ने जब थैली भेंट की तो देवकुमार के मुंह पर गर्व था, हर्ष था, विजय थी।

•